श्रीमन्नित्यनिकुञ्जविहारिणे नमः ।
श्रीस्वामी हरिदासो विजयतेतराम् ॥

रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदासजी महाराज
रचित
जीव शिक्षा सिद्धान्त के अष्टादस पद की टीका

प्रेम-भक्तिरस साधिका



श्री ललित प्रकाशन

वृन्दावन

प्रस्तुत पुस्तक सिद्धान्त के अष्टादस पद की टीका प्रेम-भक्तिरस साधिका

जीव शिक्षा सिद्धान्त के अष्टादस पद रसिक-अनन्य चक्र चूड़ामणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के ऐश्वर्य-माधुर्य रसपूर्ण हृदय सागर के उज्ज्वल रत्नों के कोष हैं। इन्हें समझकर, मननकर, कण्ठहार बनाकर अपने भौतिक और आध्यात्मिक स्वरूप के सौन्दर्य को सँवारा जा सकता है। ये प्रस्तुत ग्रन्थ में हैं।

ये सिद्धान्त के अठारह पद वेद, शास्त्र, पुराण आदि के कर्म, ज्ञान, भक्ति और रसिकता के दूध का सार नवनीत हैं, मानो श्रीमद्भगवद्गीता के अठारह अध्यायों का सार। ये ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और प्रेम से युक्त श्रीमद्भागवत महापुराण रत्नाकर के रत्नों के सार के कोष हैं।

इनकी सरस मधुर टीका प्रेम-भक्तिरस साधिका में वेद, शास्त्र, पुराण और आचार्य महानुभावों के सरस भाव-सिद्धान्तों को उन्हींकी कृपा के आश्रय से विशेषरूप से विस्तृत करके सँवारा गया है। इसका एकमात्र उद्देश्य यही है कि प्रेमी रसिक विज्ञ साधक महानुभावजन श्रीस्वामी जी महाराज के हृदय के गूढ़ आशय को हृदयङ्गम करके प्रेम-भक्ति रससिन्धु में अवगाहन करें। इसीमें जीवन की सार्थकता, कृतकृत्यता है।

॥ श्रीमन्नित्यनिकुञ्जविहारिणे नमः ॥

॥ श्रीस्वामी हरिदासो विजयतेतराम् ॥

रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदासजी महाराज

रचित

जीव शिक्षा सिद्धान्त के अष्टादस पद की टीका

प्रेम-भक्तिरस-साधिका

टीकाकार-सम्पादक

टटियास्थान के परमाचार्य महान्त श्री १००८ श्रीस्वामी

राधाचरणदासजी महाराज के कृपापात्र

बाबा अलबेलीशरण

श्रीललित प्रकाशन

वृन्दावन

प्रकाशक

श्री ललित प्रकाशन

श्री ललित निकुंज

ठाकुर श्रीगोरेलाल जी की कुंज

प्रेम गली, वृन्दावन-२८११२१, फोन न. (०५६५)२४५५००९

प्रकाशन तिथि

श्रावण कृष्णा हरियाली अमावस्या,

सं. २०७१, (२६ जुलाई २०१४)

न्यौछावर— २५१/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान

१. श्री ललित निकुंज

ठाकुर श्री गोरेलाल जी की कुंज,

प्रेम गली, श्री वृन्दावन-२८११२१

२. सर्वेश्वरी इंजीनियर्स

३५५, दीपाली, पीतमपुरा, दिल्ली-११००३४

फोन न. २७०२३७५०, २७०२१४९९

मुद्रक

राधा प्रेस

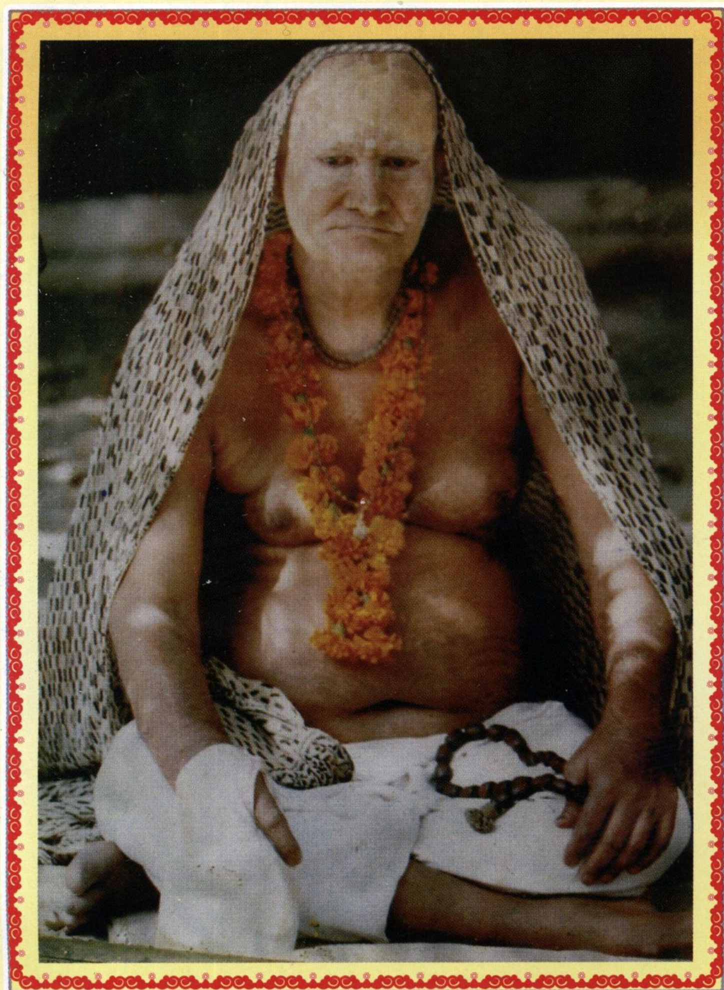
२४६५, मैन रोड, गांधी नगर, दिल्ली-११००३१

फोन न. (०११) २२०८३१०७

प्रेम-भक्ति-रस-साधिका टीका

प्रकरण अनुक्रम





महान्त श्री स्वामी राधाचरणदास जी महाराज



बाबा श्रीअलबेलीशरण जी

॥ श्रीमन्नित्यनिकुञ्जविहारिणे नमः ॥
॥ श्रीस्वामी हरिदासो विजयतेतराम् ॥

भूमिका

त्रिगुणमयी माया से अतीत एवं परम दिव्य भगवदीय विभूति-सम्पन्न समस्त भगवद्धामों से परे, सभी भगवद्धामों के धामी मुकुटमणि महामधुर सारातिसार नित्यविहार रस धाम श्रीवृन्दावन में सरस प्रेम-रस माधुर्य-सौन्दर्यनिधि युगलवर श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि अहर्निश-नित्य-निरन्तर नित्यविहार रसपरायण विराजमान हैं। युगलकिशोर श्यामा-श्याम के प्रेम-रस माधुर्यपूर्ण हृदय के प्रेम-रस की मूर्ति-श्रीललिता जी हैं। ये ही कुंज-निकुंज, यमुना, पुलिन, शुक, पिक, कोयल, मोर, चातक, हंस, भ्रमर, मृग आदि और अनेक सखीवृन्दरूप में श्रीयुगलवर को अनेक रस-भावों से लाड़-लड़ाते हुए नित्यविहाररस में उन्मत्त, निमग्न रखती हैं। ये श्रीललिता जी ही जीवों पर कृपा करने और प्रेम-रस का आस्वादन कराने के लिये धराधाम श्रीवृन्दावनान्तर्गत राजपुर ग्राम में भक्तवर्य श्रीगंगाधर जी के घर चित्रानन्दन हरिदासस्वरूप सों प्रकट हुईं।

श्रीवृन्दावन में श्रीनिधुवन में विराजमान श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी आशुधीरदेव जी महाराज से दीक्षा लेकर आपने निधुवन में अखण्डरूप से वास करते हुए नित्यविहार के भी महामधुर रससार को रसिक-अनन्यजनों के आस्वादन के लिये सर्वप्रथम सहज सुलभ बनाया। यों तो युगलोपासक समस्त सम्प्रदायों में नित्यविहार की भावना और उपासना दृष्टिगोचर होती है, किन्तु उसके विशुद्धतम स्वरूप को प्रदर्शित करनेवाले श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज ही हैं। आप श्रीयुगल श्यामा-श्याम को लाड़-लड़ाते हुए इसी महामधुर रस में अहर्निश छके रहते थे। उनकी सहज विदेहदशा रहती थी। उनके विषय में महानुभावों ने कहा है-

छः

अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास।
ऐसौ रसिक भयौ नहिं ह्वै है भू मंडल आकास॥
देह विदेह भये जीवत ही बिसरे विस्व विलास।
आसू कौ रसिक रस रीति हूँ में रस पीवैं
जगत अनन्यनि की पूरी भई वासना॥

ऐसी आपकी अति रसोन्मत्तदशा होते हुए भी आपने मृदुल करुण स्वभाववश जीवों पर दया करके उपदेश के लिये **जीव शिक्षा सिद्धान्त के अष्टादश पद** प्रकट किये। आचार्यरूप सों विराजमान होते हुए आपने-अपने में जीवभाव का आरोप कर वेद, पुराण, शास्त्रों के गूढ़-रहस्य सिद्धान्तों के अनुरूप आचरण करके भी दिखाया और सरस-मृदुल-सरल भाषा में पद्यरूप में वर्णन कर उपदेश भी दिया।

इन पदों में श्रीस्वामी जी महाराज ने वेद-पुराण-शास्त्रों के सार गूढ़ रहस्य का वर्णन किया है। भगवत्प्राप्ति का साधन एकमात्र भक्ति ही है। भक्ति के नव विध अंगों में नवमी शरणागति भक्ति ही प्रधान है। आत्मनिवेदन (शरणागति) भक्ति अंगी है और अन्य आठ भक्ति के अंग हैं। अंगी सब अंगों से युक्त होता है, सबको लेकर चलता है, सबको लेकर ही शोभा पाता है, किन्तु स्वतन्त्र मुख्यता भी है।

श्रीस्वामी जी महाराज ने प्रथम पद में आत्मशरणागति का ही उपदेश दिया कि जीव तन-से, मन-से सर्वथा श्रीहरि के अधीन है। शरणागत को ऐसा अनुभव करते हुए भी फड़फड़ाते हुए पिंजड़ा में बद्ध पक्षी की भाँति उड़ने की—उनसे मिलने की विरह-व्याकुलता से युक्त होना चाहिये। जो कुछ भी होता है, वह श्रीविहारी-विहारिणि जी की कृपा ही से होता है, ऐसा सुदृढ़ भरोसा रखकर एक क्षण भी

भक्ति बिना व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये। मैं अच्छा-बुरा कैसा भी हूँ, आपका ही हूँ। मैं बुरा करनेवाला पतित हूँ, आप सम्भालनेवाले परमस्नेही हैं, पतितपावन हैं, मेरे में और आपमें होड़ परी है। इस तरह इष्ट से-श्रीहरि से होड़ बदनी चाहिये, तभी कार्य सरता है।

इस तरह जीवों पर दया करके उनको प्रबोध देने के लिये संसार की असारता, माया और काल का प्रभाव, जीव की विवशता, जीव को अपने स्वरूप-अधिकार को जानकर भक्ति-साधन में तत्पर होना चाहिये, इस प्रकार अनेक सिद्धान्तों को दर्शाते हुए श्रीहरि की अहैतुकी कृपा और अपने जन का उद्धार करने हेतु उनकी कटिबद्धता का सुन्दर निरूपण किया है। उन्होंने नाम की महिमा, भक्तों की रहनी-सहनी, इष्ट के प्रति दृढ़ अनन्यता के साथ-साथ व्रज-वृन्दावन की लता-पताओं और रज के प्रति दृढ़ निष्ठा का भी उपदेश दिया है।

इस प्रकार सत्रह पदों में गूढ़-रोचक सिद्धान्तों का वर्णन करके साधक को भक्ति-तत्त्व सिद्धान्त में निपुण किया। इन साधना के सत्रह सोपानों को पार करने के बाद उज्ज्वल प्रेम के योग्य बनकर साधक प्रेम-समुद्र के तट पर आ पहुँचता है, जिसमें गहरा रूप रस भरा हुआ है। इसे पार कैसे कर सकते हैं? डूब ही जायँगे। प्रायः सभी प्रेमी डूबने में ही जीवन की सार्थकता मान लेते हैं। किन्तु जीवन की सार्थकता तो उसमें से रत्न निकालकर लाने में ही है। परम प्रेम-कुशल तैराक ही समुद्र में से नित्यविहाररूप रत्न निकालकर लाता है। ऐसे ही परम प्रेम-कुशल तैराक (गोताखोर) तो रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज और उनके अनुगत रसिक-अनन्यजन ही हैं।

सच्चे प्रेम के प्रतीक श्रीकुंजविहारी की ओर इंगित करते हुए श्रीस्वामी जी महाराज ने सिद्धान्त के अठाहरवें पद में बताया है

कि यदि साधक सच्चे प्रेम का स्वरूप समझना चाहे, तो उसे ठाकुर श्रीविहारी जी को जानना चाहिये। इस पद में और भी रस रहस्यमय गूढ़ तत्त्व भरा हुआ है। यह पद श्रीकेलिमाल और सिद्धान्त के पदों की संयोजक कड़ी है।

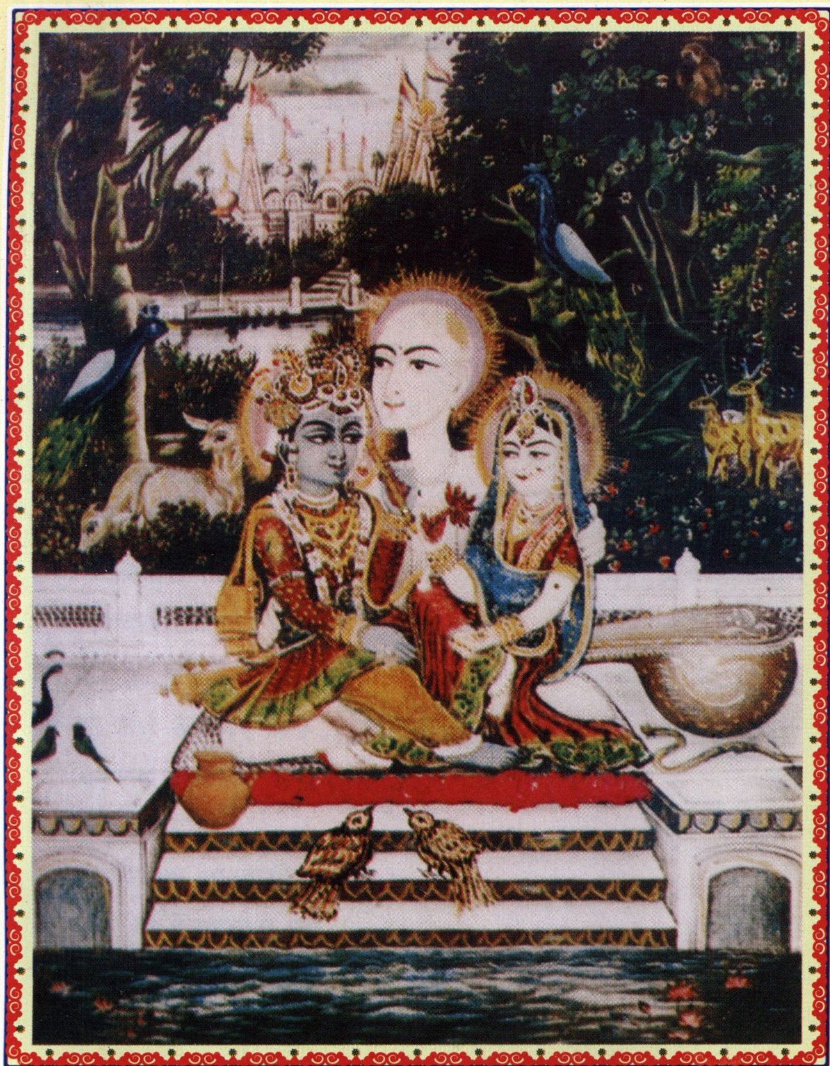
श्रीस्वामीजी की बानी बहुत गहरे-गम्भीर समुद्र के समान है। उसमें से भाव-अर्थरूप रत्न को निकालना अति ही दुरूह है। यद्यपि परम विज्ञरत्न महानुभावों ने टीकाएँ कर रखी हैं, तब भी मुझ जैसे अल्पसमझ नये साधकजनों के लिये भाव-अर्थ-रहस्य को समझना अति कठिन ही है। इन्हीं सब भावों को लेकर अपने मन के बोधनार्थ एवं प्रेमी विज्ञ रसिकजनों के सेवार्थ तथा श्रीस्वामीजी महाराज, श्रीप्रियालाल और रसिक-महानुभावों के प्रसन्नार्थ उन्हींकी अकारण कृपा, भक्तवत्सलता, सर्वसुहृदता तथा परम प्रेम-स्नेहमय स्वभाव का सुदृढ़ आश्रय ग्रहण कर अत्यन्त स्नेही, परम प्रेमी इन दो महानुभावों की टीकाओं—श्रीवृन्दावनवासी, विद्यावागीश, तर्कतीर्थ पण्डित श्रीअमोलकराम जी शास्त्री महाराज विरचित **अष्टादश सिद्धान्त के पदों की टीका** एवं परम विद्वद्वरेण्य रसिक-हृदय श्रीललितप्रसाद पाठक जी रचित **अष्टादश सिद्धान्त के पद सटीक**—के अनुसार इन भाव गाम्भीर्यमय पदों को सहज सरल भावरूप में विस्तार करने के लिये अपने बाल-स्वभाववशात् प्रवृत्त हुआ। परम स्नेह-करुणावारिधि श्रीस्वामी जी महाराज, नवल कुँवरिकिशोरी-नवल कुँवरकिशोर एवं गुरुजनों की कृपा ने ही बालहठ देखकर स्नेहपूर्वक हाथ पकड़कर इन पदों की **प्रेम-भक्तिरस-साधिका टीका** के रूप में अर्थ-भाव का विस्तार करा लिया।

यह सब कैसे हुआ, यह तो अकारण अचिन्त्य महिमामयी कृपा ही जानें। उसी अहैतुकीय कृपाप्रसाद से प्रेमी विज्ञ, सुधी रसिकजनों के समक्ष टीका प्रस्तुत है। वे इस अल्पज्ञ की त्रुटियों की ओर न देखते हुए टीका के भाव-रस को ग्रहणकर अपने प्राण प्रियतम के लाड़-चावमय प्रेम-रस के अवगाहन में निमग्न होवेंगे।

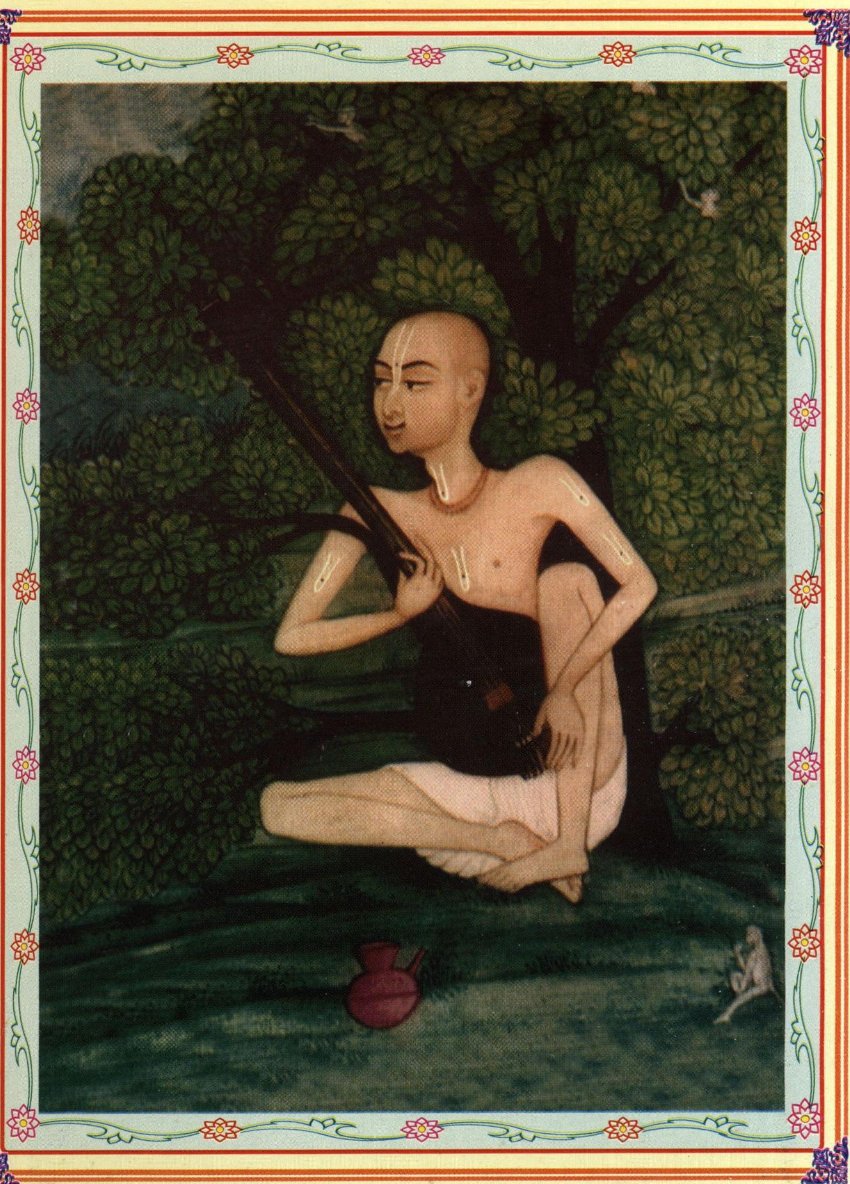
श्रीललित निकुञ्ज
ठाकुर श्रीगोरेलाल जी की कुंज,
प्रेम गली, श्री वृन्दावन

कृपाभिलाषी
श्रीस्वामी-रसिक चरणरज किङ्कर
बाबा अलबेलीशरण
तिथि पौष शुक्ल १३, सं. २०७०
१३ जनवरी, सन् २०१४ ई.





श्रीस्वामी जी की गोद में श्री प्रिया-प्रीतम



अखिल माधुर्यैक: मूर्ति अशेष रसिक चक्रचूड़ामणि, रसिक कमल-कुल-दिवाकर
महामधुररससार-नित्य बिहार प्रकाशक, अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास जी महाराज

॥ श्रीमन्नित्यनिकुञ्जविहारिणे नमः ॥
॥ श्रीस्वामी हरिदासो विजयतेतराम् ॥

प्रेम-भक्तिरस-साधिका टीका

दोहा- **श्रीकुंजबिहारिनि स्वामिनी, कुंजबिहारी लाल।**
श्रीललिता हरिदासी अली, मो हिय बसहु रसाल॥१॥
श्रीगुरु श्रीहरिदास निज, रसिक अनन्य सुजान।
कृपा सार ढारनि ढरहु, फुरहिं तत्त्व महान॥२॥
श्रीस्वामी श्रीमुख कह्यौ, सब श्रुति सार सिद्धान्त।
मृदुल सरस भाषा पदनि, प्रगट्यौ तत्त्व महान्त॥३॥
सोरठा-**प्रेम भक्तिरस साधिका, यह व्याख्या अतिहि सरस।**
रसिक सन्त मन तुष्टिका, प्रगटी स्वामी कृपानिधि॥१४॥

अथ प्रथम पद-पूर्वावतरण

महामधुररस विलासमय परम धाम श्रीवृन्दावन में परम माधुर्यरस वपु समवयस्, नित्य नवकिशोर, नवयौवन जोर विभोर, प्रेम-रस माधुर्य-चातुर्य आदि सकल गुणनिधि, अनन्तकला वैचित्र्यवारिधि, महाअनुरागी, रसिक युगल श्रीकुंजविहारी-विहारिणि अति उन्मत्तता से परम माधुर्यनिधि नित्यविहाररस को अहर्निश, एकरस विलसते रहते हैं। नित्यविहाररस की विचित्र मधुरिमा ही उनका—रसिक युगल का खान, पान, शयन, स्नान आदि सर्वस्व बन गई।

खान पान भोगी नहीं, नहिं चलन की रीति।
काम केलि की सेज पर, गौर स्याम की प्रीति॥३८०॥

-श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी

वे उत्तम भोजन और रसपान, जलपान आदि भोगों के व्यसनी, भोगी नहीं हैं और भ्रमण—विहार करना, शैर करना भी उन्हें पसन्द नहीं

है। उनकी प्रीति–आसक्ति, रुचि तो कामकेलि–क्रीड़ामयी सेज पर ही है अर्थात् सेज पर नित्यविहार विहरण करना ही उनका सर्वस्व है।

श्रीनित्यविहारी प्रियालाल का ऐसा रसमग्न, रसोन्मत्त होना कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि जिस सेज पर वे विलस रहे हैं, उसका परमाश्चर्य-प्रभावमय स्वरूप ही ऐसा है। वह सेज है–परम प्रेम, अनुराग, माधुर्यरस का अनन्त, असीम महोदधि प्रेमसहेली श्रीललिता-हरिदासी का हृदय; जिसके परम विचित्र नव–नव रसास्वाद में रसिक दम्पती सदा रसछके, रसप्यासे, लीन एवं तरंगायमान रहते हैं।

महा कलप कलप गये, जुगल बिहार न अंत।
सदा अखंडित एकरस, बिहरत कामिनि कंत॥६९०॥

–श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी

अनन्त युग, अनन्त महाकल्प के कल्प बीत गये, किन्तु युगल किशोर के विहार का अन्त नहीं आया। उनकी तो नव यौवन, नव-किशोरावस्था, नव प्रीति, नव आसक्ति, नव रुचि की तरंगें बढ़ती ही रहती हैं, मानो अभी ही मिलन हुआ है। ऐसे कामिनी–कंत श्रीविहारिणी–विहारी सदा नित्य, अखंडित-निरन्तर एकरस दिव्य केलि विहार को विहरते ही रहते हैं।

वस्तुतः प्रियालाल और सहचरी-श्रीललिता तीनों एक प्राण–त्रय देहवान् हैं। तीनों ही नित्यविहार रसरूप, रस के मूल, आधार तथा परम रसिक हैं। श्रीयुगल नित्यकेलि-रस के विलसने में तत्पर, तल्लीन हैं, तो श्रीललिता अनन्त सहचरीरूपों से दोनों को नित्य-केलि-रस के लाड़ लड़ाने में तत्पर, तन्मय हैं। इनका यह परमाश्चर्यमय नित्यविहार रससिन्धु नित्य नव-नव उत्ताल तरंगों से श्रीवृन्दावन में सदा, प्रतिक्षण तरंगायित, उच्छलित, उद्वेलित रहता है।

संसार की त्रिविध तापाग्नि से तप्त-व्यथित प्राणियों को देख, निजजनों पर कृपारस प्रदान करने के लिए करुणार्द्र हृदय हो श्रीयुगल के हृदय के प्रेम, अनुराग रस की मूर्ति श्रीललिता-प्रेमसहेली श्रीयुगल की इच्छानुसार रसमय नित्यधाम से धराधाम श्रीवृन्दावन में राजपुर ग्राम में श्रीहरिदासस्वरूप से अवतरित हुईं। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत श्रीस्वामी आशुधीरदेव जी से दीक्षा-शिक्षा ग्रहणकर श्रीनिधुवनराज में अविचलरूप से वास करते हुए रसिक-अनन्य परम भगवत्धर्म का प्रवर्तन एवं नित्यविहार रस का प्राकट्य और प्रवर्षण किया। रसिक-अनन्य महानुभावों ने आपकी विशद-उज्ज्वल कीर्ति का भूरि-भूरि गान किया है।

आपने निजजनों को परम अनन्यधर्म का उपदेश ही नहीं दिया, बल्कि परम करुणया तीव्र वैराग्यपूर्ण रहनी से रहते हुए स्वयं आचरणद्वारा आचरित करके दिखाया। सन्तजनों की रहनी-कहनी एक-सी होती है। वे जैसे कहते हैं, वैसे करते भी हैं। कहनी से करनी ही विशेष महत्त्व एवं प्रभावशालिनी होती है। सन्तजनों की महिमा के विषय में आचार्यचरण कहते हैं–

रहनी कहनी एकसी, तिनसौं कहिये संत।
हरि रस रूप सुधा पियैं, सदा रहैं मैमंत[१]।।५४८।।

-श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी

जिनकी कहनी–कथनी, अर्थात् सिद्धान्त उपदेश करना और रहनी–क्रिया, व्यवहार, कर्तव्य, बर्ताव करना ये दोनों एक-से–एक समान हैं, अर्थात् जैसे कहते हैं, वैसे ही करते भी हैं, वेद, पुराण, शास्त्र और विद्वान् सन्त, महापुरुष उन्हींको महान्त–महापुरुष, महान्

१. मदमस्त, गर्वीले

सन्त, भक्त कहते हैं। ऐसे महान्तजन सदा नित्य-निरन्तर श्रीहरि-श्यामा-श्याम की दिव्य रूप-रससुधामाधुरी, लीलारस सुधामाधुरी का पान करते रहते हैं और उस रससुधामाधुरी में मैमंत–छके, मतवाले, मदमस्त, उन्मत्त रहते हैं, उन्हें अपने तन–मन की भी सुधि रहती नहीं है।

आपने अपने में जीवभाव आरोपकर भक्तिमय आचरणोंद्वारा निजजनों को उपदेश दिया। आपकी वाणी में, उपदेश में सहज ही समस्त वेद, पुराण, शास्त्र एवं सद्ग्रन्थों का सार भरा हुआ है। व्रजभाषा शैली के अल्प अक्षरों में अत्यन्त सारगर्भित तत्त्व स्वतः स्फुरित–उमड़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है। वे पद पढ़ने–सुनने में अति सरल, किन्तु भावार्थ समझने में अति ही गूढ़, बहुत ही कठिन हैं। उनको हृदयंगम करना आपकी कृपा से ही सुगम है। श्री गुरुदेव–श्रीस्वामी बिहारिणि देव जी कहते हैं-

श्रीबिहारीदास बिहार की, सीवाँ अवधि बताइ।
श्रीहरिदास चरन सेये बिना, बहुत गये सिर नाइ॥६९१॥

श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि हमने दम्पति-युगल किशोर-विहारी-विहारिणि के विहार-विलास का चरम स्वरूप–अन्तिम, सर्वोपर, सबसे श्रेष्ठ स्वरूप और उसकी परम गति, उसका अत्यन्त गूढ़रूप वर्णन किया, बताया, किन्तु रसिक–अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के चरणकमलों की शरण लेकर उनके सेवन किये बिना विहाररस की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है, अर्थात् प्राप्ति हो नहीं सकती। कितने विद्वत् जन, साधक, सिद्ध, महापुरुष आये, उनका दर्शन प्रणाम करके चले गये, किन्तु उन्हें यह रस दुर्लभ ही रहा। क्योंकि उस विहाररस के स्वरूप, उपासक और उसके दाता आप स्वयं ही हैं।

श्रीहरिदास चरन चिन्तन बिनु और कहा कलिजुग में हेत।
कलप तरु फल फूल प्रेम भरु सन्मुख भये अभै पद देत॥

-गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी

रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के चरणकमलों का चिन्तन-स्मरण, भजन-सेवन किये बिना इस दुःख-दोष से भरे हुए घोर-भयंकर कलियुग में क्या और साधन-उपायों से तुम्हारा हित-मंगल, कल्याण हो सकता है? अर्थात् अन्य साधन-उपायों से और वस्तु-व्यक्तियों से हित-प्रेम करने से मंगल-कल्याण, सुख या प्रेम रस की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके लिये तो श्रीस्वामी जी महाराज के चरणकमलों से हेत-प्रेम-अनुराग करना ही होगा। क्योंकि इस कलियुग में श्रीस्वामी जी महाराज के चरणकमल युगल-किशोर श्रीकुंजविहारी-विहारिणी के परमोज्ज्वल प्रेम-रस विहाररूप फल और दिव्य प्रेम, अनुराग, दिव्य रुचि, दिव्यानुभावरूप फूल से भरा, लहलहाता, हरा-भरा, झूमता हुआ कल्पतरु है, जो सन्मुख होते ही-उसकी शरण, उसका आश्रय, उसका सेवन करते ही अभय पद को देनेवाला है। अर्थात् जहाँ किसी प्रकार के विरह, वियोग, विरसता आदि जन्य भय-शंका, दुःख-दोष लेशमात्र भी नहीं हैं, ऐसे अभय सुख, अभय धाम-नित्य विहाररस को देनेवाला है।

ऐसे अद्भुत सरस करुणापूर्ण चरणारविन्दों का आश्रय लेकर उनकी कृपा का स्मरण करके ही इस दुरूह तत्त्वमय महादुर्ग में प्रवेश करने का बाल-प्रयास कर रहा हूँ। परम कारुणिक श्रीस्वामी जी, श्रीप्रिया-लाल एवं रसिक-अनन्य महत्जन अपने जन का दुराग्रह देख करुणा-वर्षण करते हुए स्नेहसुधा से सिंचित करेंगे।

परम पद, नित्य धाम श्री वृन्दावन में अहर्निश नित्यकेलि रसपरायण, रसमग्न युगल-श्री नित्य निकुंजविहारी ही सर्वस्व-तत्त्व, सर्वस्व सार हैं। वे ही सब ठाकुरों के ठाकुर, सब ईशों के ईश और सब अवतारों के अवतारी हैं। श्री गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं।

श्री कुंजबिहारी सर्वस्व सार।
श्रीस्वामी हरिदास उद्धरे रसिक अनन्यनि कौ आधार।।
नित्य प्रगट गावत नहिं पावत सब श्रुति तत्त्व विचार।
इहि निज नाम धाम वृन्दावन निरनै नित्य बिहार।।
काम केलि रस और न परसत प्रेम समुद्र अपार।
मत्त मुदित सहचरि सेवत नित लता ललित आगार।।
अंस कला सब अवतारनि कौ अवतारी भरतार।। इत्यादि।।

सब तत्त्वों, सब सुखों, सब उपासना रसों के सार सुख-रस स्वरूप अनन्त शोभा, माधुर्य, लावण्य, प्रेम, अनुराग, करुणा, उदारता आदि दिव्य गुणों के धाम परमधाम श्रीवृन्दावन की दिव्य-मधुर कुंजों में विहार करनेवाले श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि हैं। इनका प्राकट्य रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज ने किया है। ये रसिक-अनन्यजनों अर्थात् श्रीप्रियालाल की नित्य केलि-क्रीड़ा रस के प्रेमी-अनुरागी अनन्य उपासक-भक्तजनों के आधार अर्थात् प्राण जीवन सर्वस्व हैं।

ये सदा-निरन्तर विराजमान हैं। अपने रसिक-अनन्य प्रेमीजनों को सदा-निरन्तर विहार-क्रीड़ारस-सुख का आस्वादन कराते रहते हैं। नित्य उपासक प्रेमीजन उनके यश को गाते हैं, अपनी वाणी द्वारा वर्णन करते हैं, किन्तु इनका आश्रय लिये बिना इनको कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता। और की तो बात क्या, स्वयं वेद भी उनके

तत्त्वों को विचारते-वर्णन करते हैं, "रसोवैसः, आत्मक्रीड़" आदि अनेक वाक्यों द्वारा विहाररस को ही अपने हृदय में गुप्त धारण करके वर्णन करते हैं, पर वे भी प्राप्त नहीं कर सकते। उनको भी यह विहाररस अत्यन्त दुर्लभ है।

इनका यही कुंजविहारी नाम ही निज–माने मूल, मुख्य नाम है। उनका धाम-निवास स्थान जहाँ नित्य केलि-क्रीड़ा करते रहते हैं, उसका रसस्वरूप, रसमय नाम श्रीवृन्दावन है और उनकी क्रिया--रति, सुख-नित्यविहार है, अर्थात् नित्य निरन्तर एकरस विहार करना ही उनका आहार, जीवन सर्वस्व है, ऐसे रसिक-अनन्य महत्‌जनों ने निर्णय–निश्चय किया है, ऐसा निश्चय करके गाया है।

उस वृन्दावन में परम विचित्र महामधुर रसमय प्रेमसमुद्र है, जिसमें रूप-रस की गहराई है और काम-केलि-क्रीड़ा की उत्ताल (ऊँची) तरंगें उठती रहती हैं। उसी अपार प्रेमसमुद्र में ये नित्य क्रीड़ा करते रहते हैं। ये दिव्य कामकेलि-क्रीड़ारस के अतिरिक्त (अलावा) अन्य किसी रस का स्पर्श भी नहीं करते हैं।

इनकी अंगसंगिनी सहचरियाँ ही प्रेम-रस में मत्त-मुदित होकर ललित-सुन्दर, मधुर कुंजभवन में इनका सेवन करती हैं-इन्हें लड़ाती–दुलराती हैं। उनके अलावा कोई भी वहाँ पहुँच नहीं सकता है।

जितने अंश-कला अवतार हैं, उनके ये अवतारी हैं, अंशी हैं, ये सभी धाम-धामियों के मूल हैं, सबके भर्ता-स्वामी, ईश्वर हैं आदि। ऐसी इनकी अनन्त महिमा हैं।

आपकी ही इच्छा से, कला से समस्त धाम-धामियों की निर्गुण-सगुण तत्त्व की एवं मायाकृत अनन्त महाविराट्, विराट्–ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति और स्थिति है।

छलकत छींट जहाँ परी, तहाँ प्रेम उदगार।
गावत नृत्यत हँसत सब, हरि हित हरष उदार।।१४४।।

-गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी

इस लहराते हुए परिपूर्ण प्रेमसमुद्र की छलकती हुई छींट जहाँ पड़ी, वहाँ पर प्रेम-रस का आवरण बन गया। वह आवरण ही वहाँ प्रेमसमुद्र बन गया। उसीमें सभी परिकर प्रेम में सराबोर–मग्न हो गये। वे ऐसे मग्न हुए कि अपने सेव्य श्रीहरि-युगल के हित में उनके गुण-यश को गाते हैं, प्रेम विभोर होकर हँसते हैं और नाचते हुए प्राणप्रियतम को रिझाते हैं। इस प्रेम में उन्मत्त हुए अति उदारतासहित हर्षोत्फुल्ल हुए वे अपने इष्ट के सुख में तत्पर-तल्लीन रहते हैं।

निर्गुन सर्गुन इच्छा जान। इच्छावान परे उनमान।।५०४।।

-श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी

निर्गुण–निराकार ब्रह्म तत्त्व और सगुण–साकार ब्रह्म तत्त्व, सम्पूर्ण अवतार और धाम-धामी सभी नित्यविहारी की इच्छा जानो, उनकी इच्छा का ही प्रसार-विस्तार जानो। तथा इच्छावान्–नित्य विहारी इनसे परे-श्रेष्ठ, ऊँचे और सूक्ष्म हैं।

नित्यविहारी ही सबके मूल-आधार सर्वस्व हैं। समस्त विस्तार–प्रसार इनकी इच्छा-सूत्र के अधीन है।

नित्यबिहारी की कला प्रथम पुरुष अवतार।
तासु अंस माया भई ताकौ सकल पसार।।
ताकौ सकल पसार महा तत्त्व उपज्यौ जातें।
अहंकार उत्पत्ति भई श्रुति कहैं जु तातें।।
अहंकार त्रै रूप भयौ सिव विधि असुरारी।
भगवत सबकौ तत्त्व बीज श्री नित्यबिहारी।।१।।

-श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी

परम प्रभु श्रीनित्यविहारी की कला अर्थात् अल्पांश भाग से प्रथम पुरुष–परमेश्वर महानारायण प्रकट हुए। उन्हींके अंश से त्रिगुणमयी माया प्रकट हुई, जिसका ही सम्पूर्ण पसारा–सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और अनन्त ब्रह्माण्डों का विस्तार है। उसी माया से महत्तत्त्व–समष्टि ज्ञान-क्रिया प्रधान तत्त्व उत्पन्न हुआ। उसीसे अहंकार उत्पन्न हुआ, जिसका श्रुतियाँ वर्णन करती हैं। वही तीन रूप में प्रकट हुआ सात्त्विक, राजस, तामस अर्थात् असुरारी-श्रीहरि-विष्णु, ब्रह्मा और महेश। श्रीभगवतरसिकदेव जी कहते हैं-सब तत्त्वों, सब अवतारों, सब ईश्वरों के तत्त्व, बीज-मूल श्रीनित्यविहारी हैं। वे सब ईश्वरों के ईश्वर, परम प्रभु हैं।

श्रीब्रह्मा जी भी इसी सिद्धान्त को पुष्ट कर रहे हैं-

यस्य प्रभाप्रभवतो जगदण्डकोटिकोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।
तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

–ब्रह्म सहिता

अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में, धामों में जो विभिन्न, अनन्त पृथ्वी आदिक विभूतियों से पूर्ण हैं एवं पूर्ण, निरवच्छिन्न, मूलभूत अर्थात् कारणस्वरूप ब्रह्म भी जिनकी प्रभा या अंगकांति अर्थात् आभासमात्र है, ये सब जिनकी प्रभा से प्रभावित, प्रकाशित हैं, उन आदि पुरुष श्री गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी ने भी कहा है-

जाके तेज सबै तपैं, मन मैले मरि जाहिं।
अँखियारे सूझे नहीं, अंधे को पतियाहिं॥

जिसके तेज–प्रताप से सभी तप्त हो रहे हैं। सभी तत्त्व, सभी सुख, सभी ईश्वर उन्हींकी-नित्यविहारी की शक्ति से शक्तिवान् हैं। उनकी शक्ति से ही जिन सबकी स्थिति-प्रवृत्ति है और उन्हींके

अधीन हैं। जिनका मन मैला है—मन में अहंकार, स्वार्थ, स्वाधीनता है, ऐसे मन मैलेवाले तो निन्दा, आलोचना आदि करके मर ही जाते हैं, किन्तु जो आँखवाले ज्ञानी, विवेकीजन हैं, वे भी उनको देख नहीं सकते, उनको जान नहीं सकते, फिर बिना आँखवाले, ज्ञान, विवेकहीन जन उनका प्रमाण कहने लगे कि वे ऐसे हैं, वैसे हैं आदि, तो उनकी बात का कौन विश्वास करे? जैसे उल्लू को सूर्य का प्रकाश अच्छा नहीं लगता, उसे दिन में दिखता नहीं है, यदि वह कहने लगे कि सूर्य कहाँ निकला, प्रकाश कहाँ है, तो कौन माने?

सब उन्हींका पसारा है, उन्हींका खेल है। खेल खिलाड़ी के अधीन रहता है। इसके कर्ता, भर्ता, हर्ता, प्रेरक, स्वामी आदि आप श्रीहरि ही हैं। श्रुति-स्मृति आदि में कहा है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

जिन्होंने सृष्टि के पूर्व में ब्रह्मा जी को प्रकट करके आत्मतत्त्व का ज्ञान धारण कराया, जिन्होंने वेदों की रक्षा करके ब्रह्मा को प्रदान किये, उन आत्मतत्त्व का, ज्ञान का प्रकाश करनेवाले सच्चिदानन्द देव श्रीहरि की मैं मुमुक्षु—आत्मकल्याण के लिये शरण ग्रहण करता हूँ।

सर्वस्य शरणं सुहृत्-वे सबके अर्थात् चराचर प्राणिमात्र के आश्रय और सुहृद्—अकारण हितू, मित्र हैं।

यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वा विद्यास्तस्मै गोपायति स्म कृष्णः।
तं ह देवात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणं व्रजेत्॥

जिन्होंने सृष्टि के पहले ब्रह्मा जी की रचनाकर जिनमें आत्मविद्या का प्रकाश और रक्षा करते हैं, उन आत्मज्ञानप्रकाशरूप सच्चिदानन्दमय श्रीकृष्णदेव की आत्मकल्याण चाहनेवाले मुमुक्षुजन शरण ग्रहण करें।

तावदार्तिस्तथा वाञ्छा तावन्मोहस्तथा सुखम्।
यावन्न याति शरणं त्वामशेषाघनाशनम्।।

-श्रीमद्भागवत

ब्रह्मा जी स्तुति करते हुए कहते हैं-तभीतक इस जीव के लिए दुःख हैं, कामना-वासनाएँ हैं, तभीतक मोह-ममता और दुःखरूप सुख-आनन्द की प्रतीति है, जबतक सम्पूर्ण पापों का नाश करनेवाले आप श्रीहरि की शरण में नहीं जाता।

अथः पातक भीतस्त्वं सार्वभावेन भारत।
विमुक्तोऽन्यसमारम्भान्नारायण परो भव।।२।।

कोई भी कर्म निर्मल-शुद्धरूप से करने पर भी वे संसार से मुक्ति करानेवाले नहीं हैं, ऐसे विचारकर यदि तू पापों से भयभीत है, तो अन्य समस्त आरम्भों-कर्मों, प्रयत्नों को त्यागकर सर्वभाव से-मनसा, वाचा कर्मणा सर्वप्रकार से श्रीहरि की शरण ग्रहण कर।

शरणं त्वां प्रपन्ना ये ध्यानयोग विवर्जिताः।
तेऽपि मृत्युमतिक्रम्य यान्ति विष्णोः परं पदम्।।

हे श्रीहरि! जो ध्यानयोग से रहित हैं, अर्थात् जिनमें कर्म, ज्ञान, योग आदि के करने की शक्ति-योग्यता नहीं है, वे भी आपकी शरण ग्रहणकर आपकी भक्ति के प्रताप से मृत्यु-काल को लाँघकर आपके परम उज्ज्वल परमपद-परमधाम को प्राप्त होते हैं।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।

-श्रीमद्भगवद् गीता १८/६२।।

हे अर्जुन! तू सर्वभाव से-सब प्रकार से उन्हीं करुणामय श्रीहरि की शरण में जा। वह हरि मैं ही हूँ। मेरे प्रसाद से- कृपा से तू अविनाशी, नित्य परम पद-परमधाम को प्राप्त करेगा।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

श्रीमद्भगवद् गीता १८/६६

हे अर्जुन! कर्म, ज्ञान, योग, जप, तप, व्रत, यज्ञ आदि सभी कर्म-धर्मों का आश्रय छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे उन धर्मों के प्रतिवायरूप पापों से और अन्य सर्वपापों से-दुःखों से मुक्त करूँगा। तू तनिक भी चिन्ता मत कर।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

श्रीमद्भगवद् गीता ७-१४

निश्चितरूप से यह अलौकिक अर्थात् अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष केवल मेरी ही शरण ग्रहण करते हैं- केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे मेरी कृपा से इस माया का उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात संसार से तर जाते हैं।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

-वाल्मिकी रामायण

भगवान् श्रीराम कहते हैं- एकबार भी यह कहकर जो याचना करता है कि मैं आपका हूँ, मुझे अपनी शरण में लीजिये, उसको मैं सब प्राणियों से अभय कर देता हूँ, ऐसा मेरा व्रत है, ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है।

ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ते मानवाः।
कर्तारमकृतं देवं भूतानां प्रभवाप्ययम्॥

जो सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाले हैं, जो सम्पूर्ण जगत् के कर्ता होकर भी अकर्ता हैं, जो अपने स्वरूप

में स्थित, नित्य क्रीड़ापरायण हैं, उन श्रीहरि की जो प्राणी शरण ग्रहण करते हैं- उनको अनन्य भाव से भजते हैं, वे माया से मोहित नहीं होते हैं, वे माया को सहज पार कर जाते हैं।

य एनं संश्रयन्तीह भक्त्या नारायणं हरिम्।
ते तरन्तीह दुर्गाणि नात्र कार्या विचारणा॥

जो इन प्रभु-श्रीहरि की भक्तिपूर्वक सर्व प्रकार से शरण ग्रहण करते हैं, वे यहाँ कठिन से कठिन विपत्तियों को-भवसागर को सहज पार कर जाते हैं, इसमें विचार करने की कोई बात नहीं हैं, अर्थात् संशय का स्थान नहीं है।

स्याम के सरन जे सुख न सिराने[1]।
तिनकौं सुख सपने न लिख्यौ जे फिरत विविध बौराने॥९२॥

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी

जिन्होंने परम कृपानिधि, शरणागतवत्सल, सुखसिन्धु श्यामसुन्दर-श्रीविहारी जी की शरण नहीं ली, जो उनकी अनन्य भक्ति करके प्रेमसुख प्राप्त करके शीतल नहीं हुए, त्रिविध ताप-संतापों से मुक्त होकर परम प्रेम-भक्ति रस में लीन नहीं हुए और जो अनेक मत-मतान्तरों में बौराये-भ्रमित हुए भटक रहे हैं, उनको स्वप्न में भी सुख नहीं मिल सकता है, क्योंकि सुखस्वरूप, सुखसिन्धु तो श्रीविहारी जी हैं। सभी सुख उनके चरणारविन्दों की सेवा में लगे हुए हैं, तत्पर-तल्लीन हैं।

पोथी थोथी सब परी, कौन उठावै भार।
श्री बिहारी बिहारिनिदासि उर, लिखि लीयौ अच्छर सार॥३२७॥

सभी वाणी-ग्रन्थों में श्रीविहारी-विहारिणि और दासि-श्री ललितास्वरूव श्रीस्वामी जी महाराज का तत्त्वस्वरूप नित्य केलि-विहार

१. शीतल, हुए, मग्न हुए।

का स्वरूप ही वर्णित है। जिन्होंने अपने हृदय में इन तीनों के तत्त्व-रस को, स्वरूप को, नित्यविहार रस को धारण कर लिया, उनके लिये सब पोथियाँ-वाणी-ग्रन्थ आदि थोथे-सारहीन हैं। फिर उनके भार को कौन उठायेगा? परम विवेकी रसिक तो अपने इष्ट के सेवन-स्मरण में ही तत्पर-तल्लीन रहते हैं, न कि केवल पढ़ने-पढ़ाने में। सेवन-स्मरण बिना केवल पढ़ना-पढ़ना भार बोझ ढोने के समान है।

साधन श्रम ना कछु कियौ, ना कछु करिवे जोग।
कृपा बिहारिनिदासि कौं, सहज संजोगी भोग॥१५०॥

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी

ऐसा तत्त्व, ऐसा भाव, ऐसा परम प्रेम-रस तो केवल कृपा से ही प्राप्त होता है, साधनों से नहीं। इसी भाव को श्री गुरुदेव जी वर्णन कर रहे हैं-मैंने न तो साधनों का श्रम किया है और न मैं इन साधनों के करनेयोग्य हूँ, अथवा न योग आदि करनेयोग्य हूँ। मुझे तो श्रीगुरु श्रीस्वामी जी महाराज की कृपा से ही सहज में-अनायास-बिना साधन आदि के किये नित्य संयोगी श्री श्यामा-श्याम-विहारीविहारिणि का विहार मिल गया।

ज्ञान जोग वैराग सौं, सरै न एकौ काज।
अंत समै हरि सौं कहे, तुमही कौं है लाज॥

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी

श्रीहरि का भजन किये बिना कोई भी साधन माया से पार नहीं करा सकते। इसी तथ्य को प्रकट करते हुए आचार्यचरण श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी कहते हैं-बहुत ज्ञान की साधना करो, उज्ज्वल ज्ञान का संग्रह करो, योग की ऊँची से ऊँची साधना करो, अथवा वैराग्य, त्याग की उत्तम से उत्तम रहनी से रहो, क़िन्तु श्री हरि की भक्ति किये बिना माया से पार नहीं हो सकते। जब श्री

हरि बाँह पकड़कर भवसागर से पारकर अपने चरण कमलों में वास देते हैं, तभी कार्य सरता है। कार्य सरता है प्रभु की शरणागति से, कृपा से। कार्य सरना–सधना, बनना माने भवसागर से पार होना, भगवत्सेवा में पहुँचना। इसीलिये जब ज्ञानी, योगी और वैरागियों को भगवत्–भागवत कृपा से सद्बुद्धि प्राप्त होती है, तभी वे अन्त समय श्री हरि की शरण लेकर उन्हें पुकारते हैं–प्रभो! शरणागत की लाज रखिये।

श्रीहरि गुरु के आसरे, जो चाहै सो होइ।
इन बिन करतब जो करै, सो चलै अंत में खोइ।।५८४।।

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी

श्रीहरि–गुरु के आश्रय में रहकर–उनकी सुदृढ़ भक्ति से भक्त जो चाहता है, वही प्राप्त कर लेता है, किन्तु इनके बिना–श्री हरि–गुरु की भक्ति बिना प्राणी जो भी करतब–साधन–कर्म करता है, उससे कुछ भी कार्य बनता नहीं है, बल्कि वह अपनी सर्वस्व पूँजी खोकर रीते ही हाथ परलोक यात्रा करता है।

वारि मथे घृत होउ बरु, सिकता तें बरु तेल।
बिन हरि भजन न भव तरहि, यह सिद्धांत अपेल।।

गोस्वामी श्रीतुलसीदास जी

इसी सिद्धान्त को गोस्वामी श्रीतुलसीदास जी महाराज पुष्ट करते हुए कहते हैं–पानी को मथने से भले ही घी निकल आये, सिकता–बालू–रेती को मथने से भले ही तेल निकल आये, यह दुर्लभ–असम्भव सम्भव हो जाये, कोई सामर्थ्यवान् भले ही कर ले, किन्तु यह सिद्धान्त–नियम–बात अपेल है अर्थात् कोई इसको खण्डन कर नहीं सकता है कि श्रीहरि के भजन किये बिना कोई भवसागर से तर गया, अर्थात् एकमात्र श्रीहरि का भजन ही भवसागर से पार करनेवाला है।

इत्यादि, श्रुति, स्मृति, इतिहास और संत-महात्माओं की वाणी के सिद्धान्तों से परम कल्याण की प्राप्ति में श्रीहरि की शरणागति ही मुख्य कारण है। जप, तप, ज्ञान, वैराग्य, यज्ञ आदि कोई भी साधन उनकी—श्रीहरि की प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं हैं। क्योंकि नित्य वस्तु की प्राप्ति कोई क्या करा सकता है? वह तो नित्य प्राप्त है, नित्य विराजित है। स्वप्न का व्यक्ति स्वप्नद्रष्टा को कैसे प्राप्त करा सकता है? ऐसेही कोई भी साधन मायामोह-भ्रम को दूर करने और श्रीहरि की प्राप्ति कराने में सक्षम नहीं हैं। वे अपनी कृपा से ही माया-भ्रम दूर करके मिलते हैं। वे ही साधन हैं और वे ही साध्य हैं। इसलिये मन, वचन, कर्म-सर्वात्मा से परम प्रभु-श्रीहरि की शरण ग्रहण करना जीवमात्र का मुख्य और सहज धर्म है। यह सिद्धान्त सर्व सम्मत है।

शरणागति छः प्रकार की है। वायु पुराण में कहा है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्व वरणं तथा।।
आत्मनिक्षेपकार्पण्यो षड्विधा शरणागति।।

(१) अनुकूलता का संकल्प— ब्रह्मा से लेकर स्तम्भ-खम्भ या जड़ पदार्थ अथवा चराचर प्राणिमात्र में श्रीहरि व्याप्त हैं—सबमें आत्मरूप से निवास करते हैं, इसलिये प्राणिमात्र के अनुकूल—उनके सुख, प्रसन्ता के लिये सद्गुण, सद्धर्मपूर्वक सद्व्यवहार करना शरणागति का पहला अंग है।

चराचराणि भूतानि सर्वाणि भगवद्वपुः।
अतस्तदानुकूल्यं हि कर्तव्यमिति निश्चयः।।

सम्पूर्ण चराचर प्राणी भगवान् के शरीर हैं, इसलिये उनके अनुकूल व्यवहार करना कर्तव्य है, ऐसा निश्चय करना।

श्रयते हि सर्वात्मत्वं भगवतः॥
अन्तः प्रविष्ट शास्ता जनानां सर्वात्मा॥

सब प्राणियों में आत्मारूप से भगवान् ही निवास करते हैं। सर्व प्राणियों के भीतर प्रवेशकर सर्वात्मा श्रीहरि उन पर शासन करते हैं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

हे अर्जुन! मैं ही सर्व प्राणियों के अन्तःकरण में आत्मारूप से स्थित हूँ। इत्यादि वचनों से यह निश्चय हुआ कि सब प्राणियों के प्रति धीरज, धर्म आदि सद्गुण, सदाचारपूर्वक अनुकूल आचरण करना ही श्रीहरि के प्रति अनुकूलता है और यह शरणागत के लिये परम कर्तव्य है।

आनुकूल्येन श्रीकृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

श्रीकृष्ण की अनुकूलता–रुचि-सुख-प्रीति के अनुसार अनुशीलन–सदा-निरन्तर सेवन ही उत्तम भक्ति–विशुद्ध प्रेम भक्ति है।

(२) प्रतिकूलता का त्याग–सब चराचर प्राणियों में श्रीहरि निवास करते हैं, इसलिये प्राणिमात्र के लिये हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या आदि विपरीत आचरणों का त्याग करना, जिससे उन्हें दुःख न हो, इस भाँति प्रतिकूलता का त्याग करना, यह शरणागति का दूसरा अंग है।

परापवादं पैशुन्यमनृतं यो न भाषते।
अनुद्वेगकरञ्चापि तोष्यते तेन केशवः॥
परपत्नीपरद्रव्यपरहिंसासु यो मतिम्।
न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः॥
न ताड़यति नो हन्ति प्राणिनोऽन्यांश्च देहिनः।
यो मनुष्यो मनुष्येन्द्र तोष्यते तेन केशवः॥

–इति सागर प्रति और्वः॥

जो दूसरों की निन्दा, दोष, चुगली, छल करता नहीं है और झूठ बोलता नहीं है तथा किसीके प्रति क्षोभ या भय उत्पन्न

करनेवाली चेष्टाएँ करता नहीं है, उसके द्वारा श्रीहरि प्रसन्न किये जाते हैं, अर्थात् उसके आचरणों से श्रीहरि तुष्ट होते हैं।

राजन्! जो पुरुष दूसरे की पत्नी में, दूसरे के धन में, दूसरे को दुःख देनेवाली चेष्टाओं में मति चलाता नहीं, उसके द्वारा श्रीहरि तुष्ट होते हैं।

राजन्! जो पुरुष अन्य शरीरधारी प्राणियों को डाँटता, दपटता और दण्ड देता नहीं है तथा मारता नहीं है, उससे श्रीहरि प्रसन्न होते हैं।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैर सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डवः॥

श्रीमद्भगवद् गीता ११/५५

हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियों में वैरभाव से रहित है, अर्थात् सर्वत्र समबुद्धि हो जाने से अति अपराध करनेवाले में भी वैरभाव करता नहीं है, फिर औरों में तो कहना ही क्या है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।

इत्यादि वचनानुसार शरणागत को सबप्रकार से प्रतिकूलता का त्याग कर देना चाहिये।

(३) अवश्य रक्षा करेंगे, ऐसा दृढ़ विश्वास– अपनी रक्षा के प्रतिकूल अनेक विघ्नादि रहते हुए भी वात्सल्य, कारुण्य, स्नेह आदि गुणों के सागर, सर्वाश्रय, सर्वशरण्य, सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि गजेन्द्र, द्रौपदी, प्रह्लाद आदि भक्तों की भाँति अपने शरणागत-निजजनों की रक्षा अवश्य करेंगे, ऐसा दृढ़ विश्वास रखना शरणागति का तीसरा अंग है।

रक्षिष्यत्यनुकूलान्नः इति या सुदृढ़ामति।
स विश्वासो भवेच्छक्रं सर्वदुष्कृतिनाशनः॥

हे इन्द्र! श्रीहरि हम अनुकूल निजजनों की अवश्य रक्षा करेंगे, ऐसा जो सुदृढ़ निश्चय है, यह विश्वास ही सब दुष्कर्मों का, पापों का, दुःखों का नाश करनेवाला है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

श्रीमद्भगवद्गीता ९/२२

जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभाव से भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषों का योगक्षेम-अप्राप्त की प्राप्ति के सहायक अंगों का नाम योग है और प्राप्त की रक्षा का नाम क्षेम है, मैं स्वयं वहन करता हूँ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

श्रीमद्भगवद्गीता १८/६६

सम्पूर्ण धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मों का आश्रय त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमेश्वर की शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू सोच, चिन्ता मत कर।

(४) रक्षकरूप में उन्हें वरण करना—सर्वज्ञ, सर्वरक्षासमर्थ, कारुण्य, वात्सल्य, स्नेह आदि गुणों के समुद्र होने पर भी पुरुषोत्तम श्रीहरि प्रार्थनारहित आत्मविमुखजनों की रक्षा करते नहीं है, नहीं तो सर्व संसार का ही मोक्ष हो जाता और शास्त्रमर्यादा भंग होती, इसलिये सदा प्रार्थना में प्रवृत्त रहना, यह शरणागति का चौथा अंग है।

अप्रार्थितो न गोपायेदिति या प्रार्थनामतिः।
गोपायिता भवत्येव गोपतृत्ववरणं स्मृतः॥

बिना प्रार्थना के रक्षा करते नहीं, ऐसा निश्चय करके उनसे रक्षित होना—रक्षा के लिए उनसे प्रार्थना करना ही रक्षकरूप में उन्हें वरण करना है।

(५) आत्मसमर्पण— शरणागतवत्सल, शरण्य श्रीहरि की असाधारण प्रसन्नता का—कृपा का हेतु आत्मशरणागति ही है, ऐसा निश्चय करके अपने रक्षित आत्मसम्बन्धी जो कुछ भी हैं, उन सबकों भगवान् के अर्पण कर देना, उन पर से अहंता-ममता आदि स्वामीपने का भार हटाकर भगवान् को निवेदित कर देना, भगवत्परायण हो जाना ही आत्मसमर्पण नाम शरणागति का पाँचवाँ अंग है।
आत्मीयभारविन्यासो आत्मनिक्षेप उच्यते, इतिलक्षणात् उपरिचराख्याने।

अहं-मम से युक्त देह और देहसम्बन्धी वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदि का भार श्रीहरि को सौंप देना ही आत्मनिवेदन है।

आत्मा राज्यं धनं मित्रं कलत्रं वाहनानि च।
एतद्भगवते सर्वमिति तत्प्रोज्झितं सदा।।

—श्रीमद्रामायणे भरत:

आत्मा—तन, मन, इन्द्रियादि, राज्य, धन, मित्र, नारी, हाथी, घोड़े, रथ आदि सबकुछ सदा भगवान् के ही हैं, उन्हींको अर्पित हैं।

द्वयक्षरन्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।

—इति भारतवचनात्

महाभारत में कहा है-दो अक्षर—अहं-मम यह मृत्यु है, संसार-चक्र है और तीन अक्षर—तदहं या दासोहं-मैं उनका हूँ या उनका दास हूँ, यह नित्य ब्रह्म की, श्रीहरि की प्राप्ति है।

सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यादि चरमोपदेशात्।

गीता के अन्त में साररूप में भगवान् ने तो स्पष्ट आत्मसमर्पण का ही उपदेश किया है-सर्वधर्मों को-सम्पूर्ण कतर्व्यकर्मों के आश्रय को त्यागकर केवल एकमात्र मेरी शरण में आ जा।

(६) दैन्य–दीनता–उपाय अर्थात् साधन करने पर भी उन साधनों की सिद्धि होना तो दूर, बल्कि अनेक विपरीत कार्य, हानि, उपद्रव आदि प्राप्त होने पर जो कर्तापन आदि का अभिनिवेशरूप गर्व की हानि है, उसे कार्पण्य या दैन्य कहते हैं।

उपाया नैव सिद्ध्यन्तीत्यपाया विविधास्तथा।
इति या गर्वहानिस्तद्दैन्यं कार्पण्यमुच्यते।।

उपाय-साधन तो एक भी सिद्ध नहीं होते, बल्कि अपाय–विरुद्ध गुण, हानि, उपद्रव आदि स्वतः प्राप्त होते रहते हैं, इसलिए मैं करूँगा, ऐसी जो कर्तापन की हानि है, वही दैन्य है। इस दीनता को ही कार्पण्य कहते हैं।

शरणागति के इन छः अंगों में आत्मनिवेदन अंगीरूप से मुख्य है और सब सहयोगी अंगरूप हैं।

अशेष रसिकचक्रचूड़ामणि, महामधुर रससार नित्यविहार प्रकाशक, कलियुगपावनावतार रसिक–अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज सर्वप्रथम आत्मनिवेदन को सर्वजन बोधनार्थ भाषापद्य सों वर्णन करते हैं।

अथ प्रथम पद– **राग–विभास**

ज्यौंही ज्यौंही तुम राखत हो त्यौंही त्यौंही रहियत है हो हरि।
और तौ अचरचे पाँइ धरौं सो तौ कहौ कौन के पैंड भरि।।
जद्यपि कियौ चाहौं अपनौ मन भायौ
सो तौ कैसे* करि सकौं जो तुम राखौ पकरि।
कहिं श्रीहरिदास पिंजरा के जनावर लौं
तरफराइ❖ रह्यौ उड़िवै कौं कितौक करि।।१।।

अर्थ–हे हरि! आप जैसे–जैसे रखते हो, वैसे–वैसे ही रहा जाता है, अर्थात् मैं उसी–उसी प्रकार से रहता हूँ। क्योंकि मेरे स्वरूप की स्थिति और प्रवृत्ति आपके ही अधीन है। और तो अचरचे–आपके

*पाठान्तर–क्यौं। ❖फटफटाय।

विचार अर्थात् आपकी इच्छा बिना पाँय धरौं, माने चलना चाहूँ या कुछ भी करना चाहूँ, तो कौन के सामर्थ्य–बल पर पैंड भरि सकौं? अर्थात् आपकी इच्छा के बिना एक पाँव–एक डग भी नहीं धर सकता हूँ, फिर विशेष कर्तव्य की तो बात ही कहाँ है?

यद्यपि आपकी रुचि बिना कुछ भी करने की सामर्थ्य नहीं है, फिर भी संकल्प–विकल्पात्मकरूप मन होने से वह नये-नये संकल्प–मनोरथ करता रहता है और जैसे-जैसे संकल्प होता है, वैसे ही सुख की इच्छा होती है और प्रयत्न भी करता है, यह मन का स्वाभाविक धर्म है। यद्यपि अपने मन की रुचि के अनुसार करना चाहने पर भी किसी भाँति मन भाया कर नहीं सकता हूँ, क्योंकि आपने गुण–स्वभावरूपी रज्जु से बाँध रखा है, पकड़ रखा है। अथवा आपने अपनी कृपा के बल से पकड़ रखा है, तो इधर-उधर कैसे भटक सकता हूँ?

रसिक–अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं-पिंजरा में बन्द पक्षी की भाँति जीव सर्वथा परतन्त्र है, श्रीहरि के अधीन है। यह शरीररूप पिंजरा में बँधा हुआ उससे निकलने–छूटने के लिये, सुख-प्राप्ति के लिए तड़फ रहा है; किन्तु जैसे पिंजरा में बंद पक्षी पंख फटफटाकर रह जाता है, उड़ नहीं सकता, ऐसेही इस जीव की दशा है। यह सर्वथा श्रीहरि के वश में है।

अथवा श्रीस्वामी जी महाराज गूढ़ रहस्य का संकेत कर रहे हैं–शरणागतजन–उपासकजन तन–मन–वचन से विश्वास–भावसहित भक्ति–साधन करने पर भी अपने बल से न विकारों को दूर कर पाता है और न भाव-प्रेम ही जाग्रत कर पाता है, इससे उसके मन–प्राण तड़फते हैं, व्याकुल होते हैं, फिर भी वह निराश–निश्चिन्त होकर बैठता नहीं है। वह धैर्य–उत्साहसहित कृपासिन्धु, स्नेहवारिधि

अपने प्राणाराध्य इष्ट-आचार्य के कृपा-स्नेहमय स्वभाव को स्मरण कर उन्हींकी कृपा, सेवा, प्रेम की प्राप्ति के लिए सदा तड़फता रहता है, सदा तत्पर, तल्लीन रहता है।

मूल- **ज्यौंही ज्यौंही तुम राखत हो त्यौंही त्यौंही रहियत है हो हरि।**

भावार्थ–हो हरि!–हे हरे! अपने आश्रितजनों के पाप दूर करनेवाले। यह हरि शब्द का अर्थ है। इसमें प्रमाण देते हैं-

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।

दुष्ट-मलिन चित्त के पापों को भी जो हरते हैं, उसे हरि जानो।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

श्रीमद्भगवत्गीता

मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर। अथवा **हृञ् हरणे** इति धातुः से हरि शब्द बना।

सर्वं स्वार्थतया हरतीति हरिः।

सबको अपनी वस्तु के समान-निजी वस्तु समझकर हरण करते हैं, वह हरि।

हरणं विष्णोरेवोचितं नान्येषां।
भगवद्भागवत व्यतिरिक्तानां नोचितम्॥

यह हरण या हरने की क्रिया भी श्रीहरि ही के लिये उचित है। भगवान् और भगवान् के भक्तों के बिना अन्य कोई भी हरण करनेयोग्य, समर्थ या उचित नहीं है।

अहं न सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः।

भगवान् स्वयं कहते हैं-मैं किसीके भी वश-अधीन नहीं हूँ, क्योंकि सबका ईश-स्वामी हूँ।

श्रुति भी कहती हैं-

सोऽक्षर परम स्वराट् न तस्येशः कश्चन नाम महद्यशः।
तमीश्वराणां परम महेश्वरं दैवतानाञ्च दैवतं परम॥

वह नित्य, अविनाशी, सबसे श्रेष्ठ और स्वयं प्रकाशरूप है, अर्थात् स्वयं प्रकाशित है, उसका कोई स्वामी नहीं है। वे महायशवाले सब ईश्वरों के ईश्वर हैं।

रुद्र समाश्रिता देवा रुद्रो ब्रह्माणमाश्रितो ब्रह्मा समाश्रितो राजन् नाहं कश्चिदुपाश्रितः।

सम्पूर्ण देवता महादेव–शंकर जी के आश्रित हैं, महादेव जी ब्रह्मा जी के आश्रित हैं और ब्रह्मा मेरे आश्रित है, किन्तु मैं किसी के आश्रित नहीं हूँ।

वे हरि सब कालों के काल और ईश्वरों के ईश्वर हैं। उनके बिना किसीकी सत्ता–अस्तित्व ही नहीं है। वे सबमें भीतर-बाहर से ओतप्रोत हैं। वे अचिन्त्य शक्ति–वैभवसम्पन्न नित्य तत्त्व, नित्य पुरुष हैं। ऐसे होते हुए भी वे सबसे न्यारे हैं–अपने रस–रसिक–स्वरूप में क्रीड़ा परायण हैं। यह सब उन्हींका पसारा है, उन्हींका खेल है, वे खिलाड़ी हैं। श्री भगवतरसिकदेव जी कहते हैं-

सब कालन कौ काल लोकपालन कौं पालै।
आपुन सदा स्वतन्त्र नियन्ता बुद्धि विसालै॥
उपजावै सब विस्व रमैं फिर ताके माहीं।
देखत भूली करै परै भूलन में नाहीं॥
षट ऐस्वर्य समर्थ हरि सो भगवत असरन सरन।
तन मन जन की वेदना हरहु मोद मंगल करन॥२॥

वे सब कालों के काल हैं और सब लोकपालों–ईश्वरों के ईश्वर हैं, उनका भी पालन-पोषण करनेवाले हैं। किन्तु वे अपने निज नित्यस्वरूप से इनसे सदा भिन्न, स्वतन्त्र रहते हैं। उस नित्यस्वरूप में इन

कार्य-कलापों के अस्तित्व का भी प्रवेश नहीं हैं। क्योंकि वे नियन्ता-सबका नियमन करनेवाले हैं, सबके शासक हैं, सबके कर्ता, भर्ता स्वामी हैं। उनकी बुद्धि विशाल है-महान् ज्ञानवान् हैं। वे सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं, फिर उसमें आप आत्म-परमात्मस्वरूप से प्रवेश करके रमण करते हैं। वे अपने रचित स्वरूपों से देखते-देखते ही सबको भुला देते हैं, मोहित कर देते हैं, किन्तु आप भूलन में-मोह में पड़ते नहीं हैं। क्योंकि आपका ज्ञान अकुण्ठित है-नित्य चैतन्य है। आप परम ज्ञानस्वरूप और ज्ञान के सागर हैं। अपने परम ऐश्वर्य-माधुर्यमय स्वरूप में आप सदा स्थित रहते हैं। सम्पूर्ण ज्ञान, सम्पूर्ण वैराग्य, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण विभूति (ऐश्वर्य) और सम्पूर्ण श्री माने दिव्य गुण-शोभा, माधुर्य, लक्ष्मी आदि इन छः ऐश्वर्यों से युक्त परम शक्तिवान् जो श्रीहरि-नित्य विहारी हैं, वे प्रभु अशरण शरण हैं अर्थात् जिनको कहीं ठौर-आश्रय नहीं है, ऐसे पतित, हीनजन को भी आश्रय देनेवाले, रक्षण-पोषण करनेवाले हैं। श्री भगवतरसिक जी कहते हैं-वे मोद-आनन्द, मंगल-कल्याण करनेवाले श्रीहरि अपने जन की तन-मन की वेदना को हरण करें। माने जो तन-मन, सर्वात्मा से भक्ति-भजन में लगे हुए अति व्याकुल-विरह व्यथित हैं, ऐसे अपने जन-दास की वेदना-पीड़ा-व्यथा को जानकर दर्शन-सेवा देकर उसे दूर करें।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं-

इच्छा एक अनेक ह्वै, पुनि अनेक ह्वै एक।
श्री बिहारीदास संसै नसै, ताकौ नाम विवेक।।६००।।

श्रीनित्यविहारी की इच्छा ही एक से अनेक स्वरूप धारण कर लेती है, अर्थात् सम्पूर्ण धामों और सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का रूप धर लेती हैं, फिर अनेक से एक हो जाती है, अर्थात् नित्यविहारी ही एक सदा क्रीड़ायमान-विराजमान रह जाते हैं। श्रीस्वामी बिहारिणि

देव जी महाराज कहते हैं–यह भी संशय–भ्रम है, जो उनकी इच्छा रूप माया से दीखता है, यह भी दूर हो जाय, उसीका नाम विवेक है। क्योंकि वहाँ न एक से अनेक हैं और न अनेक से एक है। एक नित्यविहारी ही नित्य सतत-एकरस विराजमान हैं।

वे नित्य स्वयंप्रकाश हैं, अर्थात् उनको प्रकाश करनेवाला कोई नहीं है, वे स्वयं ही अपनेआप से प्रकाशित हैं।

महान्त श्रीस्वामी किशोरदास जी इस स्वयंप्रकाश की व्याख्या करके कहते हैं-

बिहरत आप ही आप प्रति, लखत आपनौ रूप।
क्रीड़त आपही आप प्रति, स्वयं प्रकास अनूप॥

-निजमत सिद्धान्त

वह परम तत्त्व स्वयं प्रिया, प्रियतम, सहचरीसमूह और धामरूप में नित्य प्रकट विराजमान होकर क्रीड़ा कर रहा है। वहाँ अन्य कोई नहीं है। वह स्वयं अपने आपसे विहार–केलि कर रहा है, वह स्वयं अपने आपके रूप-माधुर्य को देखकर मुग्ध-विवश हो रहा है और वह स्वयं अपने आपके संग क्रीड़ा-केलि-खेल कर रहा है, ऐसा वह अनूप-विचित्र, अचिन्त्य, अवर्णनीय स्वयंप्रकाश है।

ऐसे सबके मूल, सर्वाधार प्रभु की शरणागति ही परम सुखमयी और कल्याणस्वरूपा है। श्रीस्वामी जी महाराज कहते हैं-

हे हरि! मेरे तन और मन की समस्त वृत्तियों की सत्ता या अस्तित्व आपके बिना नहीं है। आपकी इच्छा–सत्ता के बिना न तो तन ही कुछ चेष्टा–क्रिया कर सकता है और न मन ही कुछ विचार कर सकता है। मैं सर्वदेश और सर्वकाल में वस्तु-विषयक ज्ञान और क्रिया की प्रवृत्ति में स्वतन्त्र नहीं हूँ, आपके अधीन हूँ। आप यन्त्री हैं और मैं यन्त्र हूँ। आप जैसे-जैसे नचाते हैं, मैं वैसे-वैसे ही नाचता

हूँ। मेरे स्वरूप की स्थिति और प्रवृत्ति आपके अधीन है, अर्थात् आप जैसे-जैसे प्रेरणा करते हैं, वैसे-वैसेही सब इन्द्रियाँ कार्य में प्रवृत्त होती हैं। गौमती तन्त्र में कहा है-

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानामि पापं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोसि तथा करोमि॥

मैं धर्म को-धर्म के गुण, लक्षणों को जानता हूँ, किन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति-झुकाव, लगन, आसक्ति नहीं होती, अर्थात् उनको मैं कर नहीं सकता और पापों को-पापों के लक्षण और परिणाम को जानता हूँ, फिर भी उनसे दूर, विरत नहीं होता हूँ, अर्थात् उन वृत्तियों को रोक नहीं सकता हूँ। कोई हृदय में विराजित सर्वसमर्थ-सर्वज्ञ देव-श्रीहरि जिस वृत्ति या कार्य में नियुक्त करते हैं, लगाते हैं, प्रेरित करते हैं, मैं वैसेही करता हूँ।

पद्म पुराण के उत्तरखण्ड में अष्टाक्षर के नमः शब्द के व्याख्यान में कहा है-

अहङ्कृतिमकारः स्यान्नकारस्तन्निषेधकः।
तस्मात्तु नमसा क्षेत्रि स्वातन्त्र्यं प्रतिषिध्यते॥

नमः का मकार अहंकार वाचक है और नकार निषेध वाचक है। अर्थात् नमः शब्द के उपदेश से क्षेत्री-जीव के अहंकार का-स्वाधीनता का, कर्तापन का, स्वामीपन का निषेध-खण्डन किया है। जीव सब प्रकार से भगवत्परतन्त्र है, अर्थात् भगवत्-अधीन जीवन है। जीव भगवत्-शक्ति से ही शक्तिवान् है। उनके बिना इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। ऐसे विचारकर अपनी अहंता-ममता आदि सम्पूर्ण भार को उनके चरणकमलों में समर्पितकर उनके भरोसे सर्वप्रकार से निश्चिन्त हो, उन्हींकी प्रीति, सुख के लिये अपने सम्पूर्ण आचरण करना चाहिये।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा है–

अहङ्कार निवृत्तानां केशवो नहि दूरगः।
अहङ्कारयुक्तानां हि मध्ये पर्वतराशयः।।

जिनका अहंकार–कर्तापन, स्वातन्त्र्य दूर हो गया है, उनसे श्रीहरि दूर नहीं गये हैं, अर्थात् उनके निकट हैं, उनसे मिले हुए ही हैं, इसीलिये उनका दीनबन्धु नाम प्रसिद्ध है और जो अहंकार से भरे हुए हैं, अर्थात् अनेक कामना, वासनायुक्त कर्तापन, स्वातन्त्र्य जिनका है, उनके और श्रीहरि के मध्य में महान् पर्वतराशि है, अर्थात् श्रीहरि निकट होते हुए भी उनके लिये अति दुर्लभ हैं।

श्रीमद्भागवत तृतीय स्कंध में ब्रह्मस्तव में स्वतन्त्र-अभिमानियों के लिये संसार-भ्रम वर्णित है-

यावत्पृथकत्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थमायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत्।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत व्यर्थापि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था।।९/९।।

यह जीव भगवान् का जन है, दास है, उनका सुखरूप-स्वरूप है, फिर भी जबतक उनसे भिन्न अपने को मानकर तन, मन और उनके विषय तथा धन, गुण, रूप, वैभव आदि मायाबल को अपना मानता है, अपने को इनके ईश–स्वामीरूप में देखता है, तबतक उसका संसारचक्र नष्ट नहीं होता है। वह व्यर्थ ही क्रियाओं और विषयों में वर्तमान रहते हुए दुःखों के समूह को ढोता है।

उनकी माया अति बलवान् और दुस्तर है। यदि स्वतंत्र–अहंकार है, तो बड़े-बड़े विद्वान्-ज्ञानवान्, साधक और सिद्ध भी उसके मोह–जाल में मोहित–भ्रमित हो जाते हैं, फिर अन्यजनों की क्या शक्ति है?

कहा कहौं साधक बपुरा की सिद्ध बिगूचे भरत समान।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी

साधक तो शक्तिहीन, अशक्त है, उस बिचारे की क्या बात कहूँ? राजर्षि भरत के समान सिद्ध पुरुष भी मायारूप मृग के संग से मारे गये, साधन से च्युत हो गये।

श्रीमद्भागवत अष्टम स्कंध में प्रह्लाद जी भगवान् वामन से स्तुति करते हुए कहते हैं-

त्वयैवदत्तं पदमैन्द्रमूर्जितं हृतं तदेवाद्य तथैव शोभनम्।
मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहो विभ्रंशितो यच्छ्रिय आत्ममोहनात्॥

-८/२२/१६

प्रभो! आपने इसे महान् वैभवसम्पन्न इन्द्रपद दिया था, आज आपने ही उसे छीन लिया, यह आपका देना जैसा सुन्दर है, वैसा लेना भी। इस व्यवहार से बलि पर आपने महान् अनुग्रह किया है, ऐसा मैं मानता हूँ। क्योंकि यह जो श्री–सम्पत्ति है, वह आत्मा को मोह–भ्रम में बाँधकर कल्याणपथ से पतित–भ्रमित या गिरानेवाली है।

यया हि विद्वानपि मुह्यते यतस्तत् को विचष्टे गतिमात्मनो यथा।
तस्मै नमस्ते जगदीश्वराय वै नारायणाखिललोकसाक्षिणे॥

-८/२२/१७

लक्ष्मी के मद से तो विद्वान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। उसके रहते अपने वास्तविक स्वरूप को ठीक-ठीक कौन जान सकता है? अर्थात् नहीं जान सकता। फिर आप परमात्मा की गति, स्थिति को कैसे जान सकता है? अर्थात् नहीं जान सकता। अत: उस लक्ष्मी को छीनकर महान् उपकार करनेवाले समस्त जगत् के ईश्वर, सबके हृदय में विराजमान और सबके परम साक्षी भगवान् श्री नारायणदेव को मैं नमस्कार करता हूँ।

वहीं महारानी विन्ध्यावली भी स्तुति करती हुई कहती हैं -

क्रीड़ार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतन्ते
स्वाम्यन्तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्य्युः।
कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति
त्यक्तह्रियस्तदवरोपितकर्तृवादाः॥

-८/२२/२०

हे प्रभो! आपने अपनी क्रीड़ा के लिए इस सम्पूर्ण जगत् की रचना की। इसके रचियता रक्षक, पालक, सहंर्ता और स्वामी आपही हैं। किन्तु दूसरे जो कुबुद्धिजन हैं, वे लज्जा को त्यागकर इसे अपनी वस्तु मानकर स्वामी बन बैठते हैं, अपने में स्वामीपन का आरोपकर अपने को स्वतन्त्र ईश मानने लगते हैं, ऐसा करने पर भी वे आपकी क्या हानि पहुँचाते हैं? अर्थात् कुछ भी नहीं। वे ऐसे वादमात्र से भी स्वस्वामीपन से रहित हैं। क्योंकि वे आपके अधीन हैं, आपके खेल की वस्तु हैं।

इसमें भाव यह है—तीन लोक मेरे द्वारा अर्पित हुए, अब तीसरा चरण मेरे मस्तक पर रखिये, इस तरह मैं अपने वचन को सत्य करूँगा। ऐसे देहादि में स्वामीपन का प्रकाश करना कुबुद्धि और निर्लज्जता है, क्योंकि आपही सबके स्वामी हैं।

इस भाँति जीव सर्वदेश और सर्वकाल में वस्तुविषयक ज्ञान और क्रिया की प्रवृत्ति में स्वतन्त्र नहीं है; किन्तु श्रीहरि के अधीन है। वे श्रीहरि सबके नियन्ता, विश्वात्मा और सर्वाधार हैं।

श्रीनिम्बार्क भगवान् ने भी कामधेनु ग्रन्थ में जीव के स्वरूप के निरूपण में कहा है-

ज्ञानस्वरूपञ्च हरेरधीनम् इति।

जीव ज्ञानस्वरूप है। सच्चिदान्दमय है। ऐसे होते हुए भी श्री हरि के अधीन है।

श्रुति में भी कहा है-

तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्।

उन्हींके प्रकाश से, तेज से जड़-चेतन, लोक-परलोक आदि सब प्रकाशित हैं।

तस्याभासा सर्वमिदं विभाति।

उसीके आभास—प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है।

एष एव साधुकर्मकारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो उन्निनीषते।
एष एवऽसाधुकर्मकारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधोनिनीषते॥

ये श्रीहरि ही जिससे उत्तम, श्रेष्ठ कर्म—कार्य कराते हैं, वह इस लोक में उन्नति को—उत्तम गति को प्राप्त होता है और ये ही जिससे असाधु—दुष्ट, निन्द्य कर्म कराते हैं, वह इस लोक में अधोगति –पापमय गति को प्राप्त होता है।

सकारयेः पुण्यमथापि पापं न तावतापि दोषवानीशितापि।

जीव से पुण्य करावें या पाप, अपनी ईशिता गुण से वे सर्वथा दोषरहित हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं-

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ १०-४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥१०-५॥

निश्चय करने की शक्ति, यथार्थ ज्ञान, असम्मूढ़ता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियों को वश में करना, मन को रोकना तथा सुख-दुःख, उत्पत्ति-प्रलय और भय-अभय तथा अहिंसा, समता, सन्तोष, तप—स्वधर्म का आचरणरूप तप, दान, कीर्ति और अपकीर्ति-ऐसे ये प्राणियों के नाना प्रकार के भाव मुझसे ही होते हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५-१५॥

मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामीरूप से स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन—विचार के द्वारा बुद्धि में रहनेवाले संशय—विपर्यय आदि दोषों का नाश होता है और सब वेदों द्वारा मैं ही जानने के योग्य हूँ तथा वेदान्त कर्ता और वेदों को जाननेवाला भी मैं ही हूँ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ १८-६१॥

हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्र में आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थित है।

ऐसे अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि जीव परतन्त्र है-सर्वथा श्रीहरि के अधीन है। जीव स्वरूपतः सहज भगवत्दास है। माया के संसर्ग से अविद्या से-अज्ञान से लिप्त होकर इसने अपने में स्वतंत्र कर्तापन-भोक्तापन का आरोप कर लिया—ऐसे मान बैठा, इसीसे नाना योनियों के क्लेश भोगते हुए संसारसागर में भटक रहा है। जब यह श्रीहरि की शरण ग्रहण करेगा, तब ही अपने को जानकर, उनके दासत्व को स्वीकार कर, सेवा को ग्रहण कर उनके निकट पहुँच सकता है। इसी शरणागति को श्रीस्वामी जी महाराज ने **ज्यौंही ज्यौंही तुम राखत हो** पद से दर्शाया।

भाव यह है कि भगवज्जन अपने को सब दिन, सब प्रकार से श्रीहरि के अधीन ही मानते हैं। उनके सब कर्म भगवत्सम्बन्धी—भगवान् के लिये ही होते हैं। उसमें भी वे अपने में किसी प्रकार के कर्तापन का अभिमान नहीं रखते हैं। वे सब प्रकार से अपने सेव्य श्रीहरि पर ही निर्भर रहते हैं। श्रीभगवतरसिकदेव जी कहते हैं-

भगवत जन स्वाधीन नहीं, पराधीन जिमि चंग।
गुन दीने आकास में, गुन लीने अंग संग॥२३॥

जैसे चंग–पतंग आकाश में उड़ने की अनेक कला दिखाता है, किन्तु कला तो गुन–डोर में है, जो उड़ानेवाला अपने हाथ में लिये हुए है। अर्थात् पतंग और डोर में जो गुन और कला हैं, वे उड़ानेवाले की ही हैं, उसीके अधीन हैं। ऐसे ही भगवत् जन–श्री हरि के दास सब प्रकार से कर्तापन के अभिमान से मुक्त रहते हैं। उनके तन–मन के सभी विचार और कर्म अपने इष्ट–श्रीहरि के लिये ही होते हैं। ऐसा करते हुए भी वे अपने में किसी प्रकार का अभिमान नहीं रखते हैं। श्रीहरि ही करा रहे हैं, उन्हीं की कृपा से ही हो रहा है, ऐसा ही अनुभव करते हैं, ऐसा ही भाव रखते हैं, ऐसा ही जानते हैं।

यह आत्मशरणागति साधक और सिद्ध दोनों अवस्थाओं में एकसी रहती है। साधकावस्था में यह स्वीकृत होती है, साधक इसको तन–मन, सर्वात्मा से ग्रहण करता है, बल्कि सिद्धावस्था में तो यह सर्वात्मा का सहजस्वरूप बन जाती है। श्रीहरि से तन, मन, प्राण, सर्वात्मा से एकता होते हुए भी उनका सुख और रुचि लिये सर्वात्मा से उन्हें सेवन करना, लाड़ लड़ाना ही ऐसे जनों का जीवन, आधार, सर्वस्व बन जाता है। साधक देह से वे सर्व प्रकार से श्रीहरि पर ही अनन्य भावपूर्वक निर्भर रहते हुए उन्हें लाड़ लड़ाते हैं–प्रेमपूर्वक नाम, गुण गाते हुए सेवन करते हैं, लोक–परलोक की चिन्ता न करते हुए उन्हींके भजन में निमग्न रहते हैं। श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी कहते हैं–

जो तू आयौ हरि सरन, तौ निर्भय पाँव पसारि।
रसना करि हरि नाम रट, नामी नैन निहारि॥३५५॥

जो तू श्रीहरि–जुगल-किशोर की शरण आया है- उनकी शरण ली है, तो लोक-परलोक की चिन्ता, कर्म-धर्म, विधि-निषेध आदि का आश्रय तथा देह और परमार्थ के कार्यभार अर्थात् योग-क्षेम की भी चिन्ता छोड़कर, भयमुक्त होकर पाँव फैलाकर सो जा, अर्थात् निश्चिन्त हो जा। बस, एक ही तेरा कर्तव्य है-जीभ से श्रीहरि के-श्री प्रियालाल के नाम को रटना-निरन्तर, एकरस जप करना और नेत्रों से-भावनेत्रों से नामी-श्रीहरि-श्रीश्यामाश्याम को देखना। क्योंकि मन, इन्द्रियाँ चैतन्य हैं। ये एक क्षण भी कर्म किये बिना रह नहीं सकतीं। जब ये व्यर्थ चिन्तन, विषय चिन्तन करेंगी, फिर शरणागति कैसे रहेगी? फिर तो संसारोन्मुख जीवन हो जायगा। इसीलिये आश्रित जन अपने सेव्य का निरन्तर सेवन करते हैं।

सिद्धदेह-सहचरीदेह, अन्तश्चिन्तित सखीदेह से वे अत्यन्त अनुराग, प्रेम-रसभाव लाड़पूर्वक अपने प्राणाधार, प्राणसर्वस्व श्रीहरि–युगल-किशोर को लड़ाते हैं। सेवा-लाड़ के आगे अश्रु, पुलक, विवशता आदि प्रेम की ऊँची से ऊँची दशायें और श्रीहरि का दर्शन, स्पर्श भी उनके लिये वाञ्छनीय नहीं हैं। सेवा में ये सब तो प्राप्त होते ही हैं, किन्तु उनका समर्पण, प्रेम अति उच्च कोटि का होने से सेवा के आगे वे इन सब भावों को अपने वश में रखते हैं। महान्त श्रीस्वामी किशोरदास जी कहते हैं-

सख्य भाव ऐसौ प्रबल, आत्म निवेदन सार।
किसोरदास ता भाव के, अमित कठिन विस्तार।। १२।।
ततसुख मधि छिन छिन सुखित, अप सुख गंध न लेस।
किसोरदास या भाव कौ, सूक्षम दुर्गम देस।। १३।।
सूक्षम दुर्गम देस के, श्रीहरिदास नरेस।
किये दृगनि कूँ आरसी, सजत सिंगार सुपेस।। १४।।

दम्पति के सुख में सुखित, सम्पति सुतन बनाय।
किसोरदासि सहायक बनैं, तब प्रीतम अकुलाय।। ९५।।
प्रीतम की निज आतमा, प्रिया प्रान कौ प्रान।
ताहि निवेदत सहचरी, करि किसोर रस पान।। ९६।।

-सिद्धान्त सरोवर

ऊपर वर्णित सख्य (सखी) भाव ऐसा प्रबल है, फिर आत्म समर्पण भाव तो सबका सार है। इस सहचरीभाव के आत्मनिवेदन का विस्तार असीम और दुर्लभ है। इस भाव में तत्सुख–दम्पति–युगल किशोर के सुख में क्षण-क्षण सुखी रहना, सदा-सर्वदा, नित्य-निरन्तर प्रियालाल के सुख को बढ़ाते हुए उन्हें विलसते हुए देखना ही अपना आहार, विहार आदि सर्वस्व है। जिसमें अपने सुख की–उन्हें विलसते देखकर स्वयं के विलास की इच्छा का न होना, अथवा प्रेम की अवस्था के वशीभूत होना, या मूर्च्छित होना इत्यादि भावों की लेशमात्र–अणुमात्र गंध भी नहीं है। इन सब भावों और देशों-धामों से वह अति सूक्ष्म और दुर्गम देश है, जिसमें रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज नरेश हैं। जिनके भीतर दम्पति का अतुलित, असीम, अपार नित्यविहार-रससिन्धु लहरा रहा है। वे उस रससिन्धु के मूल और स्वरूप हैं। उसी रससिन्धु की प्रेम-रस लाड़-चावमयी अनन्त तरंगें उनके अंगों-नेत्रों में छायी रहती हैं। उन्हीं रस-भाव तरंगमय नेत्रों की आरसी–दर्पण किये हुए दम्पति का अति सुन्दर श्रृंगार सजाते हैं, अर्थात् प्रियालाल को उन्हीं रसभाव-नव-नव रसविलासरूप श्रृंगार से सुसज्जित करते हैं।

सहचरी अपने प्रेमरसमय सुन्दर देह को दम्पति की सम्पत्ति बनाकर अर्थात् स्वयं ही श्रीवन, यमुना, द्रुम, वेली, खग, मृग, कुंज, भवन, श्रृंगार, भोग सामग्री, राग-रागिनी, दम्पति के अंग-अंग में

प्रेम, स्नेह, राग, अनुराग, भाव आदि विहार की सम्पूर्ण सामग्री बनकर प्रियालाल के सुख में सुखी रहती है। जब इस प्रकार सहचरी सहायक बनती है, तब उस रस में प्रियतम-श्री लाल विहारी उन्मत्त हो जाते हैं और उस रस को पान करने के लिये विह्वल-विकल हो उठते हैं। वह रस प्रियतम को परम सुख देनेवाला और उनकी निज आत्मा है-जीवन सर्वस्व है तथा प्रिया—श्रीकुंजविहारिणि के प्राणों का प्राण है, उसे सहचरी निवेदित—अर्पित करती है। श्रीयुगल किशोर उसे पान करके परमानन्दित रहते हैं।

ऐसे जन परम निष्कामी और शूर होते हैं। काम को—स्वसुख को जीतना बहुत दुर्गम है। इन रसिक-अनन्य जनों ने अपने इष्ट के शरणबल से उस दुर्जय काम को—स्वसुख को भी जीत लिया है। अपने इष्ट का सुख ही उनका सर्वस्व होता है। श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं—

नैननि देखौं और नहिं श्रवन सुनौं नहिं और।
घ्रान न सूँघौं और कछु रसना कहौं न और॥
रसना कहौं न और त्वचा परसौं नहिं औरै।
कुंजबिहारी केलि झेलि इन्द्रिन सब ठौरै॥
भगवत रसिक अनन्य कोक उपदेसौं सैननि।
बैननि मैन जगाइ रैन दिन देखौं नैननि॥२॥

-अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ उत्तरार्द्ध

मैं नेत्रों से श्री युगल की रूप रस माधुरी के अलावा और कुछ भी देखता नहीं हूँ, कानों से श्री युगल के मधुर सरस वचनों और नाम, गुण को छोड़ और कुछ भी सुनता नहीं हूँ, नासिका से श्रीयुगलकिशोर के श्रीअंग की सुगन्ध के अतिरिक्त और कुछ भी सूँघता नहीं हूँ, जीभ से प्रियालाल के नाम, गुण गान के बिना और कुछ भी कहता नहीं हूँ, त्वचा—स्पर्शइन्द्री या शरीर से श्यामाश्याम

को छोड़ और कुछ भी स्पर्श करता या छूता नहीं हूँ। इस प्रकार मेरी सब इन्द्रियाँ श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि के महामधुर क्रीड़ा-विहार रस को झेलते हुए निज ठौर में लगी हुई हैं। श्री भगवतरसिक जी कहते हैं कि इस भाँति देखने, सुनने आदि में श्रीप्रिया-प्रियतम का सुख ही उनका जीवन है। केलिरहस्य को देखते हुए सैन-संकेतों द्वारा नयी-नयी कोककला-कामकला का उपदेश करते हुए और क्रीड़ा-रहस्यमय वचन-रचना द्वारा प्रेम-काम को जगाते-प्रवर्द्धित करते हुए नित्यविहार रससिन्धु को उद्वेलित, लहरान्वितकर उसमें रसमग्न, रसविवश, रसविलसित दम्पति को रात्रिदिन देखता रहता-सेवन करता रहता हूँ।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं-

नेष्टा सब चेष्टा भई, नेम भुलायौ प्रेम।
श्रीबिहारीदास परचो भयौ, कुसल दसहुँ दिसि खेम॥

प्रेम रस में डूबे हुए की सब चेष्टायें-क्रियायें ही इष्ट निष्ठामय हो जाती हैं। प्रेम जप, तप, ज्ञान, वैराग्य आदि नियमों को भुला देता है। प्रेम रस में डूबे जन के लिये दशों दिशाओं में-सर्वत्र कुशल-क्षेम रहता है, अर्थात् सर्वत्र अपने रसमय प्रिय का संग-सेवन प्राप्त होता रहता है।

मुनिवर श्रीनारद जी ने भक्ति सूत्र में कहा है-

तज्ज्ञात्वा तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदैव चिन्तयति॥५५॥

इस प्रेम को प्राप्तकर प्रेमी इस प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिन्तन करता है। प्रेम रस में डूबा हुआ प्रेमानन्दमय प्रेमी सर्वत्र अपने प्रेममय, रसमय श्रीप्रियतम को ही देखता है। उसे कहीं दूसरी वस्तु नहीं दीखती। उसके कानों में जो कुछ भी आवाज आती है, वह प्रेममय संगीत लहरी ही होती है, वह सर्वदा उन्हींकी वाणी, नूपुर,

किंकिणी, मुरली आदि की मधुर ध्वनि में–तान में मस्त रहता है। वह जो वर्णन करता है, उन्हींका वर्णन करता है, वह जो चिन्तन करता है, वह भी उन्हींका चिन्तन होता है।

इस प्रकार ज्यौंही-ज्यौंही पद से श्रीस्वामी जी महाराज ने जीव को–जन को–दास को श्रीहरि पर सर्वदा-सर्वथा निर्भर रहना बताया।

अब आगे कहते हैं कि वह अपने अंगों की चेष्टा करने में भी स्वतन्त्र नहीं है।

मूल- और तौ अचरचे पाँइ धरौं सो तौ कहौ कौन के पैंड भरि॥

भावार्थ-"संख्या चर्चा विचारणा" ऐसे कोष में है। उससे चर्चा का अर्थ विचार है। न चर्चा अचर्चा। और तो माने ऊपर कहे हुए ज्यौंही-ज्यौंही के अनुसार अचरचे–माने आपके विचार अर्थात् इच्छा के बिना पाँय धरौं, माने चलना चाहूँ या कुछ भी करना चाहूँ तो कौन की–किसकी सामर्थ्य–बल पर पैंड भरि सकौं? अर्थात् आपकी रुचि के बिना एक पाँव–एक डग भी नहीं धर सकता हूँ, फिर विशेष कर्तव्य की तो बात ही कहाँ है? यही बात इन्द्र सों वृत्रासुर जी ने कही है-

लोकाः सपालाः यस्येमे श्वसन्ति विवशा वशे।

श्रीमद्भागवत

पालक–ब्रह्मादि लोकपालसहित ये सम्पूर्ण लोक परम पुरुष–श्रीहरि के अधीन, विवश हुए श्वास लेते हैं–चेष्टा करते हैं। ये सब पराधीन हैं। श्रीहरि के अधीन जीवन जीते हैं। इसलिये कार्य करने में भगवत्-इच्छा ही कारण है। उसके बिना एक पाँव भी नहीं धर सकता हूँ। इससे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर, प्रभु प्रयोजक कर्ता हैं और जीव प्रयोज्य कर्ता है। यन्त्रवत् उनके अधीन है।

श्रीमद्भागवत में कहा है-

विष्णुगत्यैव चरणौ नोत्तिष्ठत्तदा विराट्।
पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः॥

जबतक श्रीहरि विराट् में प्रवेश नहिं हुए, तबतक उसमें उठने की, चलने की शक्ति नहीं आई। भगवान् विष्णु का निवास चरणों में है। उन्हीं से गति, स्थिति, योग्यता आदि हैं।

पैंडे नाम प्रतीक्षा का भी है। आपकी चर्चा को छोड़ और कौन बात की प्रतीक्षा सों भरि–माने धारण करूँ। अर्थात् आपकी प्रतीक्षा सों ही धारण करता हूँ। भाव यह है कि जड़ प्रकृति में जो चलने-फिरने की सामर्थ्य है, वह चेतन पुरुष के सम्बन्ध से ही है। यद्यपि संसार में जो दुःख–सुख, हर्ष–शोक, संयोग–वियोग आदि होते हैं, वे जीवों के प्रारब्ध कर्म के ही फल हैं और प्रारब्ध–कर्मफल की रचना करनेवाले और जैसी उसकी विधि है, उस प्रकार रखनेवाले श्रीहरि हैं। सम्पूर्ण प्रकृति में जो भी चेष्टाएँ होती हैं, वे सब श्रीहरि की इच्छा से ही होती हैं। कर्म करने की शक्ति भी देनेवाले श्रीहरि ही हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वाभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

–१८–६१॥

हे अर्जुन! शरीररूपी यन्त्र में आरूढ़ हुए सब प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके स्वभावानुसार भ्रमण कराता हुआ उनके हृदय में स्थित है।

शरणागत जन की प्रत्येक चेष्टा–क्रिया, प्रत्येक भाव अपने इष्ट की, सेव्य की रुचि के अनुसार ही होते हैं। वे उनकी इच्छा बिना अपना कोई अस्तित्व ही नहीं मानते हैं। उनकी इच्छा, उनका सुख ही उनका जीवनाधार, सर्वस्व होता है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं–

पाँच दुगुन दस बस करे, मन सु बिहारिनिदास।
मिलि अनन्य सतसंग सौं, भजन बढ़ै विस्वास॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ ये दश और एक मन इनको अपने वश में करके सच्चा विहारिणिदास बने। अर्थात् तुम स्वत: ही विहारिणिदास हो। इनको उनके अर्पण करो, अपने वश में करो, तभी रसिक-अनन्यजनों का सत्संग मिलेगा और उनका संग मिलने से भजन–सेवा-भावना तथा प्रेम-प्रतीति विशेष बढ़ेगी। अथवा जिनको रसिक-अनन्यजनों का संग प्राप्त हुआ, उनमें ही ये गुण आते हैं।

भाव यह है कि जबतक अपनी रुचि और अपनी क्रिया है, तबतक विमुख, अज्ञानी है तथा जब रुचि और क्रिया का त्याग हुआ, तभी सच्चा शरणागत, ज्ञानी, भक्त, प्रेमी और रसिक है।

श्री भगवतरसिक जी कहते हैं-

रुचि लै सुचि सेवा करै सेवक कहियै सोय।
तन मन धन अर्पन करै रहै अपनपौ खोय॥
रहै अपनपौ खोय द्रवैं तब हरि गुरु देवा।
अनमाँग्यौ सब मिलै गूढ़ गुन जानैं भेवा॥
संचित क्रिय प्रारब्ध कर्म दुख जायँ सबै मुचि।
भगवत रसिक कहाय क्रिया त्यागै अपनी रुचि॥१५॥

सेवक वही सच्चा कहानेयोग्य है जो अपने श्रीहरि-गुरु की रुचि–इच्छा-रुख को लेकर और पवित्र, निष्काम तथा चतुरतापूर्वक सेवा करे। अपना तन, मन, धन, सर्वस्व उन्हें अर्पण कर दे, लोक-परलोक में अपना कहाने को कुछ भी न रहे। इतना करके भी अहं-भाव–अभिमान बिल्कुल न रहे, अपने अपनपे को सर्वथा खो दे, मिटा दे। ऐसी दीनता की रहनी हो, तब श्रीहरि और श्रीगुरु द्रवित होते–रीझते, प्रसन्न होते हैं, तब बिना माँगे सब कुछ प्राप्त हो जाता

है। किन्तु सेवक–भक्त सेवा के अलावा कुछ भी चाहता नहीं है। ऐसा भक्त उनकी कृपा से गूढ़ गुण–प्रेम रस के रहस्यमय तत्त्व का मर्म, गूढ़ तत्त्व भी सहज जान जाता है। जब वे तन–मन में बस गये, तब संचित–जो अनन्त जन्मों के पुराने संग्रहित कर्म, प्रारब्ध कर्म–वर्तमान में जो भोगदेह को प्राप्त हो रहे हैं तथा क्रिय–क्रियमाण जो वर्तमान में नये कर्म किये जा रहे हैं, वे सब कर्म–दुःख मिट जाते हैं। जब उपासक–भक्त अपनी रुचि और क्रिया दोनों को त्याग देता है, तब उसकी विमल रसिक संज्ञा होती है।

सेवा और भक्ति के प्रभाव से अनेक जन्मों की संचित–एकत्रित कर्मराशि शीघ्र भस्म हो जाती है और वर्तमान में होनेवाले क्रियमाण हो नहीं पाते, क्योंकि सेवा–भक्ति से तन–मन शुद्ध होने और दृढ़ निश्चय होने से उसकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक क्रिया श्रीहरि–गुरु की आज्ञा और उनके सुख के लिये होती हैं। अब रही प्रारब्ध की बात, तो वह भी विशेषरूप से नष्ट हो जाता है, केवल शरीरनिर्वाह के लिये भगवत् इच्छा से कुछ बचा रहता है। वह भी भक्तिसुख के अनुकूल और वर्धक ही होता है। इस भाँति वह अपनी रुचि के अनुसार क्रिया और रुचि दोनों को त्याग देता है, तब उसकी विमल संज्ञा रसिक होती है। और भी कहते हैं-

काटे कूकर बावरौ जाके लागै भूत।
करै अमल तहँ आपनौ दाबि परायौ पूत॥
दाबि परायै पूत प्रेम की यह गति जानौ।
जीव तें ईश्वर होय साखि ब्रज वधू बखानौं॥

-श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी

जिसको पागल कुत्ता काट लेता है, वह कुत्तामय हो जाता है। उसके शरीर में कुत्ते के परमाणु व्याप्त हो जाते हैं। उसे कुत्ता ही दीखता है और भूस–भूसकर ही मरता है। जिसको भूत लग जाता है,

वह अपना नाम भूत का ही बताता है और भूत की ही क्रिया करता है। दूसरे के पुत्र को गोद में लेने से सब सम्पत्ति और घर आदि पर वह अपना ही अधिकार कर लेता है। प्रेम की ऐसी ही गति जानो–समझो। प्रेम जिस पर अपना अधिकार करता है, जिसको प्राप्त होता है, उसकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ–क्रियाएँ प्रेममय हो जाती हैं। वह प्राणी जीव से ईश्वर बन जाता है, ईश्वरमय हो जाता है। प्रमाणरूप में गोपिकाएँ हैं, जिनकी प्रत्येक चेष्टाएँ कृष्णमय हो गईं, वे कृष्णरूप बन गईं।

कीट-भृंग के न्याय की भाँति अर्थात् भृंगी जिस कीड़े को पकड़ता है, उसे अपना-सा बना लेता है, ऐसे ही प्रेम हृदय में प्रवेश करते ही प्रेमी प्रेमास्पद–श्रीहरिमय हो जाता है।

यहाँ पाँव शब्द सब इन्द्रियों का उपलक्षण है। इससे यह मानना चाहिये कि आपकी इच्छा के बिना कोई भी इन्द्रिय कार्य करने में समर्थ नहीं है। इसमें जन के कर्तापन का, स्वतन्त्रता का, अर्थात् जीवभाव का सर्वथा निषेध है, खंडन है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं-

स्याम उदार करत सब काम। उझकत फिरत पराये धाम।।
श्री बिहारीदास प्रभु करत काज सब सकुचि लज्यारौ।।

श्रीश्यामसुन्दर-श्रीहरि ही लोक-परलोक आदि के सम्पूर्ण कार्य करते हैं, सम्पूर्ण जगत् के वे ही कर्ता, भर्ता, पालक, रक्षक हैं, फिर तुम आशा के वश हुए पराये घर–अन्य प्राणी, देवी-देवता और कर्म-धर्मादि के द्वार पर क्यों झाँकते फिरते हो? परम प्रभु श्री नित्यविहारी ही सब कार्य करते हैं, उनके बिना कोई भी कार्य करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि वे यंत्री है और सब यंत्र हैं, वे खिलाड़ी हैं और सब उनका खेल है। ऐसा समझकर अपने कर्मों, भावों से संकुचित, लज्जित होकर उन्हीं अपने प्राणप्रियतम नित्य साथी,

सच्चे मित्र श्रीहरि को भजो, सेवन करो, जो जन्म-जन्म से, सदा से तुम्हारी बाट देख रहे हैं, तुमसे मिलने के लिये अति आतुर हैं।

श्रीहरि की परम कृपालुता, स्नेहाधिक्यता और मंगलमयता तथा अपनी दीनता, परतन्त्रता, कर्तृत्वहीनता को दिखाते हुए गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं-

अपनौ करि काहे बौरावौ।

करुनानिधि नित विदित जगत जस हमहिं कहा जो विरद लजावौ॥
उक्ति जुक्ति विनती सम्भ्रम तें कहत रहौं दुख दोष नसावौ।
अपनी रुचि राचौ विरचौ तुम प्रेम परसि कैसीयै बनावौ॥
ज्ञानी अभिमानी हौं नाहीं जन जानौ कछु कहौ कहावौ।
तुमहिं न दोष लगै न मोहिं अहंकार सु मो मन मते दृढ़ावौ॥
मोहिं न सकुच होइ न तुम्हें झुकि तिहिं रीति पग धरनि धरावौ।
श्रीबिहारीदास प्रभु सुखसागर त्यौंही राखौ ज्यौं सुख पावौ॥

हे श्रीहरि! आपने मुझे अपना बना लिया, अर्थात् अपना नाम, मंत्र, उपासना, धामवास और उत्तम संग देकर अपना कर लिया, फिर क्यों भरमाते हो, बहकाते हो? मन शरीर और संसार के सुख में उन्मत्त हो रहा है, यह बहकाना है। आपकी कृपा से ही सब कुछ होता है। आपकी कृपा न होने पर ही भ्रम, तम, श्रम आदि घेरे रहते हैं।

आप करुणानिधि हो—करुणा के खजाने या सागर हो। करुणा का लक्षण है— दूसरे के दुःख को देखकर उसे दूर करने के लिये द्रवित चित्त हो जाय, विकल हो जाय। फिर आप तो उस करुणा के असीम, अनन्त, अपार सागर हो। यह आपका विरद—यश, कीर्ति-गाथा सारे जगत् में प्रसिद्ध-विख्यात है। आपने कितने ही पतित, साधनहीनजनों को भी अपनाकर अपनी चरण-सेवा प्रदान की। तुम्हारी कृपा से साधन करने और न करनेवाले साधनहीनजन

भी आपकी सेवा में प्राप्त हो गये; फिर मुझे क्यों भरमाते हो? हमें क्या, आपका ही विरद–यश लज्जित होगा। सभी यही कहेंगे कि यह तो असमर्थ है, उन सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, परम स्नेही के होते हुए भी इसकी ऐसी दशा हो रही है।

प्रभु! दीन, आर्त क्या नहीं करता? मैं कभी उक्ति–शास्त्र, संतवाणी आदि के उत्तम-उत्तम कथन से, कभी अनेक युक्ति–प्रमाणों से, कभी अनुनय-विनयपूर्वक प्रार्थना से, कभी भय, संकोच या आदर से यही कहता रहता हूँ–प्रार्थना करता रहता हूँ कि इन दु:ख-दोषों को दूर करो। जबतक कामना, वासना, ममता, आसक्ति और राग-द्वेष आदि दोष-दु:ख हैं, तबतक सन्मुख कैसे हो सकता हूँ? इसलिये हे हरि! इन्हें शीघ्र दूर करिये। हे हरि! मेरी रुचि–इच्छा, वासना तो असत्य, अमंगल और अनेकरूपिणी है, उसे विरचौ–दूर करो और अपनी परम प्रेम रस और मंगलमयी रुचि के अनुसार मुझे राचौ–रचौ, मेरे तन, मन प्राण, सर्वात्मा को अपनी रुचि के अनुसार ढालो, बनाओ। तुम कैसे भी बनावौ–चाहे खीजकर, चाहे दु:ख-ताप देकर, स्नेहकर, पर बनाओ अवश्य, अपने प्रेम का परस–आस्वादान अवश्य कराओ, अर्थात् अपने प्रेम से परिपूर्ण करो।

करुणामय! मैं स्वरूपज्ञानी, तत्त्वज्ञानी नहीं हूँ, अन्य शास्त्र आदि का ज्ञान मुझमें नहीं है और न किसी साधन, तप, बल आदि का अभिमान ही है। मुझे तो अपना अकिंचन, दीन, हीन जन जानो। अपना जन जानकर कुछ प्रेम रस की बातें कहो और स्वयं सुनने के लिये मुझसे कहावो। क्योंकि जहाँ अपनापन होता है, प्रेम होता है, वहाँ मिलकर बातों को कहे–सुने बिना रहा नहीं जाता। हे हरि! अहंकार ही समस्त दु:ख-दोषों और विमुखता की जड़ है, उसे मन-मति से सर्वथा उखाड़ फेंकिये, जिससे राग-द्वेष और मोहमय विपरीत आचरणों से जो

दोष होते हैं, वह न तुम्हें लगें और न मुझे। क्योंकि जन की निन्दा स्वामी की ही होती है। इसीलिए हे करुणासागर! मेरे मन-मति में अपनी दासतारूप दृढ़ता या अपना सखीभावरूप श्रेष्ठ, उज्ज्वल अहंकार को दृढ़ कर दीजिये, जिससे आपके या आपकी सेवा के अलावा अन्य कुछ भी नहीं जानूँ। भजनपथ से, अनन्य धर्म-पथ से, प्रेमरसपथ से विमुख चलने पर तो मुझे भी संकोच होगा और आपको खीज होगी। इसीलिए उसी उज्ज्वल प्रेम-भाव रीतिरूप धरनि पर मेरे पाँव धरावो, अर्थात् बाँह पकड़कर आपही चलाइये, मुझमें चलने की कुछ भी शक्ति-सामर्थ्य नहीं है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं- हे प्रभु! हे श्री नित्यविहारी। आप सुख के सागर हैं। आपकी प्रत्येक चेष्टा सुखमयी, आनन्द-मंगलमयी है। जैसे आपको सुख मिले, आपकी प्रसन्नता हो, वैसे ही मुझे रखिये। मेरी रुचि और सुख की ओर न देखिये। आपकी प्रसन्नता में ही मेरा सुख-सर्वस्व है।

अब आगे जीव की कमजोरी और विवशता वर्णन करते हैं-

मूल-जद्दपि कियौ चाहौं अपनौ मन भायौ
सो तौ कैसे करि सकौं जो तुम राखौ पकरि।

अर्थ-यद्यपि मैं अपना मन भाया करना चाहता हूँ। यद्यपि शब्द के कहने का यह आशय है कि आपकी रुचि बिना कुछ भी करने की सामर्थ्य नहीं है, फिर भी संकल्प-विकल्पात्मकरूपवाला मन होने से वह नये-नये संकल्प-मनोरथ करता रहता है और जैसे-जैसे संकल्प होता है, वैसे ही सुख की इच्छा होती है और प्रयत्न भी करता है। यह मन का स्वाभाविक धर्म है। तथा जैसे कार्य या प्रयत्न होता है, वैसे ही प्रारब्धकर्म बनता है और प्रारब्धकर्म के अनुसार ही संस्कार बनते हैं तथा संस्कार के अनुरूप ही संकल्प उदय होते हैं। यह संसृति-संसारचक्र की परम्परा चलती रहती है।

भावार्थ-गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं-

चौबोला-सुदृढ़ वासना बीज विसाला। तातें उपजि पर्‍यौ जंजाला॥
तेई दर तेई फिर थूनी। कीनी कृपन भक्ति रति ऊनी॥१०॥

संसृति–संसारचक्र का मूल–बीज वासना है। कोई कितने भी तप, ज्ञान, साधन आदि से युक्त क्यों न हो, यदि वासना है, तो जन्म लेना ही पड़ेगा। यह वासनारूप मूल सुदृढ़ है, इसकी वृद्धि होती रहती है। इसीलिये फिर से मायाजाल–संसारचक्र प्रकट हो जाता है। यह वासना-बीज ऐसा सुदृढ़ है कि यही पहले दर–ब्याज रूप में अल्प होता है, फिर थूनी–मूलरूप में विशाल हो जाता है। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं–कृपण–अल्प इन्द्रिय-सुख के पीछे भटकनेवाले! तूने भक्ति के प्रति प्रेम को गौण कर दिया, जो भगवदीय दिव्य आनन्दामृत की खानि है, असीम सुख का समुद्र है और क्षुद्र सुख के पीछे भटक रहा है।

इस तरह मैं मनभाया किया चाहने पर भी किसी भाँति मनभाया कर नहीं सकता, क्योंकि आपने गुण-कर्मरूपी रज्जु से बाँध रखा है, पकड़ रखा है। जीव कितने भी प्रयत्न करना चाहे या करे, फिर भी भगवदीय विधान के अनुसार ही उसे सुख-दुःख आदि प्राप्त होते हैं।

अथवा मन स्वभाव से चंचल, हठी और बलवान् है। रजोगुण से उत्पन्न काम के वश हुआ अनेक प्रकार के मनोरथ करता रहता है, उसके आचरणों में प्रवृत्त होता है, जो उसे महान् दुःख देनेवाले हैं। किन्तु वात्सल्य, स्नेह, कृपा आदि गुणों के सागर प्रभु जैसे सर्प और अग्नि की ओर दौड़ते हुए बालक को माता पकड़कर अपनी छाती से लगा रखती है, ऐसे ही आप अपने शरणागत विश्वासी भक्त को देह और संसार तथा उनके विषय-सुखों की असारता एवं दुःखरूपता दिखाकर, उनका अनुभव कराकर और

अपने चरणारविन्द मकरन्द का प्रेम-रसानन्दमय मधुर आनन्द देकर अपनी ओर खैंच लेते हैं, पकड़ लेते हैं, तो फिर उसका मन किसी प्रकार विषय की ओर जा नहीं सकता है।

श्रीमद्भागवत में कहा है-

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत्पुनरर्थितायतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्॥

प्रभो! यह बात सत्य प्रसिद्ध है कि आप अपने भजन करनेवालेजन को सांसारिक सुख चाहने पर भी वह इच्छित सुख नहीं देते हैं। उसमें कारण बताते हैं कि उससे उसका इच्छितपना अर्थात् उसकी सकामता मिटती नहीं, बल्कि कामना विशाल बढ़ती ही जाती है। इसलिये आप स्वयं भक्त के न चाहने पर भी सम्पूर्ण इच्छाओं को आवृत करनेवाले—दूर करनेवाले अपने सुकोमल चरण कमल उसके हृदय में स्थापित कर देते हैं। वह निर्द्वन्द्व होकर आनन्दसिन्धु में मग्न हो जाता है।

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो।
कथमन्योन्या संत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः॥१७॥

सनकादि परमर्षियों ने तत्त्व जानने की इच्छा से ब्रह्मा जी से पूछा—पिताजी! चित्त गुणों अर्थात् विषयों में घुसा रहता है और गुण भी चित्त की एक-एक वृत्ति में प्रविष्ट रहते हैं; अर्थात् चित्त और गुण आपस में मिले-जुले रहते हैं। ऐसी स्थिति में जो पुरुष इस संसारसागर से पार होकर मुक्तिपद—प्रभु की सेवा प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनों को एक-दूसरे से अलग कैसे कर सकता है?

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः॥२५॥

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया॥
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्॥

श्रीमद्भागवत ११/१३/२६

हंस भगवान् कहते हैं-पुत्रो! यह चित्त चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्त में प्रविष्ट हो जाते हैं, यह बात सत्य है, तथापि विषय और चित्त मेरे स्वरूपभूत जीव के देह हैं–उपाधि हैं। अर्थात् आत्मा का चित्त और विषय के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है॥२५॥ इसलिये बार-बार विषयों का सेवन करते रहने से जो चित्त विषयों में आसक्त हो गया है और विषय भी चित्त में प्रविष्ट हो गये हैं, इन दोनों को अपने वास्तविक स्वरूप से अभिन्न मुझ परमात्मा का साक्षात्कार करके त्याग देना चाहिये। अर्थात् प्रभु के अलावा कुछ भी नहीं है, मायामात्र है, उनकी माया का खेल है, ऐसा समझकर एकमात्र प्रभु का ही चिन्तन-स्मरण करना चाहिये॥२६॥

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं-

श्रीगुरु कही सो सब लही, श्रीगुरु कियौ निबाह।
श्रीबिहारीदास कैसे डिगै, राख्यौ गहि बल बाँह॥६३४॥
बहै जात संसार सिन्धु में स्याम सुकर गहि काढ़े।
माया काल विघन न करि सकै चितवत ही उत ठाढ़े॥१७६॥

श्रीगुरु श्रीस्वामी जी ने जो उपदेश दिया, उनकी कृपा से उसे मैंने ग्रहण किया। मेरी कुछ भी सामर्थ्य नहीं, उन्होंने ही निर्वाह किया, उपदेशित पथ पर चलाया। श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं–अब मैं कैसे डिग सकता हूँ? प्रबल माया कैसे भी रूप दिखावे, फिर भी तनिक भी डिग नहीं सकता, क्योंकि उन्होंने बलपूर्वक मेरी बाँह पकड़ अपने श्री चरणों के निकट रख लिया है।

मैं तो संसार-समुद्र में बह रहा था, किन्तु श्यामसुन्दर-श्री नित्यविहारी ने अपने सुन्दर करकमलों से पकड़, उससे निकाल लिया और अपने निकट निवास दिया। अब माया और काल जो प्रबल प्रचंड हैं, तनिक भी विघ्न नहीं कर सकते। दूर से ही खड़े-खड़े देखते रहते हैं कि यह तो हमारे स्वामी का जन है, जिनकी कृपा से हम परिपुष्ट हैं।

और भी कहा है-

हौं बूड़नि कौं बहु करौं, हरि नहिं बूड़नि दैहिं।
ज्यौं ज्यौं उझकौं कूप में, त्यौं त्यौं कर गहि लैहिं॥३९॥

श्रीस्वामी ललितमोहिनीदेव जी

मैं पूर्व संस्कार-वासनावश संसार-कूप में डूबने की बहुत चेष्टाएँ करता हूँ, किन्तु करुणानिधि, भक्तवत्सल श्रीहरि डूबने नहीं देते हैं। मैं जैसे-जैसे संसाररूप कुएँ में झाँकता हूँ, वैसे-वैसे वे जननी की भाँति दौड़कर मेरा हाथ पकड़ लेते हैं।

इस प्रकार जब वे पकड़कर अपने लीलारस में डूबा लेते हैं, तब मन में करने की-चलने की शक्ति ही नहीं रहती, फिर मन् भाया कैसे कर सकता हूँ?

अथवा शरणागतजन की विवेक, वैराग्ययुक्त दृष्टि में शरीर और संसार स्वप्नवत् असत्य, क्षणभंगुर-नाशवान् और दुःख-दोषमय होने से अपने इष्ट की सेवा, भजन, प्राप्ति के अतिरिक्त उसके मन में अन्य आशा ही होती नहीं है। यदि संस्कारवश कुछ विचार उदय होते हैं, तो विवेक, वैराग्य आदि शस्त्रों द्वारा उनका छेदन कर देता है, किन्तु भजन-साधना, रहनी-गहनी आदि सम्बन्धी विचार-इच्छाएँ उदित होती रहती हैं। शरणागतजन के लिए यह भी ठीक नहीं है, सो आगे कह रहे हैं-

इक्ष्या तौ बहुतक हियें करत रहत मन सोइ।
रहनि गहनि अरु चहनि की पूरी परै न कोइ॥
पूरी परै न कोइ सोक संताप बढ़ावै।
अहंकार अज्ञान मूढ़ भव पार न पावै॥
अब तजि कैं अभिमान मानि उर में निजु सिक्ष्या।
गहि रहु जीवन जुगल रसिक भगवत की इक्ष्या॥

—श्रीबिहारीवल्लभ जी

हृदय में बहुत सी इच्छायें उदित होती रहती हैं, मन अनेक प्रकार की इच्छाएँ करता रहता है। वे इच्छाएँ परमार्थ सम्बन्धी ये हैं—त्याग, वैराग्ययुक्त उत्तम रहनी से रहना, एकान्त स्थान में रहना, जहाँ कोई विघ्न न हो, धाम आदि पवित्र स्थान में रहना, उत्तम आचरणयुक्त होना, लगन, भाव, निष्ठायुत होना, सब गुण-बातों को ग्रहण करने की शक्ति से सम्पन्न होना, उत्तम दृष्टि और उत्तम चाह से युक्त होना, चाहते ही क्रियान्वित हो जाय, ऐसे गुणों से युक्त होना आदि। ऐसे अनेक भाँति की इच्छायें मन करता रहता है, किन्तु अपने बल से एक भी पूरी नहीं कर पाता। पूरी न होने से शोक-चिन्ता और संताप-क्लेश, दुःख ही बढ़ता है, जिससे महादुःखी और निराशामय जीवन बन जाता है। प्रभु से अपनी भिन्न सत्ता मानने से ज्ञान आवृत्त हो जाता है और अज्ञानमय अहंकार आ घेर लेता है, जिससे बुद्धि मूढ़ हो जाती है। बुद्धि के मूढ़ होने से सच्चे पथ से भ्रमित हो जाता है—भटक जाता है। इस तरह अनेक प्रयत्न करने पर भी वह संसारसागर में ही गोता खाता रहता है, उससे पार नहीं हो सकता।

श्रीबिहारीवल्लभ जी कहते हैं—हे मूढ़ मन! अब तू अपने मिथ्या कर्तृत्व अभिमान को छोड़। क्योंकि तू यन्त्रवत् है और वे

यन्त्री हैं, तू अंश है और वे अंशी हैं। उनके बिना तेरा कोई अस्तित्व ही नहीं है। यद्यपि तू कर्ता है। तेरे में कर्म करने की, विचारने की शक्ति है। परन्तु यह शक्ति उन्हीं की दी हुई है। तू प्रयोज्य कर्ता–उनके अधीन कर्ता है और वे प्रयोजक कर्ता–स्वतंत्र, निज कर्ता और स्वामी, रक्षक, प्रेरक आदि सर्वस्व हैं। इसलिए अपने जिय में यह निज–मूल, श्रेष्ठ शिक्षा मान कि रसिक भगवत–युगल किशोर श्रीप्रियालाल और श्रीस्वामी-श्रीगुरु की इच्छा में ही मेरा सुख, प्राप्ति, गति, मति आदि सर्वस्व है। उनका सुख ही मेरा जीवन प्राण है। अब मैं उनके सुख के बिना, उनकी इच्छा के बिना भूलकर भी और इच्छा नहीं करूँगा। कहा भी है-

श्री स्वामी हरिदास बिनु, भूलि चहौं जो और।
तौ मोहिं दीजौ लाड़िली, नहीं नर्क में ठौर॥९॥

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी इसी समर्पण भावमयी दृढ़ता को लेकर कहते हैं–हे लाड़िली स्वामिनी! नित्यविहार रसरूप रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के बिना–उनकी सेवा बिना, उनके संग बिना और कुछ–लोक-परलोक आदि की वस्तु चाहूँ, तो मुझे बहुत दुष्ट गति देना, जिससे नरक में भी ठौर–स्थान नहीं मिले; अर्थात् भयंकर नरक में भेज देना।

उनकी इच्छा को ही दृढ़ता से पकड़े रहना, इसमें भाव यह है कि जीव अपनी अल्पज्ञता और मोहवश किसी वस्तु, व्यक्ति आदि को सत्य, सुख और हितरूप समझकर पकड़ता है, फिर दुःख की प्रतीति होने से छोड़ देता है, ऐसे वह भटकता ही रहता है। किन्तु श्रीहरि-गुरु सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, सर्वव्यापक, परम स्नेही, भक्तवत्सल, करुणा, प्रेम, सुख-आनन्द के समुद्र और परम मंगलमय हैं। उनकी प्रत्येक चेष्टाएँ

परम कल्याण-हितमयी हैं। वे जो भी करते हैं, उसमें उनका परम स्नेह और जीव का परम कल्याण निहित रहता है। जीव के न चाहने पर भी वे कृपा, स्नेहवश बलात् उसका हित-कल्याण ही करते हैं।

अब आगे कहते हैं-

मूल- कहिं श्रीहरिदास पिंजरा के जनावर लौं तरफराइ रह्यौ उड़िवे कौं कितौक करि॥ १॥

अर्थ–रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं–यह जीव पिंजड़ा में बन्द पक्षी की भाँति शरीररूप पिंजड़ा में बद्ध संसार में पड़ा हुआ है। जैसे पक्षी पिंजड़ा सों कहीं उड़ना चाहे, कितनी भी उड़ने की चेष्टा–क्रिया-प्रयत्न करे, परन्तु उड़ नहीं सकता है, केवल पंख फटफटाय कर रह जाता है, ऐसे ही यह जीव भी शरीर-संसार से अपनी इच्छा सों उड़ना चाहे, तब भी उड़ नहीं सकता है। अर्थात् यह जीव किसी कार्य-वस्तु का मनोरथ भले ही करे, परन्तु ईश्वर-इच्छा के बिना कुछ भी कार्य कर नहीं सकता है और कोई वस्तु भी प्राप्त कर नहीं सकता है।

भावार्थ-शास्त्र में कहा है-**द्विजा इव शिचाबद्धाः।** जैसे जाल में बँधे पक्षी बाँधनेवाले के वश में जीते हैं और चेष्टाएँ करते हैं, ऐसे ही जीव की सभी चेष्टाएँ और जीवन ईश्वराधीन हैं।

और अन्यत्र कहा है-

अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे।

पिंजड़ा में बन्द पक्षी के समान यह जीव ईश्वर के अधीन है। उनकी इच्छा के बिना यह जीव अपने अंग की चेष्टाओं–क्रियाओं को भी करने में समर्थ नहीं है।

अथवा इस तुक की विशेष व्याख्या के भाव में यह समझना चाहिये कि श्रीहरिदास–माने भगवद्भक्त जो हैं और हुए हैं, उन सभी ने यही कहा है। अथवा श्रीहरि–माने श्रीनिम्बार्क भगवान् ने भी अपने

कामधेनु ग्रन्थ में कहा है-**ज्ञानस्वरूपञ्च हरेरधीनम्** इत्यादि। यह जीव सच्चिदानन्दमय भगवान् का अंश होने से ज्ञानस्वरूप है–इसका स्वरूप ज्ञानमय है और ऐसे होते हुए भी यह श्रीहरि के अधीन है। तथा उनके दास पूर्वाचार्यों ने भी ऐसा ही कहा है। अथवा श्री इस पद को अलग कर लें, तो श्री–माने श्रुतिरूपा गोपीं, उनने भी यही कहा है-

तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्।
एष एव साधुकर्म कारयति इत्यादि॥

उन श्रीहरि के तेज, शक्ति से सभी तेजवान् हैं, शक्तिवान् हैं, प्रकाशित हैं। ये प्रभु जिससे उत्तम–श्रेष्ठ कार्य करवाते हैं, वही श्रेष्ठ कार्य करता है, इत्यादि।

अथवा श्रीहरि–श्रीकृष्णचन्द्र जी ने भी गीता में कहा है-

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावाभूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥

गीतायां १०-५

बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम (इन्द्रियों का दमन), शम (मन को वश में करना) तथा सुख, दुःख, उत्पत्ति, विनाश, भय, अभय और अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश और अपयश प्राणियों के ये अनेक प्रकार के अलग–अलग बीस भाव मुझसे ही होते हैं।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

गीतायां **१८-६**

हे अर्जुन! ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में रहता है और अपनी माया से शरीररूपी यन्त्र पर आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को उनके स्वभाव के अनुसार भ्रमण कराता रहता है।

श्रीहरिदास--भीष्म पितामह जी ने भी कहा है-

जगद्वशे वर्ततेदः कृष्णस्य सचराचरम् इति।
सपालो यद्वशे लोको वायोरिवघनावलिः॥

सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् श्रीकृष्ण के वश में हैं, उनके अधीन बर्त रहा है, चेष्टा कर रहा है। बादलसमूह वायु के अधीन है, वायु के अधीन इधर से उधर घूमता रहता है, ऐसे ही लोकपाल सहित सम्पूर्ण लोक श्रीकृष्ण के अधीन हैं।

यद्वशे लोकः सकालोपि श्रीकृष्ण एव।
तस्मादिदं देवतन्त्रं व्यवस्य भरतर्षभ॥

हे भारत श्रेष्ठ! सम्पूर्ण लोक और लोकपालोंसहित काल भी जिनके अधीन हैं, वे श्रीकृष्ण ही परम देव—परम ईश्वर हैं। उन्हीं के अधीन ये सब हैं, ऐसा तुम निश्चय करो, जानो।

अथवा हरिदास—वृत्तासुर जी ने भी यही कहा है-

लोकाः सपालाः यस्येमे श्वसन्ति विवशावशे।
द्विजा इव शिचाबद्धाः सकाल इह कारणम्॥
ओजः सहो बलः प्राणममृतं मृत्युमेव च।
तमज्ञाय जनो हेतुमात्मानं मन्यते जड़म्॥

जाल में फँसे—बँधे हुए पक्षियों की भाँति ये सम्पूर्ण लोक और लोकपाल विवश—अधीन होकर जीते हैं, चेष्टा करते हैं। काल भी जिनके अधीन हैं, वे श्रीकृष्ण ही परम कारण, सबके ईश हैं।

ओज—माने प्रवृत्ति सामर्थ्य-शक्ति, सह—वेग-गति, बल—धारण- सामर्थ्य-शक्ति, प्राण—जीवन, अमृत—मोक्ष, परमानन्द और मृत्यु—संसार इन सबके मूल—कारण वे ईश्वर—परमात्मा श्रीहरि ही हैं। ये सब श्रीहरि की इच्छा के अधीन हैं। इन सबके कर्ता

सूत्र मन्त्र में बताये गये हैं उनकी एक बार पुनरावृत्ति कर लें—

(१) प्रथम ''दैवोदासः'' भगवान का दास बनना है। प्रकृति का दास या किसी और का दास बनकर नहीं जीना है।

(२) ''अग्निः'' सर्वदा आगे बढने का प्रयास करना है। उन्नति पर उन्नति करनी है थोड़ी उन्नति करके स्थिर नहीं हो जाना है।

(३) ''देवः'' इस संसार को क्रीडा क्षेत्र समझना है व्यर्थ में ईर्ष्या–द्वेष नहीं पालना है।

(४) ''इन्द्रः'' [illegible] ऐश्वर्यशाली बनना है। [illegible] शील [illegible]

इन चार अवस्थाओं को प्राप्त करके (नाकस्य शर्मणि तस्थौ) मनुष्य परमात्मा के परमधाम में स्थित हो सकता है।

श्रुति वचन

प्र [illegible]ना।
अनु [illegible]शर्मणि॥

अन्वयार्थः — (मातरं पृथिवीम्) इस भूमि माता पर (अनु) रहने के पश्चात (वि वावृते) लौट जाता है और (नाकस्य) मोक्षलोक के (शर्मणि) सुख में (तस्थौ) ठहरता है (दैवोदासः) प्रभु का सेवक (अग्निः) अग्रणीः! अपने को आगे पहुँचानेवाला (देवः) दिव्यगुण क्रीडा संसार को क्रीडामय समझनेवाला (इन्द्रः) परमैश्वर्य [illegible]

भावार्थः — [illegible] मोक्ष प्राप्ति हेतु विवेक, वैराग्य, मुमुक्षुत्व, शमदमादि षट् सम्पत्ति का अर्जन करता रहे, जिससे वह मोक्ष का अधिकारी बन सके।

एकमात्र श्री हरि ही हैं। ऐसा न मानकर जो अपने को इनको हेतु–विजय का कारण मानता है, वह जड है–मूर्ख, अज्ञानी है।

यथा दारुमयी नारी यथा यन्त्रमयो मृगः।
एवं भूतानि मघवन्नीश तन्त्राणि विद्धि भोः॥

परमात्मा ही जयाजय के हेतु–कारण हैं, क्योंकि वे सर्ववशित्वं हैं–सबपर [illegible] आधार हैं, सबके ईश हैं। जैसे काठ के यन्त्ररूप मृगी से मृग–हिरण पकड़ने में वश में आ जाता है, ऐसे **दारुणा–विकारभूता**–विकाररूपा नारी के द्वारा–माया के द्वारा सब जीव–पुरुष वश में हैं। इसी तरह सम्पूर्ण जगत् ईश्वरतन्त्र–ईश्वर के अधीन है। इस भाँति यह जीव सर्वथा परतन्त्र–ईश्वराधीन है।

पुरुष–चतुर्मुख–ब्रह्मा आदि जीव तथा प्रकृति, आत्म, भूत–पंच महाभूत–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रियसमूह और आशय–अन्तःकरण–अहंकार, चित्त, बुद्धि और मन ये भी ईश्वर के अनुग्रह बिना सर्गादि कार्य करने में सक्षम नहीं हुए, नहीं कर सके। जब प्रभु इनमें प्रविष्ट हुए, तभी कर सके। [illegible] संहार करते हैं। वस्तुतः जीव और संसार की उत्पत्ति, पालन, प्रलय–संहार–मृत्यु, परम पुरुषोत्तम श्रीहरि के ही अधीन हैं। वे ही कर्ता, भर्ता, स्वामी, प्रेरक और नियन्ता हैं।

इस तरह जीव की सर्व प्रकार परतंत्रता–ईश्वराधीनता कहकर श्रीस्वामी जी महाराज एक दृष्टान्त दिखाते हैं कि यह जीव पिंजड़ा

में बद्ध पक्षी की भाँति संसार में पड़ा है। जैसे पक्षी उड़ने के लिए बहुत तड़फड़ाता है, पंख फटफटाता है, किन्तु उड़ नहीं सकता है। ऐसे ही यह जीव ईश्वर की इच्छा के बिना कुछ भी कार्य कर नहीं सकता है। चाहे कितना भी प्रयत्न करे, फिर भी कार्य करने में सक्षम-समर्थ नहीं हो सकता, नहीं कर पाता है। इसका अच्छी प्रकार, विस्ताररूप से ऊपरोक्त वर्णन हो चुका। अब इसमें और भी रहस्यमय भाव का प्रकाश करते हैं-

शरणागतजन तन-मन-वचन से विश्वास-भावसहित अपने इष्ट में लगने को, भक्ति-प्रेम प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, फिर भी कर नहीं पाता है, न विकारों को दूर कर पाता है और न भाव-प्रेम ही जाग्रत हो पाते हैं, इससे उसके मन-प्राण-तड़फते हैं, व्याकुल-चिन्तातुर रहते हैं। इसके लिये वह अपने इष्ट से अनुनय-विनय-प्रार्थना करता है, रोता है, पुकारता है, उनकी कृपा की बाट देखता है। **पिंजरा के जनावर लौं तरफराय रह्यौ** में श्रीस्वामी जी महाराज ने इसी भाव को संकेत किया है। क्योंकि निश्चिन्त होकर बैठना लक्षित उपासक का स्वरूप नहीं है। वह लोक-परलोक आदि के योगक्षेम से अपने इष्ट पर निश्चिन्त, निर्भर रहता है, योगक्षेम की चिन्ता को त्याग देता है, किन्तु फिर भी इष्ट से मिलने, उनकी सेवा, भाव, प्रेम की प्राप्ति के लिए व्याकुल रहता है।

ऐसे रहना ही शरणागत-उपासक का वास्तविक स्वरूप है और श्रीस्वामी जी महाराज ने अपने में जीवभाव को आरोपित करके ऐसे रहने का ही उपदेश किया है तथा आचरणद्वारा आचरित करके यही दर्शाया है। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज इसी भाव को प्रकाशित कर रहे हैं-

हौं तौ आयौ सरनै तेरी तू मया करि स्वामी।
मन वच क्रम स्याम न गायौ सुनि सुनि
दुहुँ दिसि धायौ संतत मारग बामी॥
बहुत जन्म जोनिन भ्रम्यौ त्रिजग जगत में रम्यौ कृपन कातर कामी।
अबकी तबकी सब जानत जाकी जैसी
ताकी तैसीयै करि बानत तुम हो अंतरजामी॥
गुन रूप सम वैस जोर ब्रज नृपति
जित नौतन किसोर कैसे कहि आवैं।
अन्तर आरति निवारि निरखौं निज वदन सार बार बार भावै॥
हौं पतित तुम पतित पावन निज जन ताप नसावन औसर बड़ भारी।
अब कैसे मन कपटहि राचत छिन छिन
द्विज यहै जाचत दीन दास बिहारी॥३१॥

हे श्रीस्वामी! हे रसिकराज! मैं तो सब प्रकार से तुम्हारी शरण में आया हूँ। तो शब्द से ध्वनित होता है कि मैं जैसा भी हूँ, आपके श्रीचरणों की शरण में हूँ। तुम मुझ पर कृपा करो, स्नेह करो, मुझे अपना मानो। मैं ऐसा देहासक्त, देहाभिमानी हूँ कि मैंने श्यामसुन्दर–श्री नित्यविहारी का कभी न मन से स्मरण–ध्यान किया, न वाणी से गुणगान, गुणकीर्तन, नामकीर्तन, जप किया और न क्रम–शरीर से, शरीर की क्रिया से सेवा–भजन में लगा, बल्कि दोनों दिशाओं–लोक–परलोक के विषयसुखों की महिमा सुनकर, उनकी प्राप्ति के कर्मों को सुन–सुन उन्हीं में तीव्रता–तेजी से लगा रहा, ऐसे मैं सदा–नित्य भक्ति से वाममार्ग–माने विपरीत, उलटा, विमुखमार्ग में चलता रहा हूँ, लगा रहा हूँ। उसी कर्म के प्रभाव से बहुत–अनेक योनियों में जन्म धारण करके भ्रमण करता रहा हूँ, भटकता रहा हूँ। इस प्रकार मैं तुच्छ और विषरूप विषयों का संग्रह करनेवाला कृपण,

~~लगी है उसके प्रति ईर्ष्या द्वेष नहीं रखा करते उसी प्रकार संसार~~
में [illegible] अन्योन्य ईर्ष्या द्वेष [illegible] और यदि किसी
के द्वारा कष्ट पहुँच जाये तो यह मत सोचो कि मैं अवश्य बदला
लूँगा। यह बदला लेने की भावना जैसे ही हमारे मन में आ जाती
है वैसे ही हम मानो ईर्ष्या-द्वेष को अचार मुरब्बा बनाकर के अपने
मन में रख लेते हैं और समक्ष आने पर उसे प्रकट कर देते हैं। वेद
कहता है यह दण्ड देने का विधान परमात्मा पर छोड़ो। "योऽस्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः [illegible]
[illegible] हे परमात्मा!
हम तेरी न्यायरूपी दाढ़ में उसको रख दें। बदला लेने की भावना
हमारे में न रहे, ईर्ष्या-द्वेष न रखें। संसार को क्रीडा स्थल समझें।
चौथी बात कही— "इन्द्रः" हम इन्द्र बनें, हम ऐश्वर्यशाली बनें।
परमेश्वर अपने ऐश्वर्य को धारी और संसार में बिखेर रहा है। हे
मनुष्य! तू भी ऐश्वर्यशाली बन और संसार में अपना नाम उज्ज्वल
कर [illegible]"
ऐसी दैवीक प्रार्थनाओं के द्वारा हम अपने को ओजस्वी, तेजस्वी,
सहनशील बनाते हुए इन्द्र की पदवी प्राप्त करें।

बन्धुओ! जो उपासक मोक्ष तक पहुँचना चाहते हैं वेद कहता
है उन्हें इन्द्र बनना ही पड़ेगा, अर्थात् परमात्मा की तरह सहनशील
तेजः स्वरूप बनना होगा। परमात्मा के गुण जीवात्मा में उपासना से
[illegible] आते हैं। सच्ची भक्ति-पूजा-उपासना वही है जिसके द्वारा
[illegible] ईश्वरीय
गुणों से सुशोभित जीवात्मा ही इन्द्र कहलाने का अधिकारी है। जब
तक लोहा आग में नहीं पड़ता है उसे कोई भी लाँघकर चला जाता
है, किन्तु जब वही अग्नि में डाल दिया जाता है और लाल हो जाता
है तो उस लाल लोहे को लाँघने या छूने का साहस कोई भी नहीं
कर सकता, क्योंकि वह अग्निमय हो चुका। तात्पर्य यह कि हम भी
परमात्मा की भक्ति करते-करते, [illegible] कठोरता
को धारण करने से [illegible] ऐश्वर्यशाली [illegible] ओजस्वी, तेजस्वी
बन जायें [illegible] बन जायें कि कोई हमको तिरस्कृत करने का
साहस न कर सके। तो आइये जीवन के उत्थान के लिये जो चार

[illegible] आर्त, विवश, उद्विग्न [illegible]
उनकी प्राप्ति की इच्छा करनेवाला और तत्पर रहनेवाला कामी
त्रिजग–स्वर्ग, पृथ्वी, पातालरूप जगत में या पशु–पक्षी आदि योनियों
में, इस संसारसागर में उसको सुखमय मानकर रमण करता रहा हूँ,
भटकता रहा हूँ।
हे स्वामी! आप [illegible] भूत [illegible] भाव
जन्म की सब बातों को, भावों को, कर्म-व्यवहार को जानते हैं,
जिसकी जैसी कर्मफलवृत्ति, भाववृत्ति होती है, उसीके अनुसार
फल, सुख, स्वरूप बनाते हैं, प्रदान करते हैं। क्योंकि आप अन्तर्यामी
हो–सबके हृदय में नित्य निवास करनेवाले हो, सब पर शासन करने
वाले हो। सबके प्रेरक और स्वामी हो। आप मन की सब जानते हो।
मैं कैसा भी हूँ आपका हूँ। [illegible]
युगल किशोर–श्रीकुंजविहारी–कुंजविहारिणी के दर्शनसुख, सेवासुख
की प्राप्ति कर सकूँ।
वे कैसे हैं? दिव्य प्रेम रस माधुर्यमय गुणों में, अनुपम दिव्य
स्वरूप में और वयस–नित्यकिशोर अवस्था अथवा रूप, गुण,
प्रेम, आसक्ति, केलि–कला, चातुरी आदि की अवस्थाओं में समान
हैं। [illegible]
नित्य बिहारी हैं। जिनकी अद्भुत किशोरावस्था नित्य और नवीन है,
नित्य एकरस है। उनके रूप, गुण, लीला–माधुरी आदि गुण कैसे
कहे सकते हैं? अर्थात् वे अनिर्वचनीय हैं, कोई भी रसिक–कवि
उनका वर्णन नहीं कर सकते हैं।
आप हृदय में ही रहते हैं, [illegible]
[illegible]
दुःखी हो। हे हरि! हे स्वामी! उस आवरणरूप अन्तर–दूरी–परदे को

निवारो–दूर करो, उस अन्तर–हृदय की आर्ति–विरह–दुःख को नष्ट करो, जिससे सब रस, शोभा, सुख का सार आपके श्री वदनचन्द्र–मुखचन्द्र को देख सकूँ। वह वदनचन्द्र लावण्य–माधुरी आदि आनन्द का सार है, जिसे देखते–देखते तृप्ति होती नहीं है, मन अघाता नहीं है। बार–बार निरखकर [illegible] ही [illegible], सुख [illegible] है। [illegible] आपको रिझा सकूँ। क्योंकि मैं पतित हूँ–पापों का पुंज हूँ और आप पतितपावन हैं–महान् पापियों को भी पवित्र करनेवाले और हृदय से लगानेवाले हैं। आप अपने निजजनों के, निजदासों के, निजभक्तों के तापों–त्रिविध ताप–दैहिक, दैविक और भौतिक इन तापों एवं साधनजन्य, विरहजन्य आदि तापों को नष्ट करनेवाले हैं। स्वामी! मैं पतित भी हूँ और तापों से [illegible] श्रीचरणों से लगाइये, निज सेवा दीजिये। इस समय बहुत महान् सुन्दर अवसर मिला है। ऐसा सुसमय–अवसर और कब आयेगा?

अब कपट में – माया–छल में अथवा कपट–छल से भरे हुए माया के व्यवहार में मन कैसे लगे? [illegible] अर्थात् [illegible] आसक्त नहीं हो सकता। [illegible] आप अनेक प्रकार से योगक्षेम कर रहे हैं, अर्थात् लौकिक–पारलौकिक अथवा शरीर और परमार्थ सम्बन्धी अनेक आवश्यकताओं को पूर्ण कर रहे हैं, पद–पद पर सँभाल कर रहे हैं, अनेक प्रकार के सुख का अनुभव करा रहे हैं, [illegible] रखते नहीं हैं, यही कपट–माया है। हे प्रभु! आपके निज, दीन, दास का मन इसमें कैसे लगे? कैसे सुख माने? इसीलिये यह आपका दीन बिहारीदास सदा ही छिन–छिन यही कृपा की भीख माँगता रहता [illegible]

प्रातःकालीन–प्रवचन–३

मोक्ष के साधक तत्त्व

[illegible] न मज्मना।
अनु [illegible] पृथिवीं [illegible] शर्म [illegible]

[illegible]

आज प्रातःकालीन सभा में सामवेद के इसी मन्त्र को मैं विस्तार के साथ प्रस्तुत करना चाहूँगी। इसमें बताया गया है कि जीवात्मा को इस संसार में रहते हुए इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि उसका वास्तविक धाम परमपिता परमात्मा का धाम है। उस धाम को [illegible] है। मोक्ष का अर्थ सुविदित है और नाक शब्द का अर्थ इस प्रकार है 'क' शब्द सुख का पर्यायवाची है उसके साथ नञ् समास करते समय विग्रह होगा—न कम् अकम् अर्थात् दुःख और पुनः उस अकम् शब्द के साथ नञ् का बहुव्रीहि समास होगा—'न विद्यते अकम् यत्र तत् नाकम्' अर्थात् जहाँ पर दुःख का सर्वथा अभाव हो [illegible] है। जब किसी शब्द के साथ दो निषेध सूचक शब्द लगा दिए जाते हैं तब वह प्रकृत्यर्थ का बोध कराता है—"द्वौ नञौ प्रकृत्यर्थं गमयतः"। इसी बात को अंग्रेजी में भी इस प्रकार कहा गया है—Double Negative is Positive। कम् के साथ इस प्रकार दो निषेध सूचक शब्दों के संयुक्त होने के कारण नाक शब्द अत्यन्त सुख [illegible] दुःख का अत्यन्ताभाव बताया गया है। मन्त्र में एक संकेत और दिया गया कि सभी जीवात्माओं की पृथ्वी भी माता है। जीव संसार में आकर जन्म देनेवाली माँ का दूध तो पीता ही है पृथिवी माता के दूध का भी पान करता है। जीव का पालन–पोषण करनेवाली माताएँ अनेक हैं जननी, गौ, पृथिवी [illegible] आदि। [illegible]

सेवासुख को देकर अपने निजजन को मिजकृपारस से परिप्लुत करिये, सराबोर करिये।

तुम बिनु नाहिं और सहाइ।
को निपुन नटवर वेष बिनु हौं कहौं काहि सुनाइ॥
तन तपन सब प्रकृति गुन गन गहत लोभ दिखाइ।
हीन मति अति पतित जानि हतत दिन दुखदाइ॥
सिव नारद सारद सचीपति बहो डरनि डराइ।
यहै विपति विचारि विकट निकट रटत अति अकुलाइ॥
श्रुति सुमृति सब साध सोधे सुन्यौ यहै उपाइ।
दीजै चरन सरन सदा जो जीवौं तव गुन गाइ॥
रति केलि मंगल कुंज आलय उदित नव नव भाइ।
इहै आस बिहारीदासै सुनि सुघरवर राइ॥१८२॥

हे नाथ! आपके बिना इस संसार में और-दूसरा कोई सहायता करनेवाला नहीं है। सब स्वार्थ से भरे हुए और आपकी माया के बंधनों से बँधे हुए विवश हैं। आप महानिपुण नटवर हैं। यह मायाजाल आपका ही विस्तारित खेल है। इसके भीतर आप ही रमण कर रहे हैं। आप सबको अपनी माया की भूल-भुलैया में भुला देते हैं, किन्तु आप उस भूलन में पड़ते नहीं है। आप तो अपने मधुर, मनोहर, लावण्य-माधुर्यमय निज नित्य नटवर-वेष-नित्य बिहारीस्वरूप में अपने धाम में नित्यविहार-क्रीड़ा परायण रहते हैं। आपके बिना मैं अपनी बात किसको सुनाऊँ? कौन मेरे दुःख को सुने? हे प्रभो! प्रकृति-माया के जितने भी-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि गुणगणसमूह हैं, ये सब अपने में सुख का लोभ दिखाकर आकृष्ट कर लेते हैं और फिर तन-शरीर-मन को तृष्णा, दुःख, ताप आदि क्लेशों से तपाते हैं, जलाते हैं। हे किशोरवर! इनसे कैसे

छुटकारा पाऊँ? एक तो बुद्धिहीन हूँ। बुद्धि अतिमंद और मलिन है। दूसरा अति पतित हूँ-प्राण, मन सर्वेन्द्रियों से अपने स्वार्थ-सुख में लगा हुआ हूँ। ऐसा जानकर ये माया के गुण सदा-नित्य घात पहुँचाते हुए, मारते हुए, अत्यन्त दुःख देते रहते हैं। फिर मैं कैसे इनसे छुटकारा पाऊँ? मेरी क्या सामर्थ्य जो इनसे जूझूँ? महासामर्थ्यवान् श्रीमहादेव जी, भक्तश्रेष्ठ मुनिवर श्रीनारद जी, शारदा, इन्द्र, ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देव-मुनिगण भी आपकी माया के डर से बहुत डरते हैं। स्वामी! इस माया-मोह के प्रभाव से आपका निरन्तर भजन-स्मरण नहीं हो पाता है, यही बहुत बड़ी विकट-भयंकर विपत्ति है। इसे विचार करके और आप हृदय में और बाहर निकट-संग-पास ही विराजमान हैं, फिर भी मेरी यह दयनीय दशा है, इसे सोच-विचारकर तन-मन-प्राणों से अति अकुलाते हुए-व्याकुल होकर आपको पुकारता रहता हूँ, आपके नाम को रटता-जपता रहता हूँ।

करुणामय! सब महानुभावों ने श्रुति-स्मृति-समस्त वेद-स्मृति-पुराण-शास्त्र आदि को शोधकर-मथकर-खोजकर तथा सब सन्त-महानुभावों के सत्संग से यही निर्णय किया, उन्होंने यही सुनाया कि इस संसार-सागररूप महाविपत्ति से बचने का, इससे पार होने का एक यही उपाय है कि आप अपने मंजुल, मनोहर, परम पावन, अभयप्रद, चरणकमलों की सदा शरण दें, शरण में रखें और अपने प्रेममय उज्ज्वल गुण-गणों का हृदय में प्रकाश करें, जिससे आपके मंजुल, मनोहर गुण गा-गाकर आपको रिझाता हुआ जीऊँ-जीवन धारण करूँ।

हे सुघरराय! सम्पूर्ण कार्यों को सम्पन्न-पूर्ण करने में अत्यन्त कुशल शिरोमणि! आपके दास-बिहारीदास की एक यही आशा है कि श्रीवृन्दावन में मंगल-कल्याण-आनन्दमय निकुंज

भवन में युगलकिशोर का जो परमानन्द–मंगलमय सुरति–केलि नित्यविहार हो रहा है, उसके नव-नव भाव–नित्य नये-नये भाव-मनोरथ हृदय में उदय हों, प्रकट हों, प्रकट होते रहें। जिनके अनु[illegible] साधु में म[illegible] रहूँ।

श्रुति वचन

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।
यथा प्रसूता सवितुः सवायैवा रात्र्युषसे योनिमारैक्॥

-: इति प्रथम (१) पद का भावार्थ :—साम० १७४९

अन्वयार्थः—(इदम्) यह (ज्योतिषां) ज्योतियों की (ज्योतिः) ज्योति=ब्रह्मज्ञान की ज्योति (श्रेष्ठम्) प्रशस्यतम (आगात्) उदय हो गई है। (विभ्वा) यह मेरे अन्दर-बाहर व्याप्त (चित्रः) चेतानेवाला (प्रकेतः) अद्भुत प्रकाश (अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ है। (यथा) जैसे (प्रसूता) उत्पन्न हुई उषा (सवितुः) सूर्य के (सवाय) उत्पन्न होने के लिए होती है, (एव) इसी प्रकार (रात्रिः) रात्रि देवी (उषसे) उषा के लिए (योनिम्) स्थान को (आरैक्) रिक्त कर देती हैं।

भावार्थः—इस मन्त्र में उषा, रात्रि, सविता क्रमशः रजोगुण, तमोगुण व सत्त्वगुण के प्रतीक हैं, मनुष्य प्रमाद, आलस्य व निद्रा को त्यागकर क्रियाशील बनें और क्रियाशीलता से भी ऊपर उठकर सत्त्व में अवस्थित हों। यह मन्त्र का गूढ अभिप्राय है।

जब तक शरीर स्वस्थ है, नीरोग है, बुढ़ापा कोसों दूर है, सभी इन्द्रियाँ ठीक काम कर रही हैं व्यक्ति को तभी से आत्मकल्याण की ओर ध्यान देना चाहिये अन्यथा भवन में आग लग जाने पर कुआँ खोदने का क्या लाभ है ? वेद तथा अनुभवी विद्वान् महानुभावों द्वारा प्रस्तुत यह एक चेतावनी है। हमें प्रयास करना चाहिये हम तथा हमारे [illegible]। मन्त्र में आगे कहा—"विशे विशे यज्ञियाय रुद्राय दृशीकं स्तोमं विविड्ढि"—हे जराबोध जीव! तुम इस बात को जानो कि प्रभु प्रत्येक प्राणी में, जन-जन में व्याप्त है। उसके लिये न कोई क्षुद्र है, न महान् वह किसी से घृणा नहीं करता, तभी वह सब प्राणियों में [illegible] यज्ञिय है—पूजा के योग्य है, संगतिकरण के योग्य है। [illegible] जिसकी संगति, जिसकी पूजा कल्याणकारिणी ही होती है। ध्यान रखना वह रुद्र भी है, अर्थात् सत्योपदेष्टा है, अविद्या अहंकार, काम-क्रोधादि को रुलानेवाला है, ऐसे प्रभु को अपने हृदय में जगाने के लिये तुझे सदा हार्दिक स्तोत्र [illegible] कभी नहीं जग पायेगी।

बन्धुओ! इस मन्त्र में 'दृशीक स्तोम' प्रस्तुत करने की बात कही है सो इसका अभिप्राय यह भी निकाला जा सकता है कि—स्तुतियाँ श्रव्य भी होती हैं और दृशीक भी [illegible]। गिरि कन्दराओं में, हिमालय की उपत्यकाओं में नदियों के संगम में, बैठकर की जाये वह श्रव्य उपासना है, क्योंकि उसके विषय में मात्र सुना जाता है कि अमुक व्यक्ति साधना में लीन है दूरस्थ होने के कारण लोग उसे देख नहीं पाते, किन्तु दूसरी भक्ति है 'दृशीक' जिसको सुनने के स्थान पर सब साक्षात् देख रहे हों। [illegible] के रूप में व्याप्त भक्ति ही 'दृशीक' भक्ति है, उसे सब देखते हैं। अनुभव करते हैं। इसी को अन्य साधकों ने 'नर-सेवा नारायणसेवा' कहा। एक व्यक्ति मात्र अपने कल्याण के लिये उपासना में तल्लीन है आस-पास के लोगों की व्यथा [illegible] कोई ध्यान नहीं, [illegible] श्रव्य की कोटि में आयेगी। किन्तु वही व्यक्ति जब जन-जन की सेवा में अपने

यह सब सोच-विचार कर देखने से समस्त कार्यों की सिद्धि का हेतु एकमात्र भगवत्कृपा ही है। भागवत के दश लक्षणों में एक लक्षण पोषण है। पोषण- माने अनुग्रह, कृपा। भगवान् की कृपा से ही सम्पूर्ण चराचर जगत् पोषित-पालित है, पुष्ट है। भगवत्कृपा की प्राप्ति दैन्य-माने दीनता से होती है। यह दैन्य भगवत्-शरणागति का एक अंग है। जैसे दैन्य उदय हुआ, वैसे ही भगवत्कृपा का प्रकट होना प्रारम्भ हो जाता है। आचार्यचरण श्रीभगवन्निम्बार्क ने भी कहा है-

कृपास्य दैन्यादि युजि प्रजायते।

दीनता, नम्रता, तत्परता आदि के योग से कृपा प्रकट होती है। दीनता का अर्थ है- अहं-मम से शून्य होना, निष्किंचन होना, माने अपने पास कुछ भी नहीं है। अपना कहने के लिये कुछ भी नहीं है। न अपना तन है, न मन है, न बुद्धि है और प्राणादि कुछ भी नहीं है। सब प्रभु के हैं। एकमात्र प्रभु मेरे हैं, और मैं प्रभु का हूँ, यह भाव ही दीनता का है। ऐसा विश्वास ही सच्चा भजन है और ऐसा भाव ही प्रभु को वश में करनेवाला है।

हौं प्रभु कौ प्रभु मेरेई, भजिहौं न तजिहौं पास।
श्रीबिहारीदास सब साध मत, यहै भजन बिस्वास॥

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी

मैं प्रभु का हूँ, अन्य किसीका गुलाम, दास नहीं हूँ, एकमात्र प्रभु का ही हूँ और एकमात्र प्रभु मेरे ही हैं और लोक-परलोक में कोई मेरा नहीं है। सदा-सर्वदा उनका भजन-सेवन ही करूँगा, अन्य कर्म नहीं करूँगा तथा उनका संग नहीं छोड़ूँगा, अन्य कुछ भी चाहूँगा नहीं। गुरुदेव श्रीस्वामि बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि सब सन्तजनों के मत में ऐसा विश्वास ही भजन है, अथवा ऐसे विश्वाससहित भजन करना ही सबसे बड़ा भजन है।

सोई जगत जो जानि, जाकौं मैं मेरी लगी।
रसिकनि यह बानि, मैं मेरी करि लाड़िली॥४१३॥

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी

जिसको मैं-मेरी लगी हुई है, जो मैं-मेरापन से युक्त है, वही संसार है, वही संसार-माया के जाल से ग्रसित-जकड़ा हुआ है, किन्तु भक्त-रसिक-संत महानुभावों की सहज बान-टेव यही होती है कि मैं एकमात्र कुंजबिहारिणी-लाड़िली की हूँ और एकमात्र लाड़िली ही मेरी है, ऐसा ममत्व ही सबसे बड़ा सार तत्त्व है।

इसी दैन्यभाव के तत्त्व को समझाने के लिये जीवों के कल्याणार्थ श्रीस्वामी जी महाराज इस पद में कह रहे हैं।

पद-काहू कौ बस नाहिं तुम्हारी कृपा तें सब होइ बिहारी बिहारनि।
और मिथ्या प्रपंच काहे कौं भाखियें सो तौ है हारनि॥
जाहि तुमसौं हित तासौं तुम हित करौ सब सुख कारनि।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी प्राननि के आधारनि॥२॥

अर्थ-हे श्रीबिहारी-बिहारिणि! सुर-मुनि मोहिनी आपकी दुर्जय माया की प्रबलता के अधीन होने से किसीका बल नहीं है, जो साधन-प्रयत्न करके माया से पार हो जाय। क्योंकि सभी आपकी माया में भटक रहे हैं। जो कुछ भी होता है, वह सब आपकी कृपा से ही होता है। जीव को आत्मस्वरूप का ज्ञान और आत्मसमर्पणादि भक्ति के अंग-साधन, सबका कारण आपकी कृपा ही है।

और-आपकी कृपा के आश्रय बिना शरीर में आत्मबुद्धि-अहं-मम बुद्धि करना यह मिथ्या-असत् ज्ञान है, प्रपंच नाम बहिर्मुखता को उत्पन्न करनेवाला मायाजाल-संसार तथा भगवत्प्राप्ति के विरोधी जो वस्तु-साधन हैं, इनको कहना, इनका वर्णन करना, यही महान् अनर्थ-दोष है, यही महाअज्ञान है, इसको न करना चाहिये। मिथ्या

प्रपंच को कहना, यह कैसा है, हरणशील है, माने आत्मस्वरूप को, भगवद्दासत्व को भुलानेवाला और शरीर में अहं-मम उत्पन्न करने वाला है, अर्थात् भक्तिस्वरूप सों गिरानेवाला है।

हित शब्द-प्रीति सामान्य का वाचक है। जो जीव जिस भाव से आपसे प्रीति करता है, आप भी उसी भाव से प्रेम करते हो। जो आपसे प्रीति-प्रेम करता है, उससे आप भी प्रीति-प्रेम करते हैं। अथवा आपकी कृपा बिना जीव कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। जिसका आपके प्रति प्रेम है, जो आपसे प्रेम करता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि उससे आप प्रेम करते हैं, उसे आप चाहते हैं, उसके आप मिलने व्याकुल हैं। क्योंकि आप सब सुखों के कारणस्वरूप हैं, सर्व सुखों के दाता हैं। जो जिस भाव से आपसे हित करता है, उसे उसी भाव के अनुसार सुख देनेवाले हैं। क्योंकि आप सब विशिष्ट हो और उसके भक्तों को [illegible] सुख के दाता हो।

इस प्रकार पाँचों रसों के स्वरूप का संकेत करके अब नित्य निकुंज विहार रस को पृथकता से दिखाते हैं।

रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि हमारे प्राणों के आधार सर्वस्व महामधुर नित्य निकुंज रसविलासी श्रीश्यामा-श्याम-कुंजविहारिणी-कुंजविहारी हैं।

मूल– [illegible] तुम्हारी कृपा लें।
सब होइ बिहारी बिहारनि।।

अर्थ–हे श्री विहारी-विहारिणि! किसीका वश नहीं है। सब आपकी माया में बंधे हुए और मोहित हैं। जो कुछ होता है, सो सब आपकी कृपा से ही होता है।

प्रातःकालीन-प्रवचन-५

समर्पित करें रुद्र को दर्शीक स्तोम

जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय। स्तोमं रुद्राय दृशीकम्॥

आज के इस प्रातःकालीन सत्र में मैं समय की सीमा को देखते हुये सामवेद के इसी मन्त्र की व्याख्या करना चाहूँगी। मन्त्र बहुत छोटा है और सरल है। सम्पूर्ण मन्त्र का भावार्थ है— "हे जीव! तुम जराबोध हो। तुम सब मनुष्यों में व्याप्त पूज्य परम रुद्र परमात्मा के लिये दर्शनीय स्तोत्र प्रकट करो।" आइये अब इस मन्त्र के विस्तृत अर्थ की ओर जाते हैं। सर्वप्रथम जीवात्मा को जो विशेषण प्रदान किया गया वह है जराबोध। जरा शब्द के दो अर्थ होते हैं बुढ़ापा और स्तुति। जब जराबोध से परमात्मा को सम्बोधित किया जाता है [illegible] उद्बुद्ध होनेवाले परमात्मन्! किन्तु यही विशेषण जब जीवात्मा के लिये प्रयुक्त होगा तब अर्थ होगा बुढ़ापे में जागनेवाले जीवात्मन्! "जरया जरायां वा बुद्ध्यते यः सः जराबोधः।" अर्थात् जीव पक्ष में जरा का अर्थ बुढ़ापा लेना अधिक उचित होगा। बाल्यावस्था या युवावस्था में [illegible] अगण्य होते हैं। कहा भी गया है—

"बालस्तावत् क्रीडासक्तः तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।"

किन्तु जब बुढ़ापा आता है शारीरिक क्षमताएँ न्यून होने लगती हैं तब मनुष्य [illegible] वस्तुतः संस्कृत के कवि ने मनुष्य के इस जराबोध स्वभाव को इन शब्दों में चित्रित किया है—

यावत् स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो।
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्।
सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः।।

करते वे समाज में अव्यवस्था फैलाते हैं इसीलिये उन्हें पानी में डुबोकर [illegible] ऐसे कठोर दण्ड की बात विदुर जी ने कही है। अब आइये मन्त्र के 'सजित्वानम्' पद पर विचार करें इसका अर्थ है—धन पाकर हम विजेता बनें, धन के दास न बन जायें। प्रायः देखा यह जाता है कि धन आ जाने पर [illegible] जाती है। धन व्यक्ति [illegible] नहीं है [illegible] हम धन के स्वामी बनें इसी बात को वेद यहाँ 'सजित्वानम्' पद से बताना चाहता है। मन्त्र में धन का चौथा विशेषण दिया गया है 'सदासहम्' कि धन को पाकर हम सहनशील बनें, किन्तु वास्तविकता यह है कि जैसे ही मनुष्य के पास धन आता है [illegible] की प्रवृत्ति [illegible] हैं, हाथ से कपड़े धोने की इच्छा नहीं होती, वाशिंग मशीन की आवश्यकता पड़ती है इसी प्रकार शनैः-शनैः फ्रिज, कूलर, मिक्सी, जूसर आदि आवश्यकता की सूची में आ जाते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि विभिन्न प्रकार की भोग की सामग्री का प्रयोग हम करने लग जाते हैं। परिणामतः हम सहनशील नहीं रहते, किन्तु प्राचीनकाल [illegible] पाण्डवों को [illegible] कोई कमी नहीं थी, इनके घर धन-धान्य से भरे थे। लेकिन जब इनके वनवास का समय आया, अज्ञातवास का समय आया तो सारे ऐश्वर्य को ठोकर मारकर बिना कुछ साथ मे लिये चल दिये। जरा तुलना कीजिये आज की ऐश्वर्य में पली सन्ततियों से, जो थोड़ी-सी कष्ट आ जाने पर परेशान हो जाती हैं [illegible] नहीं [illegible] परेशान, थोड़ी-सी सर्दी पड़ी तो परेशान। हमने अपने शरीरों को तो असहिष्णु बनाया ही स्वभाव को भी असहिष्णु बना डाला। वेद कहता है धन पाकर भी मनुष्य असहिष्णु न बने, बल्कि सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी जितने भी द्वन्द्व है इन द्वन्द्वों को सहन करने में सक्षम बने। सहिष्णु बने। मन्त्र में धन का अन्तिम विशेषण [illegible] 'अचितम्' इसका अर्थ है बहुत समय [illegible] कर रखना चाहते हैं, हम यह भी चाहते हैं इसका भरपूर उपभोग हम

ईश्वर के द्वारा ही मिलते हैं, क्योंकि वे सबके नियामक हैं-शासक हैं, प्रभु हैं। माया संसार के बन्ध, स्थिति और मोक्ष में हेतु-कारण नहीं है। कहा भी है-

बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्चमोचकः।
कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः॥

जीव को संसार की पाश-रस्सी से बाँधनेवाले और संसार की पाश से छुड़ानेवाले तथा मुक्तिपद-परमधाम को देनेवाले सनातन-नित्य परम ब्रह्म भगवान् विष्णु-श्रीकृष्ण ही हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ श्रीगीता ७-१४

निश्चितरूप से यह अलौकिक अर्थात् अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मेरी ही शरण ग्रहण करते हैं-केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे मेरी इस माया को उलंघन कर जाते हैं, अर्थात् संसार से तर जाते हैं।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी भी यही कह रहे हैं-

खसमे भावै तित लै धावै।
एकहि सूत्र जगत मनि गन लौं सहज पर्यौ चलि आवै॥
को माया मन कर्म काल प्रारब्ध न पहुंचन पावै।
सब दिन सब पर सबकौ नियंता सबकी नारि नवावै॥८३॥

प्रभु को जो अच्छा लगता है, जिसको जैसे रखना या चलाना चाहते हैं, उसको वैसे ही ले जाते हैं, वैसे ही चलाते हैं, रखते हैं। जैसे सूत्र-धागे में मणिगण-मोतीसमूह पोये रहते हैं और एक क्रम से ही घूमते हैं, इसी प्रकार सम्पूर्ण संसार उनकी इच्छा सूत्र की धारा में-प्रवाह में पड़ा हुआ सहज चला जाता है-सहज चलता रहता है। माया, मन, कर्म, काल और प्रारब्ध इनकी क्या सामर्थ्य है, ये कौन

गिनती में हैं, जो कुछ रुकावट कर सकें, सोच सकें? अर्थात् इनकी तो वहाँतक गति–पहुँच ही नहीं है। वे प्रभु सब दिन–सदा–नित्य, सबके ऊपर और सबके नियंता हैं–शासक, कर्ता, भर्ता हैं। सबकी नार को–गर्दन को नवाते हैं–किसीका अभिमान चलता नहीं है, उनके आगे सभी दीन, विवश हैं।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं–

श्रीबिहारीदास प्रभु सब सुख सागर जो भानें गढ़ि जानें॥

प्रभु सब सुखों के सागर हैं। इस संसार को वे ही भानें–बिगाड़ते–नष्ट करते हैं और गढ़ि–बनाते–रचते हैं, इसका ज्ञान उन्हींको है। बंध–मोक्ष उन्हीं के हाथ में हैं। इसीलिये उनकी कृपा का अवलम्बन मुख्य बल है, आधार है।

महान्त श्रीस्वामी किशोरदास जी कहते हैं–

प्रभु की कृपा तत्त्व सुख सार।
श्रुति संमृति पौरान तंत्र विधि सिव विधि कीन विचार॥१॥

करुणामय प्रभु की कृपा ही सब तत्त्वों और सब सुखों का सार है। वेद, स्मृति, शास्त्र, पुराण और समस्त सिद्धान्त विधियों में महादेव और ब्रह्मा तथा मुनियों ने विचार करके कृपा का ही निर्णय किया है।

बुध्य विवेक विचार मनुज मुनि करत विविध विस्तार।
उलटि और की और होत ईश्वर कृति निरधार॥२॥

मनुष्य और ऋषि–मुनि आदि अपनी बुद्धि, विवेक और विचार से तत्परतापूर्वक कर्तव्यकर्मों का विस्तार करते हैं, किन्तु श्रीहरि की कृपा के बिना उलटकर और का और हो जाता है, विपरीत फल देनेवाला या निरर्थक हो जाता है। इससे यही निर्णय निकलता है कि प्रभु की कृपा ही सार है। श्रीहरि की कृति–उनका किया हुआ ही सत्य होता है।

हे प्रभो! हम आपके बताये मार्ग से विरुद्ध मार्ग पर न चलें, हम उपासक यज्ञ से कभी पृथक न होवें और हमारे बीच में अराति=कृपण लोग न रहें। बन्धुओ! मनुष्य जैसी संगति में रहता है उसके अन्दर वैसी ही भावना उत्पन्न हो जाती है। मान लीजिए कभी हमने संकल्प किया कि हम एक लाख रुपये दान स्वरूप देंगे, परन्तु आपका जो साथी है यदि वह दान की प्रवृत्तिवाला नहीं है तो वह निश्चित ही आपसे कहेगा कि १००००० एक लाख की प्रतिज्ञा वैसे ही कर ली यहाँ तो १०००० दस हजार से ही काम चल सकता [illegible] एक से ही काम चल सकता था इतनी बड़ी घोषणा करना ठीक नहीं। इस प्रकार मित्रगण मनुष्य की दान प्रवृति को रोकते हैं। वेद में ऐसे ही लोगों के लिए कहा गया है कि ये अराति हैं, कृपण हैं [illegible] देते। ये लोग [illegible] कुमार्ग की ओर ले जानेवाले हैं। अराति शब्द जो कि मूलतः अदानशील का पर्यायवाची है शनैः-शनैः यात्रा करते-करते शत्रु का पर्यायवाची बन गयी। इस प्रकार वेदों में दान देनेवालों की बड़ी महिमा गाई गयी है। [illegible] संस्थाएँ हों, कोई भी सामाजिक, श्रेष्ठ काम हो सभी धन के बल पर ही चलते हैं। यदि आप लोग धन न दें तो सामाजिक संस्थाओं का कार्य कैसे चलेगा। किसी ने कितना सुन्दर कहा है— "**ज्यों जल बाढ़ै नाव में और घर में बाढ़ै दाम, दोउ हाथ उलीचिये यही सयानो काम**" [illegible] से अधिक धन आ गया तो समझदार लोग दोनों हाथों से उलीचना आरम्भ कर देते हैं। इसके विपरीत जो लोग अत्यधिक धन होने पर भी दान नहीं करते ऐसे लोगों के लिए विदुर महाराज व्यवस्था देते हैं— "**द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्। धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्**" [illegible] को गले में पत्थर बाँधकर पानी में डुबो देना चाहिए एक तो वे जो धनवान् हैं, परन्तु जिनकी दान की प्रवृति नहीं, दूसरे वे जो दरिद्र हैं किन्तु तपस्वी नहीं हैं। दरिद्र होकर भी जिसको आराम की आदत है [illegible] डालेगा या कोई दूसरा गलत उपाय सोचेगा इसीलिए कहा दरिद्र को तपस्या करनी चाहिये। परिश्रम करना चाहिये। जो ऐसा नहीं

कृपा के आश्रय बिना शेष जी, ब्रह्मा जी, महादेव जी, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार आदि भी आपका स्पर्श भी नहीं कर पाते हैं।

रोम कूप मधि भ्रमत कोटि ब्रह्मांड न होत सुमार।
माया कर्म काल ते तुम बिन सहि न सकत लघु भार॥६॥

आपकी विभूति--अंशरूप जो परमेश्वर हैं, जिनके रोम-छिद्रों में जिनका शुमार नहीं हो सकता है अर्थात् गिनती करना असम्भव है, ऐसे करोड़ों-असंख्यों ब्रह्माण्ड त्रसरेणु के समान भ्रमण करते रहते हैं। फिर आप तो परात्पर तत्त्वरूप हैं, आपका स्वरूप तो अर्निवचनीय है। माया, कर्म और काल, जो आपके बल से अति बलवान् हैं, वे भी आपकी कृपा के बिना तुच्छ—छोटा-सा भार भी सहन नहीं कर सकते हैं, अपने कर्तव्य को नहीं कर सकते हैं।

तुम्हरी भक्ति विमुख जे सुर नर भव सागर के वार।
संतत संत चरन सनमुख तुमकूँ भजि उतरे पार॥७॥

आपकी मंगलमयी, आनन्दमयी भक्ति के विमुख जो हैं, जिनकी आपकी भक्ति में रुचि नहीं है, जो भक्ति करते नहीं हैं, वे चाहे देवता हों या मनुष्य, वे संसारसागर के वार हैं, अर्थात् इस किनारे पर ही हैं। उनके लिये बीच में भयंकर संसारसमुद्र है, जिसे पार करना अति कठिन है, अपने बल से पार कर सकते नहीं हैं और जो भाग्यशाली जन आपकी कृपा-स्नेह की मूर्ति संतचरणकमलों के सदा-सर्वदा सन्मुख हैं—निरन्तर सेवन करते हैं, उनकी सेवा के प्रभाव से वे आपकी परम उज्ज्वल प्रेममयी भक्ति करके भवसागर के सहज ही पार चले जाते हैं-भवसागर को पार कर जाते हैं।

कारिज सकल सर्व कौ कारन नित्य निकुंज बिहार।
श्री हरिदास प्रकासिक दास किसोर ढरत ता ढार॥ ८॥२४६॥

सम्पूर्ण कार्यों के कारण और समस्त कारणों के भी कारण, समस्त अवतारों, ईश्वरों के भी अवतारी, ईश्वर श्रीवृन्दावन का नित्य निकुंजविहार है, अर्थात् नित्य निकुंजविहारी सब कारणों के भी कारण–मूल हैं, जिनको महामधुर रसोपासक रसिक अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज ने प्रकट–प्रकाशित किया है। श्रीकिशोरदास–श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणी के दास–जन तो उसी नित्यविहारोपासना की ढार में–प्रवाह में-चलन में सदा ढरते हैं-चलते हैं, वह उनके जीवन का आधार है।

तुमरी कृपा बिना मन दीन।
तुम अपनाय गहत कर ताकौ सो जन परम प्रवीन॥
तुम कृतज्ञ करुनानिधि कारन जीव परम बल हीन।
दास किसोर करत ताकूँ तुम सो समुझत वपु झीन॥२८१॥

हे भक्तवत्सल करुणामय प्रभो! आपकी कृपा के बिना यह मन अति दीन है–गुणहीन, बलहीन है। यह कुछ भी कर सकने में समर्थ नहीं है। आप जिस प्राणी को अपना लेते हैं, चाहे वह योग्य हो या न हो, उसका हाथ पकड़कर उसे अपनी शरण में ले लेते हैं, वही जन परम प्रवीण हो जाता है। वह आपके तत्त्व-रहस्य को, आपकी रुचि-भाव को जान लेता है। वह आपकी सेवा करने में अत्यन्त चतुर-कुशल हो जाता है। आप कृतज्ञ हैं–राई-सी सेवा को भी सुमेरु के समान माननेवाले हैं। आप करुणा–दया की निधि–खजाने हैं और सबके कारण–मूल-आधार हैं। यह जीव तुच्छ है, सर्वथा अत्यन्त बलहीन हैं। नाथ! जब आप ऐसे जीव को भी अपना दास–किशोरदास-विहारीदास बना लेते हैं, तब वही–ऐसा जन ही आपके झीने–अत्यन्त सूक्ष्म रहस्यमय स्वरूप को समझ जाता है और समझकर आपकी रुचि के अनुसार आपकी सेवा में तत्पर, तल्लीन रहता है।

श्रीस्वामी जी महाराज कहते हैं–हे युगलकिशोर श्रीविहारी-विहारिणि! आपकी कृपा के बिना किसीका बस–अर्थात् मनुष्य, मुनि, देवता आदि किसीमें बल–सामर्थ्य नहीं है, जो अपने बल–सामर्थ्य से साधन करके भवसागर को पार कर जाय और आपकी सेवा में पहुँच जाय। इसमें यह ध्वनित है–मर्मोक्ति है कि भजन–साधन–सेवा आदि करते हुए भी अपने ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, साधन आदि गुणों का किंचित् भी अभिमान न करते हुए उनकी कृपा की ही बाट देखता रहे। जो कुछ हुआ, हो रहा है और होगा उसमें एकमात्र कृपा ही कारण है, कृपा से ही होगा, ऐसा दृढ़ निश्चयात्मक बुद्धि से माने और दीनता, नम्रता एवं सदाचारपूर्वक गुरुप्रदत्त भजन–साधन में तत्परता से लगा रहे। श्री ब्रह्मा जी स्तुति करते हुए कह रहे हैं-

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

श्रीमद् भा० १०-१४-८

जो पुरुष क्षण–क्षण पर बड़ी उत्सुकता से आपकी कृपा का ही भलीभाँति अनुभव करता रहता है और प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है, उसे निर्विकार मन से भोग लेता है एवं जो प्रेमपूर्ण हृदय, गद्गद वाणी और पुलकित शरीर से अपने को आपके चरणों में समर्पित करता रहता है–इस प्रकार जीवन व्यतीत करनेवाला पुरुष ठीक वैसे ही आपके परम पद का अधिकारी हो जाता है, जैसे अपने पिता की सम्पत्ति का पुत्र।

श्रीविहारी–विहारिणि यह नाम कहकर आपने अपने इष्ट के युगल नाम का उपदेश किया है कि यही सेवनीय, उपासनीय है, अर्थात् अनन्य भाव–निष्ठा से प्रेमपूर्वक इसीका सेवन करना चाहिये।

मूल– और मिथ्या प्रपंच काहे कौं भाखिये सो तौ है हारनि॥

भावार्थ—और-माने कृपा के आश्रय बिना शरीर में आत्म–बुद्धि करना-मैं शरीर हूँ, मेरा शरीर है, ऐसा जानना, क्योंकि शरीर और संसार ये त्रिगुणात्मक हैं, अर्थात् तीन गुणमय हैं, तीनों गुणों से युक्त, ओतप्रोत हैं, इनको सजातीय मानकर इनमें ममता करना, आसक्त होना, यही मिथ्या–असत्य ज्ञान है और प्रपंच नाम बहिर्मुखतापादक–बहिर्मुखता को उत्पन्न करनेवाला मायाजाल–संसार तथा भगवत्प्राप्ति के विरोधी जो वस्तु-साधन हैं, इनको कहना, इनका वर्णन करना, यही अनर्थ है, दोष है, महान् अज्ञान है, इसको न करना चाहिये। वाणी से व्यर्थ बातें करनेवाला निष्पाप नहीं हो सकता, उसके दुःख-दोष, मोह-जड़ता आदि दोष बढ़ते ही जाते हैं। इसलिये इन सबको छोड़कर ऊपर कहे हुए युगल नाम को ही कहना चाहिये–उसका ही जप करना, उसका ही गुण-रहस्य, तत्त्व वर्णन करना चाहिये और दूसरे जप, तप, योग, याग, स्वाध्याय आदि साधनों की ओर दृष्टि भी नहीं करनी चाहिये कि इनसे कार्य होगा। मेरा सब कार्य एकमात्र भगवत्कृपा से ही होगा, ऐसे जानना, विचारना, दृढ़ निश्चय करना चाहिये।

और जो मिथ्या प्रपंच को कहता है, वह कैसा है, हारनि-माने हरणशील है–स्वरूप को भुलानेवाला है, आत्मस्वरूप में अन्यथा भाव-माने मैं-मेरापनरूप जीवभाव उत्पन्न करनेवाला है, शरीर में अहं-मम भाव-उत्पन्न करके आत्मस्वरूप सों–भगवत्दासत्व-स्वरूप सों, भक्तिस्वरूप सों गिरानेवाला है। इसीलिये आचार्यचरण कहते हैं-

सो०- तौ ह्वै है दुःख रूप, जो चितवै संसार तन।
ह्वै है सुख कौ रूप, जो भजिहै हरिदास कौं।।५३१।।

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी

शरीर और संसार की एक ही जाति है, दोनों त्रिगुण-प्रपंचात्मक हैं। दोनों ही असत्य, विनाशी, क्षणभंगुर एवं दुःखालय–दुःख के घर

हैं एवं अविद्या–अज्ञानरूप–भ्रमरूप हैं। इनकी तरफ दृष्टि पड़ते ही–देखते ही उसका–जीव का ज्ञान ढक जाता है, बुद्धि नष्ट हो जाती है और विषय–सुखों की तृष्णा–लालसा उत्पन्न होने से वह दुःखसागर में पड़ जाता है। उसके तन, मन, प्राण दुःख की ज्वालाग्नि से तप्त हो जाते हैं। वह त्रिविध तापों से ओतप्रोत–परिपूर्ण हो जाता है। परन्तु महामधुर नित्यविहार रसरूप श्रीहरि श्रीकुंजविहारी–कुंजविहारिणी और उनके दास महामधुर रसरूप–रसिक–अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज का भजन–सेवन करने से जीव परम मधुर सुखमय हो जाता है। अथवा श्रीहरिदास–प्रेमी–रसिकजनों का भजन–सेवन करने से यह जीव दिव्य, चिन्मय, परम सुखमय बन जाता है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं–

लेना एक न देना दोय। झूठी धूमस धामस होय॥
नियंता भुक्ता औरै कोय। तू दिन दुःख क्यौं पावत रोय॥
धन गुन रूप कहावत भलौ। हम समान को है उजलौ॥
ममता करत कहत मम देहा। छिन भंगुर जरि ह्वैहै खेहा॥
अहंकार मन धोखे पर्‍यौ। निकट बसत नरहरि बिसर्‍यौ॥
वाद विवाद करत नहिं डरे। हारे जीते काज न सरै॥
सब प्रपंच निस्चै जिय जानि। श्रीबिहारीदास ह्वै हरि रति मानि॥४॥

अविद्यामय कर्मात्मक संसार की प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति मृगतृष्णा के समान असत् और भ्रममात्र है। उसमें एक भी न लेना है, न देना है। वे लेना–देना दोनों ही भगवान् की माया से प्रतीत हो रहे हैं। माया के आनन्द की चहल–पहल–धूम–धाम सब झूठी हैं। अरे मूढ़! तू अपने को पहचान। इस शरीर और संसार के नियन्ता–शासक–चलानेवाले श्रीहरि

हैं, तू नहीं है और इसके भोक्ता भी मायाकृत चित्त-मन है, फिर तू सदा दुःख क्यों पाता है? क्यों सदा चिन्ता करके रोता रहता है? तेरा स्वरूप तो भगवदंश आत्मस्वरूप भगवत्दास है। तू तो शरीर और संसार से परे शुद्ध चैतन्य आनन्दस्वरूप है। फिर तू नश्वर शरीर में ममता कर रहा है और कह रहा है कि यह मेरी देह है! अरे! जब समय आयेगा, तब यह एक क्षण में जलकर भस्म हो जायगी। तू धन-सम्पत्ति, विद्यादि गुण और रूप-यौवन, पद-प्रतिष्ठा को प्राप्तकर अपने को भला-श्रेष्ठ, सुखी मान रहा है और अपने में गर्व कर रहा है कि हमारे समान उज्ज्वल-श्रेष्ठ, उत्तम, महान् कौन है? इसी अहंकार ने तेरे मन को धोखे-भ्रम में पटक रखा है। जिसके कारण तू मदान्ध हो रहा है और निकट ही-पास में ही नरहरिरूप संत-गुरु वास कर रहे हैं, उनको तू भूल गया, उनके प्रति श्रद्धा-भाव करके शरण नहीं ले रहा है।

अपने को गुणी, विद्वान् मानकर, अनेक तर्क उत्पन्न करके वाद-विवाद करते डर नहीं रहा है कि समय जा रहा है और आयु घट रही है। वाद-विवाद में हारने से दुःख, चिन्ता, लज्जा, ग्लानि होती है और जीतने से गर्व, उन्माद और अनेक दोष होते हैं। इससे मायाजाल-भवसागर से पार होकर भगवत्-सेवा-प्राप्तिरूप कार्य सरता-बनता, प्राप्त होता नहीं है।

अरे चैतन्य, आनन्दस्वरूप प्राणी! तू अपने जिय में यह निश्चय समझ ले कि यह सब माया का प्रपंच-जाल है, मिथ्या है, ऐसे समझकर अपने को श्रीवृन्दावन निकुंज महल में विहार करनेवाले युगलकिशोर विहारी-विहारिणि का दास मानकर दासीभाव-सखीभाव से श्रीहरि-प्रिया-लाल से रति कर-प्रेम कर।

आगे और भी कह रहे हैं-

अपनी चलहु गैल पहचानी।
तित जिनि चितवहु बितवहु बुधि जित चलत जगत अभिमानी॥
जहाँ असूया हिंसा स्पर्धा तहाँ तहाँ भक्ति नसानी।
माला मन्दिर कौं वन्दन करि भजि सतसंग समानी॥
तिनकौ संग करि हरिदासनि कौ जिन तन ताप सिरानी।
तिनके गुन गावन पावन पथ श्रीमुख सुक व्यास बखानी॥२२॥

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं-

भक्त-भावुक-साधकजनो! अपनी गैल—अपना मार्ग पहचान कर चलो। भक्ति-प्रेम के जितने भी मार्ग हैं, वे सब परमानन्दस्वरूप श्रीहरि से मिलानेवाले हैं। किन्तु सब मार्गों से कोई चल सकता नहीं है। अपनी रुचि-अनुसार एक मार्ग चुनना पड़ता है। उपासक निजजनो! तुम अपना मार्ग—पथ समझकर—पहचानकर चलो। उसमें भी सुदृढ़ शरणागतियुत अपनी दृष्टि अपने लक्ष्य की ओर—अपने इष्ट-गुरु की ओर ही लगी रहे, तभी आगे सफलता मिल सकती है। जिधर संसार के देह-गेह के अभिमानी—आसक्तजन मोहविवश सांसारिक सुख के लिए चेष्टा करते हैं, कर्म करते हैं—चलते हैं, उधर तुम देखो भी मत। क्योंकि विषयों की मायामोहिनी बड़ी प्रबल है, उसकी ओर दृष्टि पड़ते ही बुद्धि आसक्त हो जाती है—नष्ट हो जाती है। जिससे सद्गुण नष्ट हो जाते हैं और आसुरी सम्पत्ति—दुर्गण प्रकट हो जाते हैं, जो कि दुःख-ताप, शोक को देनेवाले और नरक ले जानेवाले हैं।

श्रीगुरुदेव जी महाराज उनमें से मुख्य दुर्गुण गिना रहे हैं, जिनके अन्तर्गत सभी दोष आ जाते हैं—असूया-माने दोषदृष्टि, वह भी गुणों में दोष निकालना, स्पर्धा—माने ईर्ष्या, होड़—यह आगे कैसे बढ़ गया? यह सुखी कैसे है? और हिंसा—माने मन, वाणी और शरीर की चेष्टाओं, क्रियाओं से दूसरे को दुःखी करना आदि। जहाँ

ये दुर्गुण–दोष होते हैं, वहाँ से भक्ति नष्ट हो जाती है और भक्ति-भाव के नष्ट होते ही श्रीहरि की स्मृति लुप्त हो जाती है। क्योंकि भक्ति-भाव में ही श्रीहरि का निवास है और भक्ति-भाव का मूल है वैष्णवजनों का संग–सेवन करना। माला-मन्दिर–माने कण्ठी, तिलक धारण करनेवाले वैष्णवजनों को वन्दन करना–प्रणाम करना, जिससे असूया, हिंसा, स्पर्धा आदि दुर्गुणों की स्फुरणा होने न पाये। अथवा वैष्णव और मन्दिर–भगवद्विग्रह–मूर्ति को प्रणाम करो। किन्तु अनुभवी, विज्ञ सन्तजनों का संग और सेवन सम्मान–आदर-प्रेमपूर्वक करो। अथवा समानी-माने सजातीय उपासनावालेजनों का निष्ठाभाव–आदरपूर्वक संग–सेवन करो।

ऐसे हरि के दासों–हरि के जनों में भी उनका संग श्रेयष्कर, सुखदायक होता है और उन्हींका संग करना चाहिये जो भक्ति-प्रेम की उच्च साधना में आरूढ़ हैं, जिन्होंने उस साधनाद्वारा अपने तन-मन के सम्पूर्ण ताप नष्ट कर दिये हैं, जो अहं-मम से ऊँचे उठकर अपने नित्य निजस्वरूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। ऐसे ही निर्मल-पावनजनों के प्रेम-भक्ति भरे गुणों का गायन पावनपथ है, इसके समान कोई पवित्र और उत्तम मार्ग नहीं है। श्रीमद्भागवत और गीता आदि ग्रन्थों में श्रीहरि ने अपने श्रीमुख से और श्रीव्यास जी महाराज ने अपने श्रीमुख से ऐसे अनुरागीजनों के गुण-कीर्ति का विशद् वर्णन किया है।

विषइनि कौ संग सर्वथा तजि, मन निज जिय जानि।
वह करै तिहीं छिन आपसो, यह बड़ी भक्ति बिच हानि॥५७॥

श्रीगुरुदेव जी महाराज कहते हैं–विषय-विषयीजनों का संग सब प्रकार से तन से तो त्यागना ही है, उसे मन से भी त्याग देना चाहिये, उसका कभी मन से भी स्मरण नहीं करना चाहिये। ऐसा जिय

में अच्छी तरह जान लो। क्योंकि कितना भी विद्वान् और साधनसम्पन्न क्यों न हो, वह विषयीजनों का संग उसे अपने समान विषयविमूढ़ बना लेता है, यह उपासक–भक्तजन की भक्ति में बहुत बड़ी हानि है। क्योंकि वह अपने स्वरूप और इष्टस्वरूप को ही भूल जाता है।

श्रीबिहारीवल्लभ जी कहते हैं-

कोऊ करौ न भूलि के इन इन्द्रिन की परतीति।
ये पापिनि नख सिख महा छिन में करति अनीति।।
छिन में करति अनीति मूढ़ जिहि पंडित कहिये।
वल्लभ जीवन जुगल सजग नित इनतें रहिये।।

कभी भूलकर भी इन इन्द्रियों की प्रतीति–विश्वास नहीं करना चाहिये कि मैंने इनको वश में कर लिया है, मेरा क्या बिगाड़ हो सकता है? ये इन्द्रियाँ नख से शिखतक महान् दोषों से भरी हुई हैं, दोषों से अत्यन्त पूरिपूर्ण हैं। ये पापिनीं क्षणमात्र में महान् अनीति–अन्याय, दोष, पाप करा देती हैं। महान् पंडित–विद्वान् को भी अत्यन्त मूढ़–विषयासक्त, अज्ञानी बना देती हैं। श्री बिहारीवल्लभ जी कहते हैं–हे जीवन जुगल! साधक-उपासक को अपनी साधना-भक्ति का अभिमान न करके इनसे सदा सावधान रहना चाहिये, इनसे सदा डरते रहना चाहिये। ये इन्द्रियाँ महाप्रमादिनी और विशेष मंथन करनेवाली प्रमाथिनी हैं। ये बड़े-बड़े विद्वानों को भी मोहित कर लेती हैं। श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी महाराज कहते हैं-

हरि गुरु सौं भूले फिरैं, कामी जीव अपार।
मन इन्द्रिन के बस परे, खोय महा सुख सार।।१२७।।

संसार में विषयसुख में आसक्त, विषयसुख को चाहनेवाले कामी जीव–प्राणी अपार हैं, जिनकी गिनती नहीं है। वे श्रीहरि और गुरु के अथवा हरिरूप गुरु के अत्यन्त निकट होते हुए भी उन्हें भूले

रहते हैं, उनसे बेसुध, बेखबर हुए विषयासक्त हो संसार में भटकते रहते हैं। वे सदा मन और इन्द्रियों के वश पड़े रहते हैं। उन्हींको तृप्त करने में अशान्त रहते हैं। ऐसे विमूढ़ विषयासक्त प्राणी सब सुखों के सार का भी सार—महासुख सार—श्रीयुगल के नित्यविहार रस को खो देते हैं। विषयासक्त मलिन मन होने से प्रेम-भक्ति-भाव उदय नहीं हो पाता और उसके बिना परम तत्त्व का मिलना असम्भव है।

साँचे श्री राधारमन झूठौ सब संसार।
बाजीगर कौ पेखनौ मिटत न लागै बार॥
मिटत न लागै बार भूत की सम्पति जैसे।
मिहरी नाती पूत धुआँ कौ धौरर तैसे॥७॥

श्री भगवतरसिकदेव जी कहते हैं—इस माया प्रपंच—संसार में श्रीराधारमण—श्रीकुंजविहारी ही सत्य हैं और सब झूठे हैं। बाजीगर—जादूगर के खेल, भूत की सम्पत्ति और धुआँ के धौरहर—माने धुआँ के बादल के महल के समान स्त्री, पुत्र, नाती, परिवार, धन, धान्य आदि सभी असत्य हैं, एक क्षण में मिटनेवाले हैं, उनको नष्ट होने में एक क्षण भी लगता नहीं है।

श्रीस्वामी जी महाराज इस प्रकार यह मिथ्या माया-प्रपंच—संसार निज आत्मस्वरूप से विमुख करनेवाला है, ऐसा कहकर अब आगे आत्मशरणागति का अंग जो दीनता है, उस दीनता को रखने से भगवत्कृपा होती है और उससे प्रेम-भक्ति का प्राकट्य होता है, वह कहते हैं।

मूल-जाहि तुम सौं हित तासौं तुम हित करौ सब सुख कारनि॥

भावार्थ-हित शब्द प्रीति समान्य का वाचक है। इस हित शब्द से प्रेम—रागरूपाभक्ति भी सूचित है। प्रेम का स्वरूप है, इष्ट में अत्यन्त ममतापूर्वक एकता का होना, परम—अत्यन्त आविष्टतापूर्वक—तन्मयतापूर्वक इष्ट के सुख में तत्पर, तल्लीन रहना।

ऐसा प्रेम कितने भी प्रबल विघ्न उपस्थित होने पर भी सदा एकरस, अबाधित गति से बढ़ता ही रहता है। उसकी कान्ति, चमक, ओज दिनोंदिन दुगुने, चौगुने, सहस्र गुने बढ़ते ही जाते हैं।

यह प्रेम स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभावरूप से कई अंगोंवाला है। इन सबमें पूर्णरूप से प्रेम ही ओत-प्रोत, परिपूर्ण है। शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य, मधुर (शृंगार) और महामधुर आदि भावों के अनुसार यह प्रेम उत्तरोत्तर विशेष-विशेष प्रकाशित, चमत्कृत होता जाता है।

सम्बन्ध के अनुसार यह प्रेम उपासक में प्रकाशित होकर उसके अन्तर्मल को धोकर, निर्मलकर अपने में आत्मसात् कर परम गति को—इष्ट को प्राप्त करा देता है। इसीलिए शास्त्रों में श्रीहरि से, भगवत्स्वरूप से सम्बन्ध-स्थापित करने-जोड़ने को कहा है।

श्रीनारायण व्यूह स्तव में कहा है-

पति पुत्र सुहृद् भातृ पितृवन्मित्रवद्धरिम्।
ये ध्यायन्ति सदा युक्तास्तेभ्योऽपीह नमोनमः॥

श्रीहरि से पति, पुत्र, सुहृद्—हितू-बन्धु, भाई, माता-पिता और मित्र के समान सम्बन्ध जोड़कर जो उनका ध्यान, सेवन करते हुए सदा तत्पर, तल्लीन रहते हैं, वे इस लोक में भी परम वन्दनीय हैं।

कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्यं तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥

भा. ७/१/२९

एक नहीं, अनेकों मनुष्य काम से, द्वेष से, भय से, और स्नेह से अपने मन को भगवान् में लगाकर एवं अपने सारे पाप धोकर उसी प्रकार भगवान् को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्ति से।

गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो।।

भा. ७/१/३०

महाराज! गोपियों ने भगवान् से मिलने के तीव्र काम अर्थात् प्रेम से, कंस ने भय से, शिशुपाल, दन्तवक्त्र आदि राजाओं ने द्वेष-वैर से, यदुवंशियों ने सम्बन्ध से, तुम लोगों ने स्नेह-प्रेम से और हम लोगों ने भक्ति से अपने मन को भगवान् में लगाया है।

वृहन्नारदीय पुराण में नारद-सनत्कुमार सम्वाद में सनकादि ऋषि श्रीनारद मुनि से वर्णन कर रहे हैं-

तवास्मि राधिकानाथ कर्मणा मनसा गिरा।
कृष्णकान्तेति चैवास्मि युवामेव गतिर्मम।।

हे राधिकानाथ! मैं मन, वाणी, कर्म से आपका ही हूँ। हे कृष्णकान्ते, कृष्णप्रिये! मैं आपका ही हूँ। तुम दोनों ही मेरी गति हैं, मेरे जीवनाधार हैं।

दासाः सखाः यः पितरः प्रेयस्यश्च हरेरिह।
सर्वे नित्या मुनिश्रेष्ठ चिन्तनीया महात्मभिः।।

हे मुनिश्रेष्ठ! जो यहाँ श्रीहरि के दास हैं, सखा हैं, माता-पिता हैं और प्रिया हैं-मधुर भाव के उपासक हैं, अथवा इन भावों से भक्ति करते हैं, वे सब महात्मा नित्य, पूर्ण और चिन्तनीय-भजन-सेवन करनेयोग्य हैं।

श्रीमुख सों गीता जी में भी कहा है-

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

जो भक्त जिस भाव से मेरी शरण लेते हैं, मेरी भक्ति करते हैं, मैं उसे उसी भाव से भजता हूँ, प्रेम करता हूँ।

इसी प्रकार हित शब्द से दास्य, वात्सल्य, सख्य, प्रियता—माने मधुर भाव भी आ गये हैं। श्रीस्वामी जी महाराज इसी भाव को प्रकाशित करते हुए कह रहे हैं—जो जिस भाव से आपसे प्रेम करता है, आप भी उससे उसी भाव के अनुरूप प्रेम-स्नेह करते हो। क्योंकि आप भक्तिवश्य हैं, प्रेम के वशीभूत हैं। भक्तिभावन हैं, एकमात्र भक्ति-प्रेम ही आपको प्रिय है।

अथवा आपकी कृपा बिना जीव कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। जिसका आपके प्रति प्रेम है, जो आपसे हित-प्रेम करता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि उससे आप हित—प्रेम करते हैं, उसे आप चाहते हैं, उससे आप मिलने के लिए व्याकुल हैं। क्योंकि आप प्रेमस्वरूप हैं, सुखस्वरूप हैं तथा सब सुख के कारण हैं, एवं सर्व सुखों के दाता हैं। भक्तजनों को, प्रियजनों को सुख देकर, उन्हें सुखीकर सुखी होना आपका सहज स्वभाव है। भक्तजनों को सुख में रमण कराना, उनके साथ रमण करना आपका नित्य निज सहज स्वभाव है।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

मैं जड़-चेतन प्राणीमात्र का सुहृद्—अकारण हितू, मित्र हूँ, ऐसा मेरे को जानकर जीव परम शान्ति को, सुख को प्राप्त कर लेता है।

अथवा सब सुख कारनि—आप सब सुख के दाता हो। जो भक्त-साधक जिस भाव से आपसे हित करता है, आप भी उसे उसी भाव के अनुसार सुख देकर सुखी होते हो, कृतज्ञ होते हो, ऋणी होते हो।

श्रीमद्भागवत दशम स्कंध में कहा है-

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥

—१०/३२/२०

सखियो, गोपियो! मैं तो प्रेम करनेवालों से भी प्रेम का वैसा व्यवहार नहीं करता, जैसा करना चाहिये। मैं ऐसा केवल इसलिये करता हूँ कि उनकी चित्तवृत्ति और भी मुझमें लगे, निरन्तर लगी रहे। जैसे निर्धन पुरुष को कभी बहुत-सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय खोये हुए धन की चिन्ता से भर जाता है, अन्य कुछ भी जानता नहीं, वैसे ही मैं भी मिल-मिलकर छिप-छिप जाता हूँ।

एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबला:।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रिया:॥

—१०/३२/२१

गोपियो! इसमें सन्देह नहीं कि तुम लोगों ने मेरे लिये लोक-मर्यादा, वेदमार्ग और अपने सगे-सम्बन्धियों को भी छोड़ दिया है। ऐसी स्थिति में तुम्हारी मनोवृत्ति और कहीं न जाय, अपने सौन्दर्य और सुहाग की चिन्ता न करने लगे, मुझमें ही लगी रहे—इसीलिये परोक्षरूप से तुम लोगों से प्रेम करता हुआ ही मैं छिप गया था। इसलिये तुम लोग मेरे प्रेम में दोष मत निकालो। तुम सब मेरी प्यारी हो और मैं तुम्हारा प्यारा हूँ।

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि व:।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखला: संवृश्च्य तद् व: प्रतियातु साधुना॥

१०/३२/२२

मेरी प्यारी गोपियो! तुमने मेरे लिये घर-गृहस्थी की उन बेड़ियों को तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी-यति भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीर से—अमर जीवन से अनन्त कालतक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्याग का बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं जन्म-जन्म के लिये तुम्हारा ऋणी

हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभाव से, प्रेम से, मुझे उऋण कर सकती हो। परन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ।

इस प्रकार आप सब सुख कारनि—सब सुख के दाता होने से अपने भक्त-उपासकजनों को लोकोत्तर परमाद्भुत शुद्ध सत्त्वमय सुख के दाता हो। क्योंकि आप सुख विशिष्ट हो। ब्रह्म सूत्र में श्रीव्यास जी महाराज कह रहे हैं-

सुखविशिष्टस्याभिधानादेव च।। १/२/१५

सुखविशिष्ट आपका सम्बोधन है। आप अत्यन्त विशेष सुखस्वरूप हैं। सांसारिक सुख तो अल्प है, तुच्छ है और क्षणभंगुर—क्षण में नाश को प्राप्त होनेवाला है, उसकी सुख संज्ञा कैसे हो सकती है? क्योंकि वह तो भ्रममात्र है। सुख तो वह जो नित्य, असीम, व्यापक है। ऐसे सुखरूप तो एकमात्र समस्त जगत्के कारण सबके आधार, मूल, पूर्णब्रह्म, पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण नित्यविहारी हैं। इसलिये कहा है—आप सब सुख के दाता हो।

इस प्रकार पाँचों रसों के स्वरूप को दिखाकर अब नित्य निकुंज रहस्य लीला के स्वरूप को पृथक् रूप से दिखाते हैं।

मूल-श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी प्राननि के आधारनि।।

अर्थ—श्रीस्वामी जी महाराज अपनी इष्ट निष्ठा को दिखाते हुए वर्णन कर रहे हैं—भले ही कोई किसीकी उपासना करे, किसीका भरोसा रखे, किन्तु मेरे प्राणों के आधार—प्राणनाथ, प्राणसर्वस्व और स्वामी—पति निभृत निकुंज में नित्य एकरस काम-प्रेम रस से परिपूर्ण विहार करनेवाले प्रेम रस, माधुर्य, लावण्यादि के निधान, कोककला, संगीत आदि गुणों के निधि एवं परम स्नेह, वात्सल्य, करुणा, ममता के वारिधि युगलकिशोर-श्री श्यामा-कुंजविहारिणि एवं श्याम-कुंजविहारी ही हैं।

भावार्थ–श्रीस्वामी जी महाराज ने श्री केलिमाल में भी कहा है–

ऐसेई देखति रहौं जनम सफल करि मानौं।
प्यारे की भाँवती भाँवती के प्यारे जुगल किसोर हि जानौं॥

परम प्रेम माधुर्य रस के समुद्र में जैसे तुम दोनों उन्मत्त, मदमस्त गज-गजनीवत् केलि कल्लोल करते हुए महारस-समुद्र को आलोड़ित कर रहे हो, मथ रहे हो, ऐसे ही–इसी प्रकार केलि कल्लोल करते हुए तुम्हें देखती रहूँ, तभी अपने जन्म को, अपने मनोरथ को सफल हुआ मानती हूँ। प्राणप्यारे लाल की भामती–प्यारी, उनकी रुचि के अनुसार सुख देनेवाली लाड़िली और भामती–प्यारी लाड़िली के प्यारे–प्रियतम, उनकी रुचि के अनुसार केलि-विहार करनेवाले लाल, युगलकिशोर–एक प्राण-दो देह, नित्यकिशोर, कुंजविहारिणि-कुंजविहारी, ललना-लाल तुम दोनों को ही मैं जानती हूँ। तुम दोनों ही मेरे प्राणसर्वस्व हो और कुछ भी जानती नहीं हूँ। मेरे प्राणों के अवलम्ब, आधार आपही हो।

तत्त्व विवेचनार्थ कुछ और भाव भी प्रकाशित हैं–

श्रीस्वामी जी महाराज ने जीव-हितार्थ मंत्र का प्रणवादि शब्दार्थ भी सूचित किया है, वह इस प्रकार है।

ज्यौंही ज्यौंही तुम राखत हौ इस प्रथम पद में निज स्वातंत्र्य और निज रक्षण का निषेध–माने खण्डन का बोध करने से नमः शब्द का अर्थ सूचित किया है। पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में नमः शब्द के व्याख्यान में कहा है–

अहङ्कृति मकारः स्यान्नकारस्तन्निषेधकः।
तस्मात्तु नमसा क्षेत्रि स्वातन्त्र्यं प्रतिषिध्यते॥

नमः शब्द में अहंक्रिया-मकार–जीव का वाचक है और नकार निषेध का–खण्डन का वाचक है। इसलिये नमः शब्द से

क्षेत्री--जीव की स्वतन्त्रता खंडित होती है। जीव सर्वथा–सब प्रकार से श्रीहरि के अधीन है।

हरिदास शब्द से चेतन-जीव का स्वरूप शेषत्व–दासत्व है।

भगवच्छेषरूपौसौ मकाराख्य चेतनः।

मकार नामक शब्द से इस चेतन जीव का भगवत् अंशत्व–दासत्व रूप प्रसिद्ध होता है

दासभूताः स्वतः सर्वे आत्मनः परमात्मनः।
नान्यथा लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे च विद्यते॥

सभी आत्मा परमात्मा के स्वाभाविक–सहज दासस्वरूप हैं। इस दासत्व के अलावा जीव का और कोई लक्षण नहीं है। क्योंकि इनका बन्ध और मोक्ष ईश्वराधीन है।

स्वामी शब्द सों श्यामा और कुंजविहारी जी, इनके संग जीव का सेव्य-सेवकत्व भाव–सम्बन्ध है। सो कहा है–

पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम्।
स्वत्वमात्मनि संजातं स्वामित्व ब्रह्मणि स्थितम्।
उभयोरेष सम्बन्धो नेतरोऽभिमतो मम॥

सम्पूर्ण विश्व के आत्मा के आत्मा, पति, ईश्वर, नित्य, कल्याणस्वरूप अच्युत ही हैं। उनमें आत्मा से उत्पन्न–माने सहज ही स्वत्व–अधिकार है। यह सहज नित्य स्वामीत्व–स्वामीपना ब्रह्म में–श्रीहरि में ही स्थित है। श्रीहरि और जीव में स्वामी-सेवकत्व सम्बन्ध–भाव दोनों ही हैं, इसके अलावा और नहीं है, ऐसा मेरा अभिमत है, निश्चय है।

स्वोज्जीवनेच्छातो यदि स्वसत्तायां स्पृहा यदि।
आत्मदास्य हरेर्दास्यं स्वभावञ्च सदा स्मर॥

यदि नित्य सुखमय जीवन की इच्छा है, यदि अपने स्वरूप की सत्ता की, नित्य स्थिति की इच्छा है, तो स्वभावतः–सहज,

नित्य आत्मा का स्वरूप दासरूप है, श्रीहरि का दास स्वरूप है, ऐसे दासस्वरूप में अपने को सदा स्मरण कर।

अथवा श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी-इससे अकार, उकार, मकारार्थ सूचित किया है। अकारार्थ—कुंजविहारी, उकारार्थ—श्री श्यामा, मकारार्थ—जीव है। पद्म पुराण उत्तर खंड में प्रणव (ॐ) के व्याख्यान में कहा है-

अकारश्चाप्युकारश्च मकारश्च ततःपरम्।
वेदत्रयात्मकं प्रोक्तं प्रणवं ब्रह्मणः पदम्॥

वेद प्रणव को अकार, उकार और मकाररूप त्रयात्मक कहते हैं। उसके ऊपर चन्द्रबिन्दु परमपद—ब्रह्मपद स्वरूप है। प्रणव ब्रह्मपद स्वरूप ही हैं।

अकारेणोच्यते विष्णु श्रीरुकारेण चोच्यते।
मकारस्तु तयोर्दासः पञ्चविंशः प्रकीर्तितः॥

अकाररूप विष्णु—श्रीकुंजविहारी, उकाररूप से लक्ष्मी—श्रीराधा -कुंजविहारिणि और मकाररूप से पच्चीस तत्त्व-लक्षणवाला जीव दासरूप से वर्णित हैं, कहे गये हैं।

तथा अष्टाक्षर व्याख्यान में भी कहा है-

श्रीमते विष्णवे तस्मै दास्यं सर्वं करोम्यहम्॥
देशकालाद्यवस्थासु सर्वासु कमलापते।
इति स्वरूपसंसिद्धं मुख्यं दास्यमवाप्नुयात्॥

हे श्रीमान्—सौन्दर्य, माधुर्यादि गुणनिधि श्रीविष्णु! हे कमलापति! इस प्रकार सहज स्वरूपप्राप्त, मुख्य दासता को प्राप्तकर मैं देश, काल आदि सर्व अवस्थाओं में आपकी सेवा करता हूँ।

एवं विदित्वा मन्त्रार्थं तद्वृत्तिं सम्यगाचरेत्।
दासभूतमिदं तस्य जगत् स्थावरजंगम॥

इस प्रकार मंत्र के अर्थ को जानकर उसके भावों के अनुसार सब प्रकार से आचरण करे। क्योंकि यह जड़-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् उनका दासरूप है।

श्रीमद्भागवत दशम स्कंध में कहा है-

स्वकृत पुरेष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम्।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः॥

—१०/८७/२०

प्रभो! जीव जिन शरीरों में रहता है, वे उसके कर्म के द्वारा निर्मित होते हैं और वास्तव में उन शरीरों के कार्य-कारणरूप आवरणों से वह रहित है, क्योंकि वस्तुतः उन आवरणों की सत्ता ही नहीं है। तत्त्वज्ञानी पुरुष ऐसा कहते हैं कि समस्त शक्तियों के धारण करनेवाले आपका ही वह स्वरूप है। आपकी सम्पूर्ण शक्तियों के मध्य वह जीव नाम तटस्थशक्ति विशेष नित्यसिद्ध अंशस्वरूप होने से आपका नित्यसिद्ध दास है, ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं। इससे बुद्धिमान् पुरुष जीव के वास्तविक दासस्वरूप पर विचार करके परम विश्वास के साथ आपके चरणकमलों की उपासना करते हैं। क्योंकि आपके चरण ही समस्त वैदिक कर्मों के समर्पणस्थान और मोक्षस्वरूप हैं।

इसलिये नित्य भगवत्-आश्रयैकस्वरूप जीवों के भी उनकी विमुखता होने से संसार-दुःख उपस्थित हो जाता है और अपने भगवदैक दासस्वरूप की स्मृति होने से वह दुःख नष्ट हो जाता है, अथवा भजनीय श्रीहरि के नित्यत्व स्वरूप होने से भक्त भी नित्यत्व स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

श्रीस्वामी जी महाराज अपने प्रेम रसमय दास्यस्वरूप के वर्णन द्वारा उपासक-भक्तजनों को अपना स्वरूप-सेव्य-सेवक तत्त्व दर्शा रहे हैं कि श्रीश्यामा-कुंजविहारी ही तुम्हारे सेव्य-इष्ट हैं, वे ही प्राणाधार-सर्वस्व हैं, उनका सेवन-भजन ही तुम्हारा जीवनाधार है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कह रहे हैं-

श्रीबिहारी बिहारिनि के सुख जीजै।
कहा रिधि सिधि सुमेरु कहा सत सिंधुसुता ललचात न लीजै॥
इन्द्र दरिद्रिहि दूर बचौ भूमि राज तें भाजि अकाज न कीजै।
सचे धन धाम रमें वर बाम सकाम लै नाम न स्याम पसीजै॥
भजौ हरिदास अनन्य उपास श्रीबिहारी बिहारिनि के सुख जीजै॥५२॥

हे उपासकजनो! महामधुर रससार निभृत निकुंज रसविलासी श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि का सुख ही तुम्हारा सर्वस्व होना चाहिये, उसीमें तुम जियो। अपनी रसमयी सरस सेवा-लाड़-चाव से श्रीयुगलवर के नित्य केलि सुख को वर्द्धित करते हुए, उन्हें केलि कल्लोलरत तुष्ट-पुष्ट देखना ही तुम्हारा प्राणजीवन सर्वस्व होना चाहिये, ऐसा जीवन जियो।

भजनमार्ग में चलते हुए उसके प्रताप से अष्टसिद्धि, नव निद्धियाँ या अनन्त रिद्धि-सिद्धियाँ भी सामने आवें, तो मत लो। उससे क्या होगा? क्या तुम्हारा संसारचक्र-संसारबन्धन छूट जायगा? क्या परम सुखस्वरूप श्रीयुगलकिशोर मिल जायेंगे? तथा स्वर्णमय सुमेरु पर्वत जहाँ दिव्य लोक बसे हैं, वह भी मिले, तो भी उसे मत ग्रहण करो, उसके प्रति मत ललचाओ। उससे क्या होगा? और तो क्या सैकड़ों-हजारों स्वयं ऐश्वर्याधिष्ठात्री सिंधुसुताएँ-लक्ष्मी भी ललचावें, आतुर हों कि मुझे ग्रहण करो, तब भी मत लो, उससे क्या होगा? फिर इन्द्र-इन्द्रपद तो दलिद्र है, दलिद्रता-तृष्णा-चिन्ता से भरा हुआ है,

उससे दूर बचो, उसकी ओर देखो भी मत। पुनः सार्वभौम राज्य–सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य मिले, तो भी उससे बहुत दूर भाग जाओ, उसकी ओर देखो भी मत। क्योंकि उसकी ओर देखते ही माया–मोह–वासना घेर लेंगी और उसके जाल में फँसकर तुम अपने लक्ष्य को, भजन को खो बैठोगे, यह बहुत बड़ी हानि है, बहुत बड़ी अज्ञानता है, ऐसा अकाज मत करो। मानवजन्म भगवत्प्राप्ति, भगवत्सेवा–भजन के लिये ही मिला है, इसे प्राप्त करना ही मानवजन्म को सफल करना है, अपना कार्य करना है और न करना अपना कार्य बिगड़ना–अकाज करना है, ऐसा अकाज मत करो।

तथा जो धन–सम्पत्ति, पद–प्रतिष्ठा, घर–भवन आदि का संग्रह करे, उसके संग्रह करने में लगा रहे, सुन्दर तरुणियों, स्त्रियों से रमण करे–अथवा इनसे अलग होकर भजन भी करे तो वह भी सकामता–लोक–परलोक के सुख की कामना से करे तो फिर श्यामसुन्दर–विहारी जी कैसे प्रसन्न हों? अर्थात् भक्ति के अंगों में नामजप मुख्य अंग है। वह भी सकामता को लेकर करे, तो श्यामसुन्दर द्रवित नहीं होते, रीझते नहीं हैं, क्योंकि उसका लक्ष्य सकामता है।

प्रेमरस भक्ति में इतने सब विघ्न हैं। इनको तृणवत् त्यागकर महाप्रेम रस माधुर्य के स्वरूप, मूलाधार एवं रसिक–अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज को मन, वचन, कर्म से अनन्य भक्ति–भाव से भजो, सेवन करो और श्रीविहारी–विहारिणि के सुख में जियो, जीवन धारण करो, यही रसिक–अनन्य दासता का स्वरूप है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज श्रीविहारी जी की और भी करुणा, कृपा, स्नेह, ममता, वात्सल्य को दिखाते हुए कह रहे हैं–

देखत वदन प्रसन्न होत मन आनन्द की निधि कुंजबिहारी।
अपनौ करि राखौ मन मोहन मोहिं मया करि सब सुखकारी॥

हौं कपटी कूर कृपन कातर अति तातें किये करत मनुहारी।
अपने बुधि बल परत न आसंग पासंग परस न कृपा तिहारी॥
तुम सुनियत परम उदार चहुँ जुग साखि सदा सेवक भयहारी।
अपनौ विरद विचारि चतुर चित करि सुदृष्टि इत नेक निहारी॥
द्वारे दुलराऊँ जस गाऊँ पाऊँ दरस प्रसाद बिहारी।
श्रीबिहारीदास प्रभु जाऊँ कहाँ अब तुव सरनागति गतिब हमारी॥१६६॥

हे श्रीकुंजविहारी! आप दिव्य महाप्रेम माधुर्य रस-आनन्द की निधि हो। आपके श्रीमुखचन्द्र के दर्शन करते ही सम्पूर्ण दुःख-दोष, तृष्णा, चिन्ता, मोहमय मायाजाल को भूलकर परम प्रेम रसानन्द–स्वरूपानन्द को प्राप्तकर मन प्रसन्न हो जाता है, आनन्दसिन्धु में मग्न हो जाता है। हे मनमोहन! आपको प्रसन्न करने, रिझाने के लिये मुझमें कोई बल नहीं है। हे सब सुखों के दाता! आप स्वयं मया–स्नेह, ममताकर अपने कृपा-बल से मेरी बाँह पकड़कर मुझे अपना बनाये रखो। हे प्रभो! मैं कपट–छल-छद्म से भरा हुआ हूँ, कूर–मुर्ख, बुद्धिहीन हूँ, क्रूर–निर्दय, निकम्मा, कायर, कृपण–अपनी इन्द्रियों के सुखों में लगा हुआ हूँ, आपके दिये हुए तन-मन को आपको सौंप नहीं रहा हूँ, अत्यन्त कातर–तृष्णातुर-विकल हूँ-आर्त, अधीर, भीरु हूँ। इसलिये आपकी अनुनय-विनय कर रहा हूँ। आपकी कृपा को प्राप्त किये बिना अपने बुद्धि-बल से पासंग–अल्पमात्र भी प्रेम-आसक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, थोड़ी प्रेम-आसक्ति को प्राप्त करने का भी साहस नहीं होता। चारों युगों में आपका परम उदार–महान् दयालु, महादातापने का यश प्रसिद्ध है कि आप अपने सेवक के भय को हरण करनेवाले हैं, भक्त के भय को हरण करने में सदा तत्पर रहते हैं।

हे चतुर चित्त! परम निपुण! आपका विरुद तो भक्तजनों से प्रेम करने, उन्हें सुख देने में ही है। आप अपने विरुद को विचारकर

इत—इधर मेरी ओर सुदृष्टि—कृपा-स्नेहपूर्ण दृष्टि से तनिक देखो, इतने में ही मेरा कार्य पूर्ण हो जायगा, मैं माया-मोह से मुक्त होकर आपको प्राप्त कर लूँगा।

हे नाथ! हे कुंजविहारी! मेरी यही एकमात्र इच्छा है—सदा निकुंज-मन्दिर के द्वार पर रहकर आपको दुलराता रहूँ, प्रेमपूर्वक लाड़ लड़ाता रहूँ और प्रेमरसमयी केलिकला के गुण-यश गा-गाकर आपको रिझाता रहूँ, जिससे आपके विहारमय दर्शनरूप प्रसाद को पाता रहूँगा।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं—हे प्रभु! अब तो आप ही हमारी गति हो, आश्रय हो। मैं भला-बुरा जैसा भी हूँ, आपका ही हूँ, आपकी शरण में आया हूँ। आपको छोड़कर और कहाँ जाऊँ? और ठौर कहाँ है? हे नाथ! इसलिये शीघ्र कृपाकर चरण-शरण में रखिये, अपनी सेवा में रखिये।

हो कृतज्ञ कृपानिधि तुम्हरे कौन कौन उपकार सम्हारौं।
कहि न सकौं गुन कोटि जन्म धरि रोम रोम रसना जो धारौं॥
उत्तम जनम भजन यह औसर मौसर होत न काज सँवारौं।
भाव भक्ति कौ भेद बतायौ श्री गुरु वचननि तें प्रतिपारौं॥
सब विपरीत आचरन (त) हौं खर पलटे कूर कपूरहि डारौं।
करत विषै व्यापार विकल मति हौं सठ हानि नफा न विचारौं॥
जहाँ तहाँ विपति करी सब सम्पति अनसमझे कृतघन हौं हारौं।
श्रीबिहारीदास हरिदास कृपा तें कुंजबिहारी अब छिन न बिसारौं॥१६७॥

हे कृतज्ञ!—थोड़ी सी सेवा को बहुत माननेवाले, अपने को ऋणी माननेवाले! कृपानिधि!—कृपा के खजाने, समुद्र! श्रीहरि! आपके असीम, अनन्त उपकार हैं—चौरासी लाख योनि से निकालकर मनुष्य शरीर दिया, माँ के पेट में भी पाला-पोषा, बाहर भी अनेक

प्रकार से रक्षण-पोषणकर उत्तम संग और श्रद्धा-भाव आदि गुण दिये, ऐसे आपके अनेक उपकार हैं, उनमें से किन-किनका वर्णन करूँ। सभी उपकार असीम महिमा से भरे हैं। यदि करोड़ों जन्म धारण करके रोम-रोम रसना धारूँ—जीभ धारण करूँ, तो भी आपके गुणों का वर्णन नहीं कर सकता।

आपने अन्य योनियों से बाहर निकालकर उत्तम मनुष्यशरीर दिया, बुद्धि, ज्ञान, श्रद्धा आदि शक्तियाँ दीं और उत्तम संग दिया। ऐसे यह भजन करने का सुन्दर अवसर दिया। ऐसे मौसर—आपको सहज प्राप्त करने का मौका के होते हुए भी मैं माया से पार होने और आपको प्राप्त करनेरूप कार्य को सँभाल नहीं पा रहा हूँ, कर नहीं पा रहा हूँ। आपने श्रीगुरुरूप में आकर उनके श्रीमुख के वचनों—उपदेशों से प्रेम-रस-भाव-भक्ति का भेद—मर्म, रहस्य बताया—समझाया और कहा—इन उपदेशों का प्रतिपालन करो, अच्छी प्रकार से निर्वाह करो। प्रतिपालन करुँगा, ऐसा कहकर भी हे नाथ! मैं ऐसा मोहासक्त हूँ कि फिर भी उन वचनों के विरुद्ध सब आचरण कर रहा हूँ। दृष्टान्त दे रहे हैं—खर-माने घास या खली के समान विपरीत—दुष्ट आचरण के बदले कपूर के समान उपदेशमय वचनों और आचरणों को डाल रहा हूँ, छोड़ रहा हूँ और इन्द्रियों से रात-दिन विषयों का व्यापार—सेवन कर रहा हूँ, जिससे मन-मति विकल—बेचैन, तृष्णातुर हैं। मैं महाशठ—महामूढ़—विषयों के सेवन में महान् हानि है और श्रीगुरु वचनानुसार चलने—भक्ति करने में महान् लाभ है, इसका तनिक भी विचार नहीं कर रहा हूँ, ऐसा मोहान्ध हूँ। इसी कारण जहाँ जाता हूँ, जो भी करता हूँ, वहाँ विपत्ति—दुःख, हानि, क्लेश प्राप्त होते हैं।

हे दयामय! मैं बड़ा कृतघ्नी हूँ, आपके उपकारों को तनिक भी मानता नहीं हूँ। इसी दुर्व्यसन–दुष्ट स्वभाव के कारण तन-मन-सर्वस्व को और श्रीगुरु के उपदेश, भाव-भक्ति, भजन आदि सब सम्पत्ति को हार रहा हूँ।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कह रहे हैं कि ऐसा पतित, अधम होने पर भी परम कृतज्ञ, दयानिधि, परम गुरु रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज की कृपा, स्नेह से अब मैं नित्य निभृत निकुंज रसविलासी युगल-श्रीकुंजविहारी को एक क्षण भी भूल नहीं रहा हूँ। वे तन-मन-प्राणों में बसे हुए हैं। मैं उनके सदा अंग-संग रहकर उन्हें लाड़ लड़ा रहा हूँ।

श्रीस्वामी ललितकिसोरीदेव जी सब सुखकारिता और हितता को दिखाते हुए कह रहे हैं-

हमरे सुख कौ वपु बन्यौ, कुंजबिहारिनि बाल।
ललित किसोरी लाड़िली, अद्भुत रूप रसाल।। ८७४।।

नित्य निभृत निकुंज में अपने प्राणप्रियतम श्रीकुंजविहारी के संग नित्य केलि-विहार करनेवाली श्रीकुंजविहारिणि लाड़िली हमारे सुख का स्वरूप बनी हुई हैं, उनका वपु–देह हमारे सुख के लिए सुखस्वरूप बना हुआ है। ऐसे रस से भरे हुए अद्भुत रसालरूप से ललितकिशोरी लाड़िली हमें लोकोत्तर–अद्भुत सुख दे रही हैं।

प्रिया आसिक मासूक हम, छिन छिन आनन्द देति।
कुंजबिहारिनि लाड़िली, अंकौं भरि भरि लेति।। ८७५।।

प्रेम की विचित्र गति है। वह अपने प्रभाव से इष्ट से सहज एकता करके उनको अधीन कर लेता है, उनको अपना उपासक बना लेता है और स्वयं उपास्य बन जाता है। इसी प्रकार प्रेम से पूर्ण

प्राणों की एकता होने से प्रिया हमारी आसिक–प्रेमी, उपासक बन गईं और हमें प्रेमास्पद–उपास्यरूप में मानकर हमारी रुख लिये क्षण-क्षण में अपने निज सुख–विहार-आनन्द–सुख को देती हैं और नित्य केलि में हमारी रसमयी सेवा से रीझि–रीझिकर बार–बार अंक में भर लेती हैं।

गौर स्याम हमरे हितै, हमरे हित करैं केलि।
ललित किसोरी लाड़िली, रही प्रेम रस झेलि॥ ८७६॥

गौर-श्याम–श्रीकुंजविहारिणि-कुंजविहारी हमारे हित–सुख के लिये ही हैं। उनका प्रेम-रसमय स्वरूप हमारे हित के लिये ही बना हुआ है और वे हमारे लिये ही केलि–विहार करते हैं, उनका केलि–विहार हमारे हित–सुख के लिये ही है। अपने जन के लिये ही उनका सर्वस्व है। ऐसी ललितकिशोरी लाड़िली हमारे सुख के लिये ही अद्भुत प्रेम-रसमय विचित्र केलि-विलास करते हुए महामधुर प्रेम रस का आस्वादन–पान कर रही हैं, उसे झेल रही हैं और उसमें उन्मत्त, अलमस्त झूम रही हैं।

हम हरि के हरि हमरे प्यारे।
हरि हमरे हित रहत सदाई हम हरि के अति ही हितकारे॥
हम हरि हरि हम केलि निरन्तर छिन हूँ कबहूँ होत न न्यारे।
हरि हैं कुंज बिहारिनि रानी रसिकसिरोमनि प्रान अधारे॥२८॥

प्रेम रस की प्राप्ति होते ही प्रेमी-प्रेमास्पद में एकत्व स्थापित हो जाता है, वे एक प्राण दो देह हो जाते हैं, प्रेमी प्रेमास्पद हो जाता है और प्रेमास्पद प्रेमी बन जाता है। ऐसे ही उपरोक्त आचार्यचरण श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी अपनी इष्ट प्रति एकता का वर्णन कर रहे हैं।

इस दिव्य प्रेम ने श्रीहरि–प्रियालाल और हम में सर्व प्रकार से एकत्व-ममत्व स्थापित कर दिया है। इसके प्रभाव से हम हरि–युगलकिशोर के प्यारे–लाड़िले इष्ट बन गये और वे हमारे प्यारे–प्रियतम बन गये। हरि–श्रीकुंजविहारी-विहारिणि सदा ही हमारे हित में तत्पर रहते हैं, ऐसा उनका स्वभाव ही बन गया एवं हम उनके अत्यन्त हितकारी हैं–तन, मन, प्राण, सर्वात्मा से सदा उनके हित–सुख में तत्पर, तल्लीन रहते हैं। जो हम हैं, सो हरि–श्यामाश्याम हैं तथा जो श्यामाश्याम हैं, सो हम हैं, सदा, नित्य-निरन्तर केलि में तत्पर रहते हैं, कभी एकक्षण भी न्यारे नहीं होते हैं। वे हरि कौन हैं? सो कह रहे हैं–सब हरियों के हरि की हरि श्रीकुंजविहारिणि रानी और प्राणों के अधार-सर्वस्व रसिक शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज तथा श्री गुरुदेव हैं।

-: इति द्वितीय (२) पद का भावार्थ :-



अथ तृतीय पद—अवतरण

अब जिस साधक ने नूतन—नये ही भक्तिपथ में प्रवेश किया है, उसके प्रति यह वचन कहते हैं। क्योंकि मन का वेग—गति अति प्रबल है, सो इसको रोकना दु:साध्य—अत्यन्त कठिन है। इसीलिये शास्त्रकारों ने मन के रोकने के अनेक उपाय कहे हैं। और चित्तवृत्तियों के रोकने को ही योग कहते हैं। सो ही शास्त्र में लिखा है—

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।। श्रीपातञ्जलि

चित्त की वृत्ति को रोकना ही योग है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

उसके पश्चात् द्रष्टा-साधक-योगी अपने आत्मस्वरूप में स्थित होता है।

अभ्यासवैराग्याभ्यान्तन्निरोधः।

अभ्यास—बार-बार नाम-गुणादि भक्ति—साधनों का सेवन करना और वैराग्य—शरीर और संसार में, उनके सुख में दु:ख-दोष दर्शन, अनित्यता, क्षणभंगुरता—क्षणभर में नष्ट होनेवाले, आधि-व्याधि आदि दु:ख-दोष-अनर्थों से पूर्ण दोषों का चिन्तन करने से चित्त देह-गेह एवं संसार से उपराम होकर वश में होता है, इष्ट में लगता है।

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः॥

भा० ११/३/४०

जब भगवान् कमलनाभ के चरणकमलों को प्राप्त करने की इच्छा से तीव्रभक्ति की जाती है, तब वह भक्ति ही अग्नि की भाँति

गुण और कर्मों से उत्पन्न हुए चित्त के सारे मलों को जला डालती है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है–जैसे नेत्रों के निर्विकार हो जाने पर सूर्य के प्रकाश की प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है।

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥

भा० ३/२५/१५

इस जीव के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही माना है। विषयों में आसक्त होने पर वह बन्धन का हेतु होता है और परमात्मा में अनुरक्त होने पर वही मोक्ष का कारण बन जाता है।

काठिन्य विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्पदम्।
उपायैः शास्त्रनिर्दिष्टेरनुक्षणमता बुधाः॥

भगवान् श्रीहरि के चरणकमलों की प्राप्ति अति कठिन है, महाकठिन काम है, फिर भी संत-शास्त्रानुसार उपदिष्ट साधनों में निरन्तर लगे रहने से चित्त द्रवित होता है–श्रीहरि में अनुरक्त होता है, ऐसे ज्ञानी, विवेकीजन कहते हैं, उनका यह निश्चित मत है।

श्रीस्वामी जी महाराज का मन तो श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि की केलि में सदा निमग्न है। आप सदा दम्पति–श्रीप्रिया-लाल के अंग-संग रहकर उन्हें नव-नव लाड़ों से लड़ाते हुए नित्य, सदा रसानन्दसिन्धु में निमग्न रखते हैं। दम्पति–युगलकिशोर के नित्यविहार रस का रूप ही श्रीस्वामी जी महाराज का स्वरूप है। परन्तु करुणावश जीवों के कल्याण हेतु उनको शिक्षा देने के लिये शास्त्रदृष्टि से आप उपदेश कर हैं। जैसे श्रीव्यास जी ने लिखा है-

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेवादिन्। अ. १-१-३१

जैसे वामदेव आदि शास्त्रदृष्टि से उपदेश देते हैं। श्रीवामदेव आदि शास्त्रदृष्टि से सर्वत्र अन्तर्यामी परब्रह्म परमात्मा को एकत्वदृष्टि से देखते हुए कहते हैं—सब कुछ इन्द्र ही है। इन्द्र ही ब्रह्म है। वह ब्रह्मात्मक स्वरूप मुझे ही जानो। मैं ही मनु, शंकर, सूर्य आदि हूँ। सर्वत्र मैं ही हूँ। ऐसे एकत्वदृष्टि से देखने—अनुभव करने से फिर कहाँ शोक? कहाँ मोह? अर्थात् वह निर्द्वन्द्व, मायातीत हो जाता है। इन्द्रादि जीव हैं, किन्तु आत्मरूप से परमात्मा में एकत्व का अनुभव करते हुए ऐसा उपदेश करते हैं। क्योंकि श्रुति कहती है—

एतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, स आत्मा ब्रह्म,
सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति।

वह आत्मा ही यह सब कुछ है। सम्पूर्ण जगत् ही आत्मा है। वह ही सत्य है। वह आत्मा ही ब्रह्म है। यह सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्म है, ऐसे जानो।

ऐसे ही परम करुणासिन्धु रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी जी महाराज अपने में जीवभाव का आरोपकर उपदेश दे रहे हैं। क्योंकि आचार्य शिरोमणि हैं। गुरुओं के गुरु हैं। आचार्यत्व का अर्थ है—जो शास्त्रों के तत्त्वों को चुनकर—ग्रहणकर, उपदेश देकर समझाये और आचरण—क्रिया—व्यवहारद्वारा आचरित—क्रियान्वित करके दिखाये। इसी भाव को ग्रहणकर श्रीस्वामी जी महाराज वर्णन कर रहे हैं।

पद—कबहुँ कबहुँ मन इत उत जात यातेंब कौन अधिक सुख।
बहुत भाँतिन घत आनि राख्यौ नाहिं तौ पावतौ दुख॥
कोटि काम लावण्य बिहारी ताके मुँहाचुहीं
सब सुख लियें रहत रुख।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी कौ
दिन देखत रहौं विचित्र मुख॥३॥

अर्थ–अनादि अविद्याजन्य कर्मात्मक माया के वश से, अधिक काल से विषय वासना में फँसा हुआ जो मन है, वह जीव का भक्ति में प्रवेश होने से कभी-कभी भगवद्भावना से हटकर विषयों की ओर चला जाता है, तो भी कहते हैं–इससे अधिक सुख कौन-सा है? मृगतृष्णावत् संसार के सुखों में मुग्ध हुआ मन भटक रहा है, उसे बहुत प्रकार के घत–दाँव-उपायों से-अनेक युक्ति-साधनों से विषयों से हटाकर श्रीविहारी जी के श्रीचरणों में लगाया। यदि आपके श्रीचरणों में नहीं लगाता, तो बहुत दुःख पाता।

अरे मन! तू सुख के लिये भटक रहा है। सुख के मूल–आधार, सुख के स्वरूप, सुख के सिन्धु तो श्रीविहारी जी हैं। वे करोड़ों कामदेवों के लावण्य-सौन्दर्य से भी अत्यधिक सुन्दर हैं। सब सुख उनके श्रीचरणों के आश्रित हैं, उनकी उपासना करते हैं। उनके सन्मुख दृष्टि सों दृष्टि जोड़े हुए, उनकी रुचि अनुसार सेवा करने में ही सब सुख हैं। आपकी रुख–माने रुचि के अनुसार सखीजन सेवन करने में ही अपने को कृतार्थ मानती हैं, सब सुखों को प्राप्त करती हैं। श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि इसीलिये मेरे स्वामी श्यामा-कुंजविहारिणि-कुंजविहारी का दिन–माने नित्य-प्रतिदिन विचित्र मुख देखता रहता हूँ, इसीमें परम सुख, परम लाभ है।

मूल- कबहुँ कबहुँ मन इत उत जात यातेंब कौन अधिक सुख ॥

भावार्थ- उपासक–भक्त देह और संसार के समस्त सुखों को मृगतृष्णा के समान असत्य एवं भ्रमरूप जानकर उनसे उपराम–उदासीन होकर वैराग्यपूर्वक साधना-उपासना में आरूढ़ हुआ है, लगा है, किन्तु अनादि अविद्याजन्य कर्मात्मक माया के अधीन बहुत काल से विषय वासना में फँसा हुआ जो मन है, वह कर्म-संस्कारवश भगवद्भावना–इष्ट चिन्तन सों हटकर विषयों की ओर चला जाता है, उनमें रसास्वाद लेने

लगता है, कभी इत–शरीर और संसार के सुखों में तथा कभी उत–परलोक के विषय सुखों में सुख मानने लगता है, उनका आस्वाद लेने लगता है, तो श्रीस्वामी जी महाराज मन को समझाते हैं–इससे अब अधिक कौन-सा सुख है, जो तू भजनीय सुख को छोड़कर उधर दौड़ रहा है।

गीता में श्रीभगवान् कहते हैं–

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥६-५॥

अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे, क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

बन्धुरात्मानस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥६॥

जिसने अपने-आपसे अपने-आपको जीत लिया है, उसके लिये आत्मा ही अपना बन्धु है और जिसने अपने-आपको नहीं जीता है, ऐसे अनात्मा का आत्मा ही शुत्रता में शत्रु की तरह बर्ताव करता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥७॥

जिसने अपने-आप पर विजय प्राप्त कर ली है, उस शीत-उष्ण (अनुकूलता-प्रतिकूलता), सुख-दुःख तथा मान-अपमान में निर्विकार मनुष्य को परमात्मा नित्य प्राप्त हैं।

विषयों का चिन्तन करनेवाला मन शत्रु के समान पतन करनेवाला है तथा श्रीहरि का चिन्तन-सेवन करनेवाला मन मित्रता के समान परम सुख–परम कल्याण करनेवाला होता है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं–

श्री बिहारीदास मन सौं कहै, अब न लगाऊँ तोहिं।
जस गाऊँ श्रीहरिदास कौ, तैं सुख दीनौं मोहिं॥२६६॥

रे मन! अब मैं तुझे नित्यकेलि को छोड़ और कहीं भी नहीं लगाऊँगा। क्योंकि तूने अनन्य एवं दृढ़रूप से श्रीयुगल की केलि का सेवन करके मुझे सुख दिया है। अब तो श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज का रसिक-अनन्यता का मधुर सुयश गाकर उनको और युगल को रिझाकर तुझे सुखी करूँगा।

विषयों का चिन्तन विष के समान महान् दुःख को देनेवाला और अपने अध्यात्म-परमार्थस्वरूप से भ्रष्ट करनेवाला, गिरानेवाला है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥६२॥(२ गीता)
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥६३॥

विषयों का चिन्तन करनेवाले मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति पैदा हो जाती है, आसक्ति से कामना पैदा होती है। कामना से (बाधा लगने पर) क्रोध पैदा होता है। क्रोध होने पर सम्मोह (मूढ़ भाव) हो जाता है। सम्मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है। स्मृति भ्रष्ट होने पर बुद्धि (विवेक) का नाश हो जाता है। बुद्धि का नाश होने पर (मनुष्य का) पतन हो जाता है।

इसीलिये श्रीस्वामी जी महाराज कहते हैं–विषयों का चिन्तन विषम विष के समान है। उसका सुख तो अल्प, भ्रमरूप और असत्य है। असीम, असमोर्द्ध्व सुखस्वरूप श्रीविहारी जी हैं, उन्हें छोड़कर तू सुख की खोज में इधर-उधर भटक रहा है?

ब्रह्म यामल तन्त्र में वर्णित है–संसार के सभी सुख पृथ्वीपति के अन्तर्गत हैं। उससे परे–माने श्रेष्ठ, ऊँचा, महान् सुख चक्रवर्ती का

है। उससे परे ब्रह्मलोक, शिवलोक का सुख है। यहाँतक प्रकृति जगत् है। उससे परे वैकुंठ का सुख है। वैकुंठ में भी चार मुक्ति का सुख है। उससे आगे ब्रह्मानन्द का सुख है। उससे भी आगे अनन्त कोटि गुणा सुख महावैकुंठ का है। उससे परे भगवान् श्रीरामचन्द्र का साकेतधाम का सुख है। उससे परे परम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र द्वारिकानाथ की उपासना का सुख और उपासनाओं से अधिक है। उससे परे ऐश्वर्य-माधुर्यमयी उपासना का सुख मथुरानाथ का है। उससे परे शुद्धमाधुर्यमयी उपासना का सुख व्रजलीला का है। उसमें में भी नन्द-यशोदा आदि से सखाओं का सुख अधिक है। उससे परे गोपीभाव का सुख है। उससे परे दूतीभाव का सुख है। दूतिका मान छुड़ाकर दोनों का मिलन कराती है। उससे परे राधाचरण प्रधान सखीभाव का सुख है। यह भाव नवलकिशोरी श्रीप्रिया जी की कृपा के बिना दुर्लभ है। सो श्रीसदाशिव जी कहते हैं—यह सखीभाव मेरा सर्वस्व है। इसलिये मैंने इसे छिपाकर रखा है।

यह युगल उपासना अति कठिन है। इसके बहुत भेद—स्तर हैं। इन सबके परे नित्यविहार रस निकुंज का सुख है। जहाँ श्रीयुगलकिशोर श्रीनित्यविहारी अहर्निश नित्य केलि रससिन्धु में तत्पर, तल्लीन, विभोर रहते हैं। यद्यपि ऊपर वर्णित सुख—रस भेद-स्तर-आवरण सब नित्यविहारी के अंश का ही विस्तार-प्रकाश है, उन्हींका सब खेल है, वे ही भीतर-बाहर ओत-प्रोत, परिपूर्ण हैं; फिर भी इस नित्य निकुंज रसदेश में किसीका प्रवेश नहीं है। दम्पति श्रीप्रियालाल के प्रेमरस की स्वरूपा अभिन्न निज सहचरी श्रीललिता—हरिदासी जी की कृपा बिना वहाँ किसीकी पहुँच नहीं है।

पहले तो मनुष्य जन्म मिलना ही कठिन है। उसमें भी शुद्ध जीव होना कठिन है। उसमें भी यह पुरुषपना खोना कठिन है। शुद्धभाव से मधुर-उपासनायुत साधन-भजन बने और संत-गुरु-हरि

कृपा से पुरुषभाव मिट जाये, तब उसके आगे गोपीभाव आ जाये, उसके आगे दूती-भाव आ जाये। यद्यपि इतने विघ्नों को टाले, दूर करे, तब शुद्ध सखीभाव प्रिया जू की कृपा सों प्राप्त होता है। उस सखीभाव द्वारा श्रीललिता–हरिदासी के अनुगत निकुंजमहल की सेवा का अधिकार प्राप्त होता है, तब श्रीविहारी जी के दर्शन-सेवा का सुख प्राप्त होता है।

रे मन! तुझे यह सुख सहज भावनाद्वारा प्राप्त हुआ है और तू सुख की लालसा से क्षुब्ध हुआ इधर-उधर भटक रहा है। इससे अधिक–बढ़कर, श्रेष्ठ कौन–सा सुख है? और सुख तो नाममात्र के सुख हैं। वे विषय–सुख असत्य, भ्रमरूप, विष के समान और सम्पूर्ण अनर्थों-दोषों, दुःखों एवं शोकों को देनेवाले हैं तथा नित्यविहारी का सुख तो नित्य, अचल, उज्ज्वल, सरस, नित्य बढ़नेवाला प्रेमानन्द का समुद्र है।

मूल - बहुत भाँतिन घत आनि राख्यौ नाहिं तौ पावतौ दुःख।।

भावार्थ-घत नाम-दाँव अथवा उपाय। बहुत प्रकार के उपाय युक्तियों से, बड़े साधनों से विषयों से बचाकर श्रीविहारी जी के चरणों में मन को लगाया। यदि आपके श्रीचरणों में मन को नहीं लगाता, तो अनेक दुःख पाता। क्योंकि भगवान् कपिल कहते हैं-

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥

भा. ३-२५-१५

इस जीव के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही माना गया है। विषयों में आसक्त होने पर वह बन्धन का हेतु होता है और परमात्मा में अनुरक्त होने पर वही मोक्ष का कारण बन जाता है।

वे अनेक प्रकार के उपाय ये हैं–

अहंममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः।
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम्॥ १६॥

जिस समय यह मन मैं और मेरेपन के कारण होनेवाले काम, लोभ आदि विकारों से मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है, उस समय वह सुख-दुःख से छूटकर सम अवस्था में आ जाता है।

तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृते परम्।
निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम्॥ १७॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम्॥१८॥

तब जीव अपने ज्ञान-वैराग्य और भक्ति से युक्त हृदय से आत्मा को प्रकृति से परे, एकमात्र (अद्वितीय), भेदरहित, स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म, अखण्ड और उदासीन (सुख-दुःखशून्य) देखता है तथा प्रकृति को शक्तिहीन अनुभव करता है।

असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन।
योगेन मय्यर्पिता च भक्त्या मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे॥

भा. ३-२५-२७

इस प्रकार प्रकृति के गुणों से उत्पन्न हुए शब्दादि विषयों का त्याग करने से, वैराग्ययुक्त ज्ञान से, योग से और मेरे प्रति की हुई सुदृढ़ भक्ति से मनुष्य मुझ अपने अन्तरात्मा को इस देह में ही प्राप्त कर लेता है।

यः स्वधर्मेण मां नित्यं निराशीः श्रद्धयान्वितः।
भजते शनकैस्तस्य मनो राजन् प्रसीदति॥

भा.४-२०-९

राजन्! जो पुरुष किसी प्रकार की कामना न रखकर अपने वर्णाश्रम के धर्मों द्वारा नित्यप्रति श्रद्धापूर्वक मेरी आराधना करता है, उसका चित्त धीरे-धीरे शुद्ध हो जाता है।

इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः।
चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात्॥

भा. ४-२२-३०

जो लोग विषय-चिन्तन में लगे रहते हैं, उनकी इन्द्रियाँ विषयों में फँस जाती हैं तथा मन को भी उन्हींकी ओर खींच ले जाती हैं। फिर तो जैसे जलाशय के तीर उगे हुए कुशादि अपनी जड़ों से उसका जल खींचते हैं, उसी प्रकार वह इन्द्रियासक्त मन बुद्धि की विचारशक्ति को क्रमशः हर लेता है।

इसलिये मन-इन्द्रियों को वश में कर सावधान होकर भक्ति-साधन में तत्पर, आरूढ़ होना चाहिये। वह भी सद्गुरुदेव के अनुगत—अधीन होकर करना चाहिये।

विजीतहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ॥

भा. १०-८७-३३

अजन्मा प्रभो! जिन योगियों ने अपनी इन्द्रियों और प्राणों को वश में कर लिया है, वे भी जब गुरुदेव के चरणों की शरण न लेकर उच्छृंखल एवं अत्यन्त चंचल मन-तुरंग को अपने वश में करने का प्रयत्न करते हैं, तब अपने साधनों में सफल नहीं होते। उन्हें बार-बार खेद और सैकड़ों विपत्तियों का सामना करना पड़ता है, केवल श्रम और दु:ख ही उनके हाथ लगता है। उनकी ठीक वही दशा होती है, जैसी समुद्र में बिना कर्णधार की नाव पर यात्रा करनेवाले व्यापारियों की होती है। (तात्पर्य यह कि जो मन को वश में करना चाहते हैं, उनके लिये कर्णधार—गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है)।

श्रीगुरुदेव की शरण लेकर उनके उपदेशानुसार सरल चित्त से साधन में प्रवृत्त होना चाहिये।

यथाग्निना हेम मलं जहाति ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥ २५॥

जैसे आग में तपाने पर सोना मैल छोड़ देता है- निखर जाता है और अपने असली शुद्ध में स्थित हो जाता है, वैसे ही मेरे भक्तियोग के द्वारा आत्मा कर्म-वासनाओं से मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि मैं ही उसका वास्तविक स्वरूप हूँ।

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥ २६॥

उद्धव जी! मेरी परम पावन लीला-कथा के श्रवण-कीर्तन से ज्यों-ज्यों चित्त का मैल धुलता जाता है, त्यों-त्यों उसे सूक्ष्म वस्तु के-वास्तविक तत्त्व के दर्शन होने लगते हैं-जैसे अंजन के द्वारा नेत्रों का दोष मिटने पर उनमें सूक्ष्म वस्तुओं को देखने की शक्ति आने लगती है।

विषयान् ध्यायतश्चितं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥ २७॥

जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है, उसका चित्त विषयों में फँस जाता है और जो मेरा स्मरण करता है, उसका चित्त मुझ में तल्लीन हो जाता है।

तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम्।
हित्वा मयिसमाधत्स्व मनो मद्भावभावितम्॥

भा. ११-१४-२८

इसलिये तुम दूसरे साधनों और फलों का चिन्तन छोड़ दो। क्योंकि मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, जो कुछ जान पड़ता है,

वह ठीक वैसा ही है जैसे स्वप्न अथवा मनोरथ का राज्य। इसलिये मेरे चिन्तन से तुम अपना चित्त शुद्ध कर लो और उसे पूरी तरह से—एकाग्रता से मुझमें ही लगा दो।

अप्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनो मय्यर्पयञ्छनैः।
अनिर्विण्णो यथाकालं जितश्वासो जितासनः॥१३॥

साधक को चाहिये कि आसन और प्राणवायु पर विजय प्राप्त कर अपनी शक्ति और समय के अनुसार बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे मुझमें अपना मन लगावे और इस प्रकार अभ्यास करते समय अपनी असफलता देखकर तनिक भी ऊबे नहीं, बल्कि और भी उत्साह से उसीमें जुड़ जाय।

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा॥

भा. ११-१३-१४

प्रिय उद्धव! मेरे शिष्य सनकादियों ने योग का यही स्वरूप बताया है कि साधक अपने मन को सब ओर से खींचकर विराट् आदि में नहीं, साक्षात् मुझमें पूर्णरूप से लगा दे।

अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम्॥२१॥
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येन बलीयसा।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना॥२२॥
प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम्।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः॥भा.३-२७-२३॥

श्रीभगवान् ने कहा—माता जी! जिस प्रकार अग्नि का उत्पत्ति-स्थान अरणि (काष्ठ) अपने से ही उत्पन्न अग्नि से जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार निष्कामभाव से किये हुए स्वधर्मपालनद्वारा

अन्तःकरण शुद्ध होने से, बहुत समयतक भगवत्कथा-श्रवण द्वारा पुष्ट हुई तीव्रभक्ति से, तत्त्व साक्षात्कार करानेवाले ज्ञान से, प्रबल वैराग्य से, व्रतनियमादि के सहित किये हुए ध्यानाभ्यास से और चित्त की प्रगाढ़ एकाग्रता से पुरुष की प्रकृति (अविद्या) दिन-रात क्षीण होती हुई धीरे-धीरे लीन हो जाती है।

इस प्रकार मन को अन्य चिन्तनों से हटाकर सदा इष्टचिन्तन में नियुक्त करना चाहिये। अनेक जन्मों से जीव विषयों में आसक्त हुआ उन्हें सेवन करता आया है; इसलिये अल्प कुसंग से-विषय संग से वह अपनी साधना को खो बैठता है। इन विषयों की पहचान इतनी बुरी है कि उसे अपने में फँसाकर, सर्वस्व हरणकर उसके प्राण ही ले लेती है।

विषइनि कौ संग सर्वथा, तजि मन निज जिय जानि।
वह करै तिहीं छीन आपसौ, यह बड़ी भक्ति बिच हानि॥५७॥

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी

रे साधक-उपासक! इष्ट के अलावा जो कुछ देखने-सुनने में आता है, वह सब विषय है। इन विषय-विषयसंगियों का संग सर्वथा-सर्वप्रकार से मन से ही त्याग दे-छोड़ दे, यह तू अपने जिय में-हृदय में अच्छी प्रकार जान ले-समझ ले। क्योंकि वह विषय-विषयी संग उसी क्षण अपने स्वरूपज्ञान को भुलाकर अपने समान कर लेता है। यह भक्ति में बहुत बड़ी हानि है। जीव का इष्ट की ओर से मुख ही फिर गया, विमुख हो गया, इससे बड़ी और क्या हानि है?

श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव जी से कहते हैं-

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरतः आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥

भा. ११-१४-२९

संयमी पुरुष स्त्रियों और उनके प्रेमियों का सङ्ग दूर से ही छोड़कर, पवित्र एकान्त स्थान में बैठकर बड़ी सावधानी से मेरा ही चिन्तन करे।

न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्य प्रसङ्गतः।
योषितसङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गितः॥३०॥

स्त्रियों के सङ्ग से और स्त्रीसङ्गियों के–लम्पटों के सङ्ग से पुरुष को जैसे क्लेश और बन्धन में पड़ना पड़ता है, वैसा क्लेश और फँसावट और किसीके भी सङ्ग से नहीं होती।

इसीलिये मन को समझा–बुझाकर इष्ट के सन्मुख भजन परायण करना चाहिये। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणदेव जी महाराज अपने में जीवभाव का आरोपकर मन को समझाते हुए कहते हैं।

मन मेरे अजहूँ होहि सयानौ।
हरिपद कमल बिसारि विषै रति कहा फिरत बौरानौ॥

रे मन! बहुत दिन इस तरह मायामुग्ध हुए भटकते हो गये। अब आज तो सयाना हो, विवेक–बुद्धि से चतुराईपूर्वक निर्णय कर कि क्या सार है, क्या असार है। नित्य, सत्य, परम आनन्दकन्द और सब सुखों को देनेवाले श्रीहरि–युगलकिशोर के चरणारविन्द हैं। उन्हें तू भूलकर, उनसे विमुख होकर सब अनर्थों–दोषों, तापों, क्लेशों, दु:खों को देनेवाले विषरूप विषयों को सत्य और सुखरूप मानकर उनसे रति–प्रेम करके मुग्ध हुआ क्या बौराया–बावला, पागल, भ्रमित हुआ, बहका हुआ फिर रहा है?

सोई सोई दाइ उपाइ करत नित जो अपने चित भानौ।
भयौ विवस आलस अभिमानी नेक न इत नियरानौ॥

विषयमुग्ध, विषयान्ध होने से जो तेरे चित्त में अच्छा लगता है, रुचता है कि कैसे विषय प्राप्त हों, उनकी वृद्धि हो, नित्य

वही-वही दाँव-उपाय-युक्ति-प्रयत्न करता है। अभिमानी-देहासक्त! विषय-रस स्वाद के विवश-अधीन और आलसी हुआ-उसी सुख की आशा में मग्न हुआ तनिक भी इत-इधर-करुणासागर, दीनबन्धु, प्राणप्रियतम श्रीहरि के निकट नहीं आया! अर्थात् सत्संग, कथा और नाम-गुण से प्रेम नहीं किया।

सेरक हाड़ खाल गज डेढ़क इहि ममता इतरानौ।
ताके हित नित करत परिग्रह अहंकार अरुझानौ॥

जिस शरीर में एक सेर के लगभग हाड़-हड्डियाँ हैं तथा डेढ़ गज के लगभग खाल-चमड़ी है, ऐसी मांस-मज्जा, रक्त-पीव, मल-मूत्र से भरी हुई अत्यन्त अपावन और असत्य, क्षणभंगुर-क्षण में नाश होनेवाली, दुःख-दोष, रोग-भोग से परिपूर्ण देह से इतनी ममता! इसी ममता से तू इतना इतरा रहा है-ऐंठ, ठसक, गर्व में फूल रहा है। ऐसी बिजली और बादल की छाया के समान अस्थिर-चंचल देह के लिये सदा अनेक वस्तुओं को संग्रह करता है तथा मिथ्या रूप, गुण, यौवन, धन, पद-प्रतिष्ठा के अहंकार में अरुझा-फँसा रहता है।

सुत दारा कौ निरखि निरखि मुख अधम न उबटि अघानौ।
ना कछु आहि न ताहि विचारत स्वारथ स्वाद बिकानौ॥

जो सुर-मुनि दुर्लभ शरीर श्रीहरि के भजन-सेवन के लिये मिला, उसे तूने संसार के मोह में अन्धा होकर सारा जीवन बिता दिया, फिर भी उसीमें लगा हुआ है। अधम-पतित, नीच! अब भी पुत्र, स्त्री के मोह में अन्धा हुआ, उनके मुख को देख-देख उबटि-अरुचि नहीं हुई, ऊबकर अघाया नहीं, तृप्त नहीं हुआ। संसार के सभी विषय-वस्तु भ्रममात्र और दुःखरूप असत्य हैं। स्वप्न के समान असत्य हैं। फिर भी उन्हींके विचार में-सेवन में

लगा हुआ है और स्वसुख-विषयस्वाद में बिक गया। अपने भगवत्‌दास स्वरूप की तनिक भी सुधि-खबर नहीं करता।

जीवत मृतक भयौ लोभिन संग रहत लोभ लपटानौ।
श्रीबिहारीदास बिनु बहुत बिगूचे केतिक वरनि बखानौं॥४९॥

अपने स्वरूप के ज्ञान बिना, इष्ट–श्रीहरि की भक्ति के बिना तू जीवित होते हुए भी मृतक–मूर्दे के समान हो गया। यह सब विषयों के लोभी, विषयासक्तों के संग का प्रभाव है। उनके संग रहने से तू भी सदा विषयों की लालसा-तृष्णा में लिप्त रहता है। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं–श्रीविहारी–श्रीयुगलकिशोर के दास हुए बिना, उनकी अनन्य भक्ति किये बिना बहुत से माया में उलझ गये, भयंकर कठिनाई में पड़कर मारे गये। कितनों का वर्णन करके बखान करुँ, अर्थात् शास्त्र, इतिहास ग्रन्थों में बहुत वर्णित हैं।

मन मेरे अनत कहूँ जिनि जाहि।
चरन कमल मकरंद स्वाद सुख अलि ह्वै अचै अघाहि॥

इसलिये मेरे मन! अनत–अन्य सब जगह त्रिताप को देनेवाली अविद्यारूप त्रिगुणमयी माया है, मत जा–मत भटक। सत्य, सुख रूप, परम प्रेम रसानन्दरूप प्राणजीवन श्रीहरि के चरणकमल की प्रेम-माधुर्यमयी मकरंद के सुखस्वाद को अलि–भ्रमर बनकर अघाकर, खूब छककर पान कर।

भयौ फिर्‌यौ तेरे बस बहुत दिननि देख्यौ अवगाहि।
अब छबि निरखि महा मोहन की मेंटि पाछिली पाहि॥

रे मन! तेरे अधीन, तेरी इच्छानुकूल बहुत दिन भटका, सब को छान-बीनकर, मंथनकर, सेवनकर देख लिया, किन्तु कुछ भी हाथ नहीं लगा, सब कुछ खो दिया। अब तेरे पास जो कुछ है, उन

वृत्ति, स्वभाव, क्रिया आदि सबको त्यागकर महामोहन—परम सौन्दर्य-माधुर्य, अनुरागनिधि, महामनोहर प्रिया-लाल की छवि को देख। क्योंकि वे मनमोहन तेरे को ही चाहते हैं। तेरे को उनकी ओर लगते ही वे अपने आपको दे देंगे। तेरे भीतर वे नित्य, सदा से विराजमान हैं। तू अनुरागसहित उनकी छवि को निहार।

कर धरि करनि कहैं समझावत जो समझै न पत्याहि।
आतुर स्वाद स्वान जूँठनि लौं लोभ लठा जिनि खाहि॥

करुणा-वात्सल्य के निधि श्रीहरि-गुरु करुणा-स्नेह के वश अपने हाथ में अपने जन का हाथ पकड़ समझाते हुए कहते हैं, तो भी तू समझता नहीं, अथवा समझकर विश्वास नहीं करता है। वे कहते हैं—संसार के, त्रिभुवन के जितने सुख हैं, वे सब असत्य, भ्रमरूप और अल्प सुख की प्रतीतिमात्र हैं। जैसे स्वान—कुत्ता जूँठी पत्तल को देखते ही सुख-स्वाद के लोभ से आतुर-व्याकुल होकर दौड़ता है, किन्तु उसे लट्ठ की मार ही खानी पड़ती है, ऐसे ही सम्पूर्ण विषय—पद-प्रतिष्ठा आदि जूँठी पत्तल के समान असत्य, भ्रमरूप और सुख की प्रतीतिमात्र हैं। वे सुख की प्रतीति कराकर लोभ उत्पन्न करके अपनी ओर आकर्षित करते हैं, किन्तु वे सब विषय दु:ख, दोष, शोक, संताप, क्लेश को देनेवाले हैं। इस लोभ रूप लट्ठ की मार मत खा। भक्त का स्वभाव संतोष है। संतोष बल अपने आराध्य श्रीहरि-गुरु को रिझा, प्रसन्न कर।

श्रीवृन्दावन बसिवौ इतौ सुख देत कृपा करि काहि।
मेरौ कह्यौ विचारि हिये धरि मति पाछैं पछिताहि॥

वैकुण्ठ-गोलोक आदि सब धामों का मुकुटमणि, श्री प्रिया-लाल का निज विहारधाम श्रीवृन्दावन का वास सुर-मुनि आदि सबको दुर्लभ है। जहाँ नित्यसिद्ध रसिक-अनन्यजन सदा

विचरण करते रहते हैं। उन श्रीहरि ने कृपाकर उसके वास का सुख तुझे दिया, इतना सुख दिया, यह क्या कम है?

इतना सुख किसको देते है? श्री वृन्दावनेश्वरी श्रीनवलकिशोरी की कृपा के बिना उसका वास सबको दुर्लभ है। सब साधन-साध्यों का मूल परम आनन्दरूप श्रीवृन्दावन धाम हैं। जहाँ सब सुख सहज प्राप्त होते हैं। इस प्रकार संतोष धारण करके श्रीवृन्दावन में वास कर, यह मेरे कहने को विचार कर-निर्णय करके हृदय में धारण कर, उसके अनुसार अनुसरण कर, चल। यदि तू ऐसा नही करेगा तो तुझे पीछे पछताना पड़ेगा।

औगुन सबै कहूँव कहाँ लौं कहा बकौं बकि वाहि।
श्रीबिहारीदास रति मानि जानि या पद के अर्थनि चाहि॥५०॥

संसार में जो गुण, सुख दिखते हैं, वे सब अवगुण–दोषरूप हैं। संसार और शरीर के सब गुण, सब सुख असत्य, भ्रमरूप और दु:ख-दोष को देनेवाले हैं। यदि उनका सम्बन्ध सत्य, नित्य, चिन्मय आनन्दस्वरूप श्रीहरि से है तो वे भी सुख को देनेवाले और कल्याण करनेवाले बन जायेंगे और श्रीहरि से सम्बन्ध नहीं है, तो वे सब महादु:ख-दोषरूप और अकल्याण करनेवाले हैं। अब और कहाँतक कहूँ, ब्रह्मलोकतक सभी लोक मायामय हैं। सबकी असत्य, भ्रममय स्थिति है। और क्या बकूँ–क्या कहूँ? यदि जिज्ञासी है, प्रवीण है, तो थोड़े में, संकेत में ही समझ जायेगा; नहीं तो बकवाद–बकवास करना है, व्यर्थ समय को खोना है। इसलिये तू निर्णय–निश्चय कर और शरीर-संसार के सम्बन्ध को असत्य मानकर अपने को श्री विहारीदास–श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणी का दास मान–महल में नित्य सेवा करनेवाली महलिनी-दासी-सखी मानकर उनके श्री चरणकमलों में रति मान–दृढ़ता से प्रेम कर। इस प्रकार इस पद के

अर्थों की ओर देखकर—विचारकर अपने जीवन को भक्ति-रस के प्रवाह में ढाल—प्रवृत्त कर।

श्रीआचार्यचरण अपने में जीवभाव का आरोपकर भक्ति-भाव का आचरण करके जीव को और भी समझा रहे हैं।

मन मेरे तू जिनि भुलवै ताहि।
पायौ रतन अमोलक भागनि गये पूछिहै काहि॥

अरे मेरे मन! तू उन करुणामय, भक्तवत्सल, आत्मबन्धु, परम प्रेममय, नित्यसंगी, प्राणजीवन श्रीहरि को मायामय सुख के भ्रम में—धोखे में मत भुला, दृढ़ता से उनका स्मरण कर, सेवन कर। महान् भाग्य से—महान् पुण्य से—श्रीहरि-गुरु-सन्त कृपा ही परम पुण्य है; उस पुण्यबल से—भाग्य से अपने निज इष्ट—श्रीहरि का नाम, रूप, गुण, लीला, धाम, उपासना—भक्तिरूप अति अमूल्य रत्न तुझे मिला है। यदि तू ऐसे विमुख हो डोलेगा, तो वह प्राप्त अमूल्य रत्न—धन हाथ से चला जायगा, फिर तू किससे पूछेगा और कौन तेरे को बतायेगा?

मन क्रम वचन राखि हृदै धरि कृपननि ज्यौं जड़ताहि।
छिन छिन गनत विचारत आरत आलस जिनि लपटाहि॥

इसलिये जैसे कृपण—कंजूस व्यक्ति अपने धन को प्रतिक्षण सम्भालता रहता है, अपने पुत्र, परिवार आदि को भी बताता नहीं और खर्च भी नहीं करता है, उसकी ऐसी जड़ता है, अन्धपना, मूढ़ता है। ऐसी ही वृत्ति के अनुसार अपने प्राणाधार श्रीहरिरूप धन को मन से—अनन्य स्मरण-चिन्तन के द्वारा, वचन से—नाम-जप, गुण-कीर्तन के द्वारा एवं क्रम—शरीर की क्रिया से सेवा, दृढ़ता और स्थिरता के द्वारा हृदय में धारण किये रह। आलस्य में मत लपटाय कि फिर कर लूँगा, निरालस्य होकर, आर्त-व्याकुल होकर कि ऐसा अवसर कब

आवेगा, कब मिलेगा, ऐसे आतुर होकर क्षण–क्षण-माने प्रतिक्षण उनके नाम, रूप, गुण को गिन–मनन कर, स्मरण-चिन्तन कर और नित्य लीला-विहार केलिमय गुणों का विचार कर-सेवन कर।

अपने संत सजातिन सौं मिलि कहि सुनि आनंद बढ़ाहि।
यहै सुदृढ़ ह्वै सुनि सिख मेरी विमुखनि संग जिनि जाहि॥

ऐसे सेवन, भजन का रसानन्द तभी बढ़ेगा, ज़ब तू अपने सजाती संतों का संग करेगा। सजाती–माने अपनी उपासना के अनुसार उपासना करनेवाले जन। संत–माने जो दृढ़ता से उपासना में लगे हुए हैं, जिन्होंने अपने विषयतृष्णा आदि तापों को शीतल कर लिया है। ऐसे सजाती रसिक संतों से मिलकर भगवद्गुण-लीला के कहने-सुनने से प्रेमपूँजी बढ़ेगी, घटेगी नहीं। उनसे मिलकर लीला-गुण कथन-श्रवण से भक्तिप्रेमरूप आनन्द बढ़ाता रह, जिससे संसारसुख फीका–सारहीन हो जाये।

किन्तु तू यह मेरी एक सिख–एक उपदेश, एक बात अत्यन्त दृढ़ होकर, प्रण लेकर सुन कि जो श्रीहरि-गुरु-संतों से विमुख हैं, विषयी और भक्तिहीन हैं, उनके संग मत जा–उनका भूलकर भी संग मत कर। क्योंकि उनका संग अपने स्वरूप को भुलाकर, पुराने संस्कार जगाकर अपने समान बना लेता है, यह सबसे बड़ी हानि है।

निर्भै भये गयौ भै सबकौ अब जिनि जिय अकुलाहि।
श्रीबिहारीदास प्रभु सब सुख सागर लैहैं स्याम निबाहि॥५१॥

अरे मन! श्रीहरि–गुरु के आश्रित रहकर इस प्रकार चलने से बहुत-से जन निर्भय हो गये। सबका माया मोह-भ्रम दूर हो गया। वे अपने लक्ष्य को, परम पद को प्राप्त हो गये। फिर अब तू जिय में मत अकुला–मत व्याकुल हो, मत घबड़ा कि मार्ग बड़ा कठिन है, कैसे होगा। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं-

प्रभु—श्रीनित्य विहारी सब सुखों के सागर हैं, परम करुणा-वात्सल्य की मूर्ति हैं, वे श्यामसुन्दर सब निबाह लेंगे। सम्पूर्ण कार्यों को वे ही करनेवाले हैं। अपने आश्रितजन का हाथ पकड़ वे भक्तिमार्ग पर चलाते हैं और सब विघ्नों को दूर कर तथा भक्ति के अनुकूल गुण—साधनों को देकर अपनी प्राप्ति करा देते हैं, तू इन बातों के लिये चिन्ता मत कर।

श्रीआचार्यचरण मन की विमुख करतूतों से दुःखी होकर अपने आश्रयस्थान सुखनिधि निज इष्ट श्रीहरि सों ही कहते हैं।

मन मेरौ कहे सुने न पत्याइ।
नट नागर सुख सागर सर्वसु राख्यौ निकट दुराइ॥

हे श्रीहरि! यह मेरा मन ज्ञानमय उपदेश की बातों को कहने पर और गुरुजनों द्वारा कहे हुए वचनों को सुनकर भी विश्वास करता नहीं है, उसके अनुसार चलता नहीं है। सन्त-गुरुजन कहते हैं—जैसे नट अपनी विद्या से जादू की कलायें दिखाकर अपने को छिपा लेता है और कुछ और ही दृश्य दिखा देता है, ऐसे ही श्रीहरि अत्यन्त चतुर नट हैं। नटों के शिरोमणि हैं। सब सुखों के सागर और सर्वस्व हैं, सब सुखसार रूप हैं। उन्होंने अपनी योगमाया से अपने को छिपाकर त्रिगुणमयी माया की रचना करके मायाप्रपंच—जगत् को दिखा रखा है। यद्यपि वे सबके भीतर-बाहर ओत-प्रोत हैं, अति निकट हैं, जैसे वे निकट—संग, पास में हैं, ऐसे बन्धु-बान्धव आदि कोई भी निकट नहीं हैं, फिर भी वे दीखते नहीं हैं, इस तरह उन्होंने अपने को छिपाकर सबको भुला रखा है।

हँड़िया हाड़ विषै खर पूरा रह्यौ जग मृग बिझुकाइ।
हर्यौ खेत हरि भजन आपनौ निरभै भयौ न खाइ॥

जैसे किसान पक्षियों-पशुओं आदि को भगाने, डराने के लिये खेत में बिजूखा–पुतला खड़ा कर देते हैं। मृग-पशु आदि उसे देख डरकर भाग जाते हैं और निर्भय होकर हरे-भरे खेत को खा नहीं पाते हैं, चर नहीं पाते हैं। ऐसे ही यह असत्य, क्षणभंगुर, मिथ्या सुख का भ्रम उत्पन्न करनेवाला संसार श्रीहरि और जीव के बीच में है। यह संसार बिजूखा के डराने के समान सुख का लोभ दिखाकर इस जीव को चौंका देता है, डरा-भगा देता है, यह जीवपशु निर्भय-निशंक, निश्चिन्त होकर परम प्रेम-रसानन्दमय हरिभजनरूप खेत का–नाम, रूप, लीला, धाम के सेवनरूप दिव्य प्रेम रस चिन्मय आनन्दरूप खेत का सेवन नहीं कर पाता है। जैसे खर–गदहा पशु दिनभर विषयों के भोगने, घास चरने और बोझ ढोने में लगा रहता है, ऐसे ही नर-पशु गदहा जिसके शरीर में एक हंडी–मटकी में समा जायँ इतने तो मांस, मज्जा-मेद से भरे हाड़-हडियाँ हैं, उसके मद–अभिमान में भरकर विषयों को भोगने में पूरा गदहा पशु बना हुआ है। विषरूप विषयों का प्रलोभन उसे विषयों के जाल में फँसाकर मोहमूढ़, आसक्त बनाये रखता है।

सुख बिसर्‌यौ घर जरत न जान्यौ घूर बुझावन जाइ।
यौं भ्रम भूलि रह्यौ जड़ तन मन धूरि धुवाँ लपटाइ॥

यह अपने श्रीहरि के सेवनरूप नित्य सुख-आनन्द को ऐसे भूल गया है, जैसे किसीका घर जल रहा हो और वह अपने जलते हुए घर को तो न जाने, न देखे और घूरे–कचड़ा-कूड़ा डालने के स्थान में आग लग जाये और उसे बुझाने जाये, बुझाने में लग जाये। इसी प्रकार यह जड़–मूर्ख अपने नित्य, चिन्मय श्रीहरि के भजनानन्द को तो भूल गया है, उसकी ओर दृष्टि भी नहीं करता है और मिथ्या सुख की भ्रान्ति–भ्रमरूप वासनाओं की धूल तथा अनेक चिन्ताओं के धुएँ

से तन से, मन से लिप्त–सना रहता हुआ सदा विषरूप-विषय-तृष्णा की आग को बुझाने में लगा हुआ है।

इहि अविवेक आवर्यौ बहुत दिन मन की टेव न जाइ।
श्रीबिहारीदास प्रभु तौ सुख सूझै जो तुम देहु दिखाइ॥५२॥

इसी अविवेक–अज्ञान ने बहुत दिनोंतक घेर रखा, उसी मूढ़ता के बस बहुत दिन–जन्म-जन्मातर ऐसे ही विषयासक्त, मोहान्ध हुआ भटकता रहा, अब मन की सुदृढ़ टेव–आदत पड़ गई, वह छूटती नहीं है, विषयों को दुःखरूप-भ्रमरूप जानते हुए भी मन आदत-वश ऊधर ही भागता रहता है। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं–हे प्रभु–नित्यविहारी! यह जीव सदा-सर्वदा मूढ़, मोहान्ध, दीन और निबल–बलहीन है। यह अपने बल से कुछ भी कर नहीं सकता है और यह भी नहीं जानता है कि मेरा हित–कल्याण किसमें है। यह अपने नित्यस्वरूप को, आपके दिव्य, चिन्मय नित्यविहार सेवासुख को तभी जान सकता है, अनुभव कर सकता है, देख सकता है, जब आप ही कृपा करके इसे दिखा दो, अनुभव करा दो।

इस प्रकार मन की हठ पड़ गई, कुटिल टेव पड़ गई है। ऐसे समझा-बुझाकर उसे इष्ट के स्वरूप में लगाया। नहीं लगाता तो इष्ट-विमुख हुआ, माया-मोह-भ्रम में मगन होकर बहुत दुःख पाता।

मूल - कोटि काम लावण्य बिहारी ताके मुँहाचुहीं
सब सुख लियें रहत रुख।

भावार्थ- अरे मन! तू सुख के लिये ही तो इधर-उधर भटक रहा है। श्रीविहारी जी के अतिरिक्त–अलावा सब माया–भ्रममात्र है, सुख कहाँ है? सुख के मूल–आधार, सुख के स्वरूप, सुख के सिन्धु तो श्रीविहारी जी महाराज हैं। वे करोड़ों कामदेवों की लावण्यता सौन्दर्य-माधुर्य से भी विशेष–अत्यधिक सुन्दर हैं। उनके एक रोम के सौन्दर्य पर करोड़ों कामदेवों की लावण्यता–सौन्दर्यता

न्यौछावर है। वे दिव्य, चिन्मय परम प्रेममय शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि रस-सुख और सौन्दर्य, माधुर्य, स्नेह, प्रेम, रस, कारुण्य, वात्सल्य आदि दिव्य गुणों के धाम हैं। सो उनके मुँहाचुहीं—माने सन्मुख दृष्टि सों दृष्टि जोड़ें दर्शन-सेवन में ही सब सुख हैं। सखीजन सदा आपकी दृष्टि सों दृष्टि जोड़ें, आपकी रुख—माने रुचि के अनुसार सेवन करती हैं, इसीमें सब सुखों को प्राप्त करती हैं और अपने को कृतार्थ—कृतकृत्य—धन्य-धन्य मानती हैं। अथवा सब सुख श्रीविहारी जी के श्रीचरणों के आश्रित हैं, उनकी रुख—रुचि लिये-रुचि के अनुसार उनकी उपासना-भक्ति करते हैं।

सर्व सुख मूल वृन्दावन बिहारी॥१९९॥
सकल सुख तुम पद परसि बिहारी॥२४९॥

महान्त श्रीस्वामी किशोरदास जी

युगलकिशोर श्रीप्रियालाल सर्व सुखों के मूल—आधार और सब सुख-रसरूप हैं। यदि सुख की इच्छा है तो सर्व इन्द्रियों के नित्य, सत्य, दिव्य, चिन्मय प्रेम रसानन्दमय सुख इन्हींके श्रीचरणों में ही हैं, इन्हींकी अनन्य उपासना करनी चाहिये। और निष्कामभाव—तत्सुख भाव है, तो भी सर्व प्रकार से ये ही भजनीय, सेवनीय हैं। इन्हींकी रुचि—इच्छा को लिये हुए अनन्यभाव से भक्ति करनी चाहिये।

जीव श्रीकुंजविहारी का नित्यदास होने से सर्वात्मा से—सर्वेन्द्रियों से उनके रूप रस सुख के सेवन करने का स्वभाव इसकी इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सर्वात्मा में है। जैसे कस्तूरीमृग की नाभि में कस्तूरी होती है। जब वह पककर फूट जाती है, तब चारों ओर उसकी सुगन्ध महकने लगती है। मृग बावला होकर लता, पेड़ की जड़ों, पत्थरों आदि के नीचे सर्वत्र—सब ओर सूँघता ही रहता है, खान-पान भी भूल जाता है। इसी प्रकार प्रेम रस सुखमय जीव अपने नित्य निज

रसिकस्वरूप को भूल देहाभिमान को प्राप्त हो, देहासक्त होकर संसार में विषयों के अत्यल्प आभासरूप, भ्रमरूप, क्षणिक, प्रतीतिमात्र सुख में अपने नित्य सुख को खोज रहा है, किन्तु हाथ कुछ भी पड़ता नहीं है। क्योंकि सब मिथ्या, भ्रममात्र हैं। ऐसे ही भटकते-भटकते अनन्त जन्म बीत गये, किन्तु इसकी भटकन नहीं मिटी। यह भटकन तभी मिट सकती है, जब इसकी सब सुखरूप, सुख के आधार, सुखसागर से भेंट हो। वे श्रीनित्यविहारी हैं। उन्हीं की रुचि लिये अनन्यभाव से सेवन करने में ही सब सुखों की प्राप्ति है, कृतार्थता है।

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी महाराज कहते हैं–

इन विषयनि सौं पेट न भरईं। तीनौं लोक भोग जो करईं॥
पातरि चाट न स्वान अघावै। मन की भूख नेंकु नहिं जावै॥५८९॥

इन मिथ्या, भ्रमरूप, मृगतृष्णारूप विषयों से कभी किसीका पेट भरता नहीं है, चाहे वह तीनों लोकों के भोगों का भोग क्यों न कर ले। जूठी पत्तल को चाटने से कुत्ते का पेट भरता नहीं, वह अघाता नहीं है। क्योंकि उसमें वस्तु–भोजन नहीं है, थोड़ा सा जूठा लगा हुआ है, जिससे उसीमें भोजन का भ्रम हो रहा है। ऐसे ही त्रिलोक के सम्पूर्ण विषय असत्य और भ्रमरूप हैं। उनके सेवन से मन की भूख तनिक भी नहीं मिटती है, बल्कि तृष्णा–लालसा बढ़ती ही जाती है।

ओस के पानी प्यास न भाजै। जब लगि हरि सागर नहिं राजै॥
नाना जोइनि विषैरस भमैं। फिर फिर बँध्यौ जाइ दुख कमैं॥५९०॥

आगे दृष्टान्त देते हैं–प्यासा व्यक्ति, जिसके प्यास से कंठ सूख रहा है, वह यदि प्यास बुझाने के लिये सर्दी के दिनों में घास में ओस के पानी के कण लगे रहते हैं, छाये रहते हैं, उन्हें वह चाटे, चाटता रहे, तो भी प्यास बूझती नहीं है, बल्कि और बढ़ती ही जाती

है। ऐसे ही संसार के मिथ्या, भ्रमरूप विषयों के सेवन करने से तृप्ति होती नहीं है। तृप्ति तो तबतक होती नहीं है, जबतक दिव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम, रस, आनन्द के सागर श्रीहरि–श्रीयुगलकिशोर सामने प्रकट होकर विराजते नहीं हैं। किन्तु यह प्राणी नाना–अनेक योनियों में विषयरस सेवन में भरमा है–भटकता रहा है। उन्हीं कर्मों के प्रभाव से बार-बार दुःखमय कर्मों में जाकर बँध गया, फँस गया। उन्हीं कर्मों के अनुसार वृत्ति, गुण, स्वभाव, वासना, कामना, आसक्ति और कर्म बनते हैं। यह मूढ़ जीव पुनः-पुनः उन्हीं दुःखरूप कर्म बन्धनों में बँधा हुआ भटकता रहता है। उससे बाहर क्या सुख है, यह जानता ही नहीं है।

हरि गुरु बार बार समुझावैं। याके मन में नेंकु न आवै॥
विष कौ कीड़ा विषई रुचै। हरि रस अमृत नेंकु नहिं सुचै॥५९१॥

श्रीहरि भागवत, गीता आदि ग्रन्थों के द्वारा और हरिरूप गुरु अपनी वाणी–उपदेश द्वारा बार-बार समझाते हैं, किन्तु अनादि कर्मात्मक अविद्याजन्य विषय-मोहासक्ति के कारण इसके विषयी-मलिन मन में थोड़ी भी, तनिक भी समझ नहीं आती है। जैसे विष के कीड़े को विष ही अच्छा लगता है, अमृत समान मिश्री अच्छी नहीं लगती है, उसे सूँघते ही मर जाता है। इसी प्रकार विषयासक्त, मोहान्ध प्राणी को श्रीहरि का नाम, रूप, लीला, विहाररूप अमृतरस तनिक भी सुहाता नहीं है, तनिक भी उसका ज्ञान होता नहीं है।

आगे कारण बताते हैं–

बहुतक जन्म विषय रस बीते। हरि रस स्वाद नेंकु नहिं पीते॥
हरि रस स्वाद नेंकु जब चाख्यौ। तनु मन प्रान प्रीति सौं राख्यौ॥५९२॥

इस महामूढ़ प्राणी के अनेक जन्म–असंख्य जन्म विषयरस के सेवन करते हुए बीत गये, उसीके प्रभाव से तन, मन, प्राण-सर्वस्व

मलिन, मूढ़, मोहान्ध, विषयासक्त हो गये। अब इसके मलिन मन-इन्द्रियों में हरिरसस्वाद जानने, पीने की क्षमता–योग्यता ही नहीं रही है, तो फिर श्रीहरि के नाम, गुण, लीला-विहार का स्वाद कैसे पीवे? इसलिये यह हरिरसस्वाद को तनिक भी पीता नहीं है। जब अकारण करुणानिधि, परमस्नेही, निज आत्मीयबन्धु श्रीहरि, गुरु, सन्त की कृपा से सौभाग्य उदय हो जाये, तो उस परम उज्ज्वल, परम प्रतापवान्, परम तीव्र, तीक्ष्ण हरिरसस्वाद का तनिक आस्वाद मिलते ही इसके समस्त कल्मष–पाप, मोहान्धकार नष्ट हो जाते हैं और यह तन, मन, प्राणों से अत्यन्त प्रीतिपूर्वक उस उज्ज्वल, मधुर रस को हृदय में धारण कर लेता है, रंक की भाँति अमूल्य निधि की प्राप्ति के समान प्रीतिपूर्वक सदा सेवन करता है।

नैन बैन जे एकरस बोलैं। पाँचौं इन्द्रीं रसै कलोलैं॥
निर्भय भयौ अभय रस पीयौ। जन्म मरन सब छूटि गयौ जियौ॥५९३॥

यह प्राणी फिर नेत्रों से, वचनों से एकरस श्रीहरि के दिव्य रस का ही अनन्यभाव से सेवन करता है–नेत्रों से उनके दिव्य रूप, सौन्दर्य, माधुर्य, लीला-विहार को, वचनों से उनके मधुर नाम, गुण, सुयश को कहता है। इस तरह इसकी पाँचों इन्द्रियाँ दिव्य रस सुधासागर में कल्लोल करती रहती हैं–नेत्रों से रूप-माधुर्य रस, कानों से मधुर, उज्ज्वल वचनसुधारस, या सुयशरस, वचनों से नाम, गुण, सुयश गान सुधारस, नासिका से अंग-अंग की सुगंध सुधारस और स्पर्श इन्द्री से आलिंगन–मिलनसुधा–रस का पान करते हुए आनन्दसिन्धु में मग्न रहती हैं। फिर यह देह, गेह आदि माया-काल के बन्धनों से मुक्त हुआ निर्भय, निःशंक हो जाता है और अभय रस–माने जिस रस में मिलना, बिछुड़ना, मान, विरह, भ्रम या क्रम-क्रम का प्रसार नहीं है, ऐसे अत्युज्ज्वल अभयरस नित्यविहाररस का सदा

पान करता है। उस रस के पान करते ही इसके जन्म-मरण आदि सब बन्धन छूट जाते हैं, इसके जिय के सब बन्धन छूट जाते हैं। यह जीवनमुक्त हुआ अभयरस को निःशंक हो सदा विलसता है।

इसीलिये श्रीस्वामी जी महाराज कहते हैं–

मूल - श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी कौ
दिन देखत रहौं विचित्र मुख॥३॥

भावार्थ–श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि इसीलिये मैं मेरे स्वामी श्यामा–अद्भुत रूप, गुण, कैशोर्य, माधुर्य, लावण्य से परिपूर्ण, सकल कलानिधि, नित्य विलासिनी श्रीकुंजविहारिणी और परिपूर्ण रूप, गुण, कैशोर्य, लावण्य, माधुर्य एवं सम्पूर्ण कलाओं के वारिधि श्याम–श्रीकुंजविहारी के नव तारुण्य, लावण्य, माधुर्य एवं नव-नव विहार रस रूप माधुर्य से परिपूर्ण विचित्र–अद्भुत, उपमारहित श्रीमुखारविन्द को दिन शब्द–काल सामान्य–माने प्रतिदिन, नित्य-निरन्तर, प्रतिक्षण देखता रहता हूँ। विचित्रता यह है कि प्रतिदिन, प्रतिक्षण दर्शन करते रहने पर भी तृप्ति होती नहीं है। आपके श्रीमुखारविन्द को सदा, निरन्तर अत्यन्त अनुरागपूर्ण सेवाभावयुक्त देखते रहना ही परम लाभ है। नयन इन्द्रियों के उपलक्षणमात्र हैं। सर्व इन्द्रियों से इसी प्रकार सदा-निरन्तर सेवन करते रहने में ही परम लाभ है। इसीमें कृतकृत्यता, सफलता और धन्य-धन्यता है।

श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं–

नैननि देखौं और नहीं श्रवन सुनौं नहिं और।
घ्रान न सूँघौ और कछु रसना कहौं न और॥
रसना कहौं न और त्वचा परसौं नहिं औरै।
कुंजबिहारी केलि झेलि इन्द्रिन सब ठौरै॥
भगवत रसिक अनन्य कोक उपदेसौं सैननि।
बैननि मैन जगाइ रैन दिन देखौं नैननि॥२॥

अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ उत्तरार्द्ध

मैं नेत्रों से श्रीयुगलकिशोर की रूपरस माधुरी के अलावा और कुछ भी देखता नहीं हूँ, कानों से दम्पति श्रीयुगल के मधुर सरस वचन और नाम, गुण, सुयश को छोड़ और कुछ भी सुनता नहीं हूँ, नासिका से श्रीनवलयुगल के श्रीअंग की सुगन्ध के अतिरिक्त और कुछ भी सूँघता नहीं हूँ, जीभ से श्रीप्रियालाल के नाम, गुण, सुयश के बिना और कुछ भी कहता नहीं हूँ तथा त्वचा–स्पर्शइन्द्री या शरीर से श्रीश्यामा-श्याम को छोड़ और कुछ भी स्पर्श करता या छूता नहीं हूँ। इस प्रकार मेरी सब इन्द्रियाँ श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि के महामधुर क्रीड़ा-विहाररस को झेलते हुए निज ठौर–निज मूलस्थान में लगी हुई हैं। श्रीभगवतरसिकदेव जी कहते हैं कि इस भाँति देखने, सुनने आदि में भी श्रीप्रिया-प्रियतम का सुख ही हमारा जीवन है। दम्पति के केलि–रहस्य को देखते हुए सैन-संकेतों द्वारा नयी-नयी कोक-कलाओं-काम-कलाओं का उपदेश करते हुए और क्रीड़ा रहस्यमय वचन-रचनाद्वारा प्रेम-काम को जगाते–प्रवर्द्धित करते हुए नित्यविहाररससिन्धु को उद्वेलित, लहरान्वित कर उसमें रसमग्न, रसविवश, रसविलसित दम्पति को रात्रि-दिन देखते रहता हूँ, सेवन करते रहता हूँ, यही जीवन की परम सफलता है।

श्रीमद्भागवत में गोपियों ने भी ऐसे ही कहा है–

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥१०-२१-७॥

अरी सखी, हमने तो आँखवालों के जीवन की और उनकी आँखों की बस, यही–इतनी ही सफलता समझी है; और तो हमें

कुछ मालूम नहीं है। वह कौन-सा लाभ है? वह यही है कि जब श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और गौरसुन्दर बलराम ग्वालबालों के साथ गायों को हाँककर वन में ले जा रहे हों या लौटाकर व्रज में ला रहे हों, उन्होंने अपने अधरों पर मुरली धर रखी हो और प्रेमभरी तिरछी चितवन से हमारी ओर देख रहे हों, उस समय हम उनकी मुखमाधुरी का पान करती रहें।

रसिक-भक्त के प्रेमरसपूर्ण भाव की सफलता यही है कि प्राणाराम, प्राणजीवन अपने इष्ट-प्रियतम युगलकिशोर श्रीप्रियालाल के विचित्र–अति अद्भुत विहाररस माधुर्य से पूरित श्रीमुखचन्द्र की विचित्र माधुरी को सदा-सर्वदा, नित्य-निरन्तर, प्रतिक्षण अनुरागयुक्त अतृप्त नयनों से निहारते रहें।

इस पद में लावण्य शब्द आया है। उसका शास्त्र में यह लक्षण है-

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमुदाहृतम्॥

मुक्ताफल–मोती में झलमल-झलमल करती हुई जो छाया, झलमलाहट के समान जो अंगों में तरलता, चपलता, बीच-बीच अन्तर से लहराने के समान प्रभा, कान्ति, चमक है, उसे लावण्य कहते हैं। माने अंग में झलमल-झलमलरूप विशेष चमक को लावण्य कहते हैं।

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी कहते हैं–

दुति प्रिय तन अस झलक सुहाई। चंद किरन जनु झलमल झाँई॥
तन की अद्भुत लावण्य लुनाई। मोतिन की सी झलमलताई॥

प्रिया के तन में कांति–तेज की झलक ऐसी शोभित हो रही है, मानो चन्द्रमा के किरणों की झलमल-झलमल झाँईं–छाया या प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो। तन की अद्भुत लावण्यता–लुनाई–सलोनापन, लावण्यमयी सुन्दरता है, जैसे मोतियों की लावण्यता के समान झलमलाहट हो, उसे लावण्य कहते हैं। लावण्य–जिसे देखते-देखते तृप्ति न हो, आतुरता, प्यास बढ़ती जाये।

–: इति तृतीय (३) पद का भावार्थ :-



अथ चतुर्थ पद–अवतरण

अब आगे सब समय, सर्वावस्था में श्रीहरि के भजन करने का उपदेश और आदेश कर रहे हैं।

पद –हरि भजि हरि भजि छाँड़ि न मान नर तन कौ।
मति वंछै मति वंछै रे तिल तिल धन कौं॥
अनमाँग्यौ आगे आवैगौ ज्यौं पल लागै पल कौं।
कहिं श्रीहरिदास मींच ज्यौं आवै त्यौं धन है आपन कौं॥४॥

अर्थ– हे नर! नर तन–माने मनुष्यदेह का मान–माने अभिमान-आसक्ति छोड़कर सब समय, सर्वावस्था में, सर्वात्मा से श्रीहरि–श्रीश्यामा-श्याम का एकमात्र भजन ही कर, भजन ही कर। अथवा हे नर! संसार के प्रपंच को छोड़कर तनकौ–माने तनिक–थोड़ा श्रीहरि का भजन कर, भजन कर, यह बात मान ले स्वीकार कर ले। क्योंकि मनुष्यजन्म दुर्लभ और भजन तो अति दुर्लभ रत्न के समान है, इसलिये छोड़ मत, यह बात मान ले, स्वीकार कर ले। अरे साधक! तिल-तिल माने-अत्यन्त, तुच्छ धन की वांछा–इच्छा मत कर, इच्छा मत कर। भक्त को धन माने-सब वस्तु बिना माँगे ही एवं बिना प्रयास–उद्यम किये ही अपने आप प्राप्त होती हैं। इसमें दृष्टान्त देते हैं–जैसे अपने स्वभाव सों ही एक पलक दूसरी पलक सों लग जाती है, किन्तु न लगने का प्रयास करे, तो भी रुकती नहीं है। ऐसे ही अनिच्छा करने पर भी भक्त को भगवत्कृपा सों ही सब वस्तुएँ पलमात्र में प्राप्त हो जाती हैं।

श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं–मीच माने–आँखें मीचना, माने–मृत्यु के समान अपने लिये धन को जानो। अनेक अवगुण–दोष धन में हैं। प्राणी धनमद में मदान्ध होकर अनेक

विपरीत–विरुद्ध–पाप कर्म करके महान् अधम, दुष्टगति को प्राप्त हो जाता है। अथवा भक्त को मृत्यु के अनन्तर–पश्चात् मिलनेवाला धन तो प्रिया–प्रियतमरूप ही है। वह केवल भक्ति से ही मिलता है। उसका साधन श्रीहरि का भजन ही है। श्रीस्वामी जी महाराज ने उसीका उपदेश किया है–**हरि भजि हरि भजि छाँड़ि न मान नर तन कौ।** वह धन भक्ति करने से बिना माँगे ही मिल जाता है, अर्थात् युगलकिशोर के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है।

मूल - हरि भजि हरि भजि छाँड़ि न मान नर तन कौ।

भावार्थ–रे मन! रे नर! मनुष्यदेह के अभिमान, मोह, आसक्ति को छोड़कर हरि–युगलकिशोर–श्रीप्रियालाल का भजन कर, भजन कर, भजन को मत छोड़। यह महान् दुर्लभ रत्न के समान मनुष्यशरीर अकारण प्रभु की कृपा, स्नेह से तुझे मिला है।

श्रीस्वामी महाराज ने हरि भज–हरि भज दो बार कहकर विशेष जोर दिया है। यह भाव दर्शाया है कि आदरसहित और सदा, निरन्तर भजन करना चाहिये।

हरि भज, इसमें भज धातु सेवार्थक है। इसलिये सर्वदेश, सर्वकाल और सर्व–अवस्था में मनुष्यमात्र को श्रीहरि की सेवा ही करनी चाहिये, यही उचित है।

यही शास्त्रों में कहा है–

सोन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

वह (श्रीहरि) ही चाहनेयोग्य, उपासना करनेयोग्य हैं। वह ही विशेष प्रकार से (सब प्रकार से) जाननेयोग्य हैं, सुननेयोग्य, विचार–मनन करनेयोग्य और वह ही निरन्तर चिन्तन, स्मरण करनेयोग्य हैं। अर्थात् उन्हींको (श्रीहरि की) ही चाहना, उपासना करनी चाहिये। उन्हींको सब प्रकार से जानना चाहिये, उन्हींको श्रवन करना

चाहिये, उन्हींका विचार-मनन करना चाहिये और सदा-निरन्तर उन्हींका चिन्तन-स्मरण करना चाहिये।

आत्मानमेव लोकमुपासीत तस्मात्कृष्ण एव परोदेवस्तं ध्यायेत् तं रसयेत् यजेत् तं भजेत् इत्यादि विधि श्रवणाद्धरिः इति।

संसार में मनुष्य को एक आत्मा की ही उपासना-भक्ति करनी चाहिये। वह आत्मा श्रीकृष्ण हैं। इसलिये श्रीकृष्ण परम श्रेष्ठ, सर्वोपरि देवता हैं। उन्हींका ध्यान करे, उन्हींका सर्वेन्द्रियों से आस्वादन करे, उन्हींका यजन-पूजन करे और उन्हींका भजन-सेवन करे, इत्यादि विधि के श्रवण से एकमात्र श्रीहरि ही सर्वात्मा से-सर्वभाव से सेवनीय हैं।

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

सभी शास्त्रों का बार-बार मन्थन और विचार करने पर यह एक सार निर्णय प्राप्त हुआ कि सदा-सर्वदा, नित्य-निरन्तर नारायण-श्रीहरि-श्रीकृष्ण ही ध्यान करने-भजन-सेवन करनेयोग्य हैं, अर्थात् उन्हींका सदा-निरन्तर ध्यान-भजन-चिन्तन करना चाहिये।

स्मर्तव्य सततं विष्णु विस्मर्तव्यो न जातु चित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥

हे दूतो! सभी विधि-निषेध अर्थात् यह करो, यह न करो आदि सिद्धान्तों का पर्यवसान (अन्त) इतने में ही है, अर्थात् सब का सार यही है कि चित्त से श्रीविष्णु-श्रीहरि-श्रीकृष्ण का सदा-निरन्तर स्मरण-चिन्तन हो और एकक्षण के लिये उनका विस्मरण न हो, उनको न भूले।

यन्मुहुर्तंक्षणं वापि वासुदेवो न चिन्तयेत्।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्ति च विक्रिया॥

जिस घड़ी या जिस क्षण में भी वासुदेव–श्रीकृष्ण-श्रीयुगल किशोर का चिन्तन–स्मरण न हो, वही सबसे बड़ी हानि है, वह महान् दोष-अपराध है, वही महान् भ्रम–मोह–अज्ञान है और वह ही सबसे बड़ी विमुख क्रिया–दोष या विमुखता है।

यह भजन, ऐसा चिन्तन शुद्ध आहार और शुद्ध व्यवहार-आचरण से होता है।

आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धि सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिरिति।

आहार की शुद्धि–माने पवित्र, सात्त्विक और भगवत्समर्पित भोजन से, अथवा आहार–माने इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाकर आत्मेश–आत्मबन्धु, प्राणप्रियतम श्रीहरि–प्रियालाल में लगाना, ऐसे आहार की शुद्धि से सत्त्व–अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, यह हृदय सत्त्व कहलाता है) की शुद्धि होती है, अर्थात् वह रज-तममयी कामना, वासना, आसक्ति, मोह, ममता आदि वृत्तियों से शून्य होकर शान्त, निर्मल और प्रसन्न हो जाता है, ऐसे सत्त्व की शुद्धि होने से ध्रुव–अचल, सदा-निरन्तर स्थिर स्मृति–स्मरण, चिन्तन प्राप्त होता है। वस्तु, व्यक्ति या अन्य की स्मृति ही संसार है, मृत्यु है एवं आत्मा की ही, इष्ट की स्मृति ही अमृतत्व की, भगवत् की प्राप्ति है।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥

भा. ११–२–३७

ईश्वर से विमुख पुरुष को उनकी माया से अपने स्वरूप (मैं श्रीकृष्णदास हूँ) की विस्मृति हो जाती है और विस्मृति से ही 'मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, इस प्रकार का भ्रम–विपर्यय हो जाता है। इस देह आदि वस्तु में अभिनिवेश–तन्मयता होने के कारण ही बुढ़ापा, मृत्यु, रोग आदि अनेकों भय होते हैं। इसलिये ज्ञानीजन को चाहिये

कि अपने गुरु को ही आराध्यदेव परम प्रियतम मानकर अनन्य भक्ति के द्वारा उन ईश्वर का भजन करना चाहिये।

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयोर्ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथो यथा।
तत् कर्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात्॥

भा० ११-२-३८

राजन्! सच पूछो तो भगवान् के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। परन्तु न होने पर भी इसकी प्रतीति, इसका चिन्तन करनेवाले को उसके चिन्तन के कारण, उधर मन लगने के कारण ही होती है—जैसे स्वप्न के समय स्वप्नद्रष्टा की कल्पना से अथवा जाग्रत् अवस्था में नाना प्रकार के मनोरथों से विलक्षण ही सृष्टि दीखने लगती है। इसलिये विचारवान् पुरुष को चाहिये सांसारिक कर्मों के सम्बन्ध में सङ्कल्प-विकल्प करनेवाले मन को रोक दे—कैद कर ले। बस, ऐसा करते ही उसे अभय पद की, परमात्मा की प्राप्ति हो जायगी।

भज इत्येषधातुर्वै सेवायां प्रकीर्तितः।
सा भक्तिर्द्विधा साधनरूपा फलरूपा च॥

यह भज धातु सेवा के अर्थ में कही गयी है। भज धातु से भक्ति शब्द बनता है। वह भक्ति दो प्रकार की है, एक साधनरूपा भक्ति और दूसरी फलरूपा सिद्धा भक्ति।

तदुक्तं भगवदाद्याचार्यचरणैः—

उसका वर्णन आदि आचार्यचरण भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने किया है-

कृपास्य दैन्यादि युजि प्रजायते यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः सा चोत्तमा साधनरूपिकापरा॥

दीनता, नम्रता, तत्परता आदि के योग से (संग से) यह कृपा प्रकट होती है। जिस कृपा से अनन्याधिपति–एकमात्र सबके अधीश्वर, महात्मा, परमेश्वर श्रीकृष्ण की विशेष भावमयी प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त होती है। वह परा–उत्तमा, फलरूपा भक्ति और अपरा–साधनरूपा भक्तिरूप से दो प्रकार की है

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

इति नवधा भक्तिः साधनरूपा

१. भगवान् के नाम-गुण का श्रवण करना। २. उनके नाम-गुणों का कीर्तन करना। ३. उनके रूप-माधुर्य का स्मरण-चिन्तन करना। ४. उनके श्रीचरणों का सेवन करना। ५. उनकी पूजा करना। ६. उनके श्रीचरणों में वन्दन–प्रणाम-स्तवन करना। ७. उनके प्रति दासभाव रखकर सेवा करना। ८. उनके प्रति सखाभावपूर्वक सख्य-प्रेम करना और उनके श्रीचरणों में आत्मनिवेदन–अपने आपसहित अपना सर्वस्व समर्पण कर देना। इस प्रकार यह नवधा भक्ति साधनरूपा है।

द्वितीया तु यथा नारदपञ्चरात्रे-

परन्तु दूसरी दशधा भक्ति, अर्थात् प्रेमलक्षणा भक्ति, जिसका नारद पञ्चरात्र में वर्णन है।

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते॥

त्रिगुणमय नाम, रूप, गुण, विकार एवं छल, कपट आदि सब विघ्न-बाधाओं से सर्वथारहित, सर्व आत्मा, सर्व इन्द्रियों से उनके परायण, लगा हुआ, आरूढ़ और निर्मल-पाप-वासनाओं से शून्य होकर हृषीक–मन, बुद्धि आदि सर्व इन्द्रियों से हृषीकेश–सब इन्द्रियों के अधिपति, अध्यक्ष श्रीकृष्ण का सेवन करने को ही उत्तम भक्ति कहते हैं।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥११॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥ भा. ३-२९-१२॥

जिस प्रकार गङ्गा का प्रवाह अखण्डरूप से समुद्र की ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणों के श्रवणमात्र से मन की गति का तैलधारावत् अविच्छिन्नरूप से मुझ सर्वान्तर्यामी के प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तम में निष्काम और अनन्य प्रेम होना, यह निर्गुण भक्तियोग का लक्षण कहा गया है।

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥१३॥

ऐसे मेरे निर्मल, निष्कामभक्त दिये जाने पर भी, मेरी सेवा को छोड़कर १. सालोक्य–भगवान् के नित्य धाम में निवास, २. सार्ष्टि–भगवान् के समान ऐश्वर्य भोग, ३. सामीप्य–भगवान् की नित्य समीपता, ४. सारूप्य–भगवान् का-सा रूप और, ५. सायुज्य–भगवान् के विग्रह में समा जाना, उनसे एक हो जाना या ब्रह्मरूप प्राप्त कर लेना, यह मोक्षतक भी नहीं लेते।

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिकं उदाहृतः॥

ऐसा सेवन करना ही अति उत्तम भक्तियोग के नाम से कहा जाता है। भक्तिरसामृतसिन्धु में श्रीरूप गोस्वामी पाद ने कहा है–

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

श्रीहरि–श्रीकृष्ण–युगलकिशोर के अलावा अन्य–लोक–परलोक आदि विषयों की जो अभिलाषा–इच्छाएँ हैं, भक्त उनसे रहित होता है, उन्हें त्याग देता है और ज्ञान–भगवत्रूप विहीन ब्रह्म ज्ञान को तो त्याग

ही देता है, किन्तु भक्ति में सहायक भगवत्रूप विषयक ज्ञान का भी उतना ही सेवन करता है, जो भक्ति में सहायक हो एवं कर्म–भगवत्-भक्तिरहित कर्मों का तो त्याग ही कर देता है, किन्तु भक्ति के सहायक कर्मों का भी उतना ही सेवन करता है, जो भक्ति में सहायक हों। आदि शब्द से वैराग्य आदि आचार का भी यही भाव समझना चाहिये। ऐसी निर्मल भक्ति का एक और मुख्य विशेष लक्षण बतलाते हैं कि वह आनुकूल्यभाव से-माने श्रीकृष्ण-श्री प्रियालाल की रुचि, उनके सुख को देखकर, उनकी रुचि–सुख को लेकर उनका सदा-निरन्तर सेवन करना ही उत्तम भक्ति है।

और भी ऐसी भक्ति के लक्षण विष्णुपुराण के अनुसार कहते हैं–

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु॥

अविवेकी–अज्ञानी, संसारासक्त प्राणियों की जैसी प्रीति विषयों में सुदृढ़ होती है, हे हरे! तुम्हारा सदा-निरन्तर स्मरण करते हुए वैसी प्रीति मेरे हृदय में सुदृढ़ रहे, एकक्षण भी हृदय से वह नहीं हटे।

तत्र सामान्यक्रियाभिधानात्सर्वेप्यधिक्रियन्ते।

वह भक्ति सामान्य–साधारण क्रिया से लेकर सभी क्रियाओं से युक्त होती है। जैसे पद्मपुराण में कहा है–

सर्वेप्यधिकारिणोत्र हरिभक्तौ यथा नृप॥

यहाँ हरिभक्ति में सभी अधिकारी होते हैं, जैसे भक्त राजा अम्बरीष आदि भगवान् की छोटी-छोटी एवं बड़ी-बड़ी सभी सेवाओं को करते हैं।

सैव परा प्रेमलक्षणा, सा स्वस्वरूप भगवत्स्वरूप ज्ञानोत्तर भाविनी।

वह परा प्रेमलक्षणरूपा भक्ति स्वस्वरूप में, भगवत्स्वरूप में परम प्रेमरूप होती है और ज्ञानोत्तरभाविनी भी।

वह ज्ञानोत्तर भाविनी–माने ज्ञान होने के पश्चात् होनेवाली भक्ति का गीता में श्रीमुख से वर्णन किया है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वभूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥

वह सच्चिदानन्द ब्रह्म में एकीभाव से स्थित प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है। ऐसा समस्त प्राणियों में समभाववाला योगी मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है। किन्हीं भाग्यवान् को ऐसी पराभक्ति प्राप्त होती है। यह ज्ञानोत्तरभाविनी है।

अब परा–प्रेमलक्षण रूपा–

रूपादिविषयकेन्द्रियवृत्तिवदनवच्छिन्नस्वाभाविक भगवत्स्वरूप-गुणादिविषयिका यावदात्मवृत्तिर्मनोवृत्तिः भक्तिफलरूपोच्यते।

जैसे रूपादि विषयों के प्रति इन्द्रियों की वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से निरन्तर लगी रहती हैं, ऐसे ही भगंवत्स्वरूप अर्थात् भगवान् के रूप, गुण, माधुर्य आदि विषयों में स्वाभाविक, तैलधारा के समान निरन्तर सम्पूर्ण आत्मा की, मन की वृत्तियों का लगना ही पराभक्ति–प्रेम भक्ति फलरूपा कहा गया है।

यह भक्ति मनुष्यशरीर से ही होती है। इसीलिये सभी शरीरों–योनियों से मनुष्यशरीर अति श्रेष्ठ है और भगवान् को अति प्रिय है।

जैसे श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के सातवें अध्याय में कहा है–

एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथापदः।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया॥२२॥

मैंने एक पैरवाले, दो पैरवाले, तीन पैरवाले, चार पैरवाले, चार से अधिक पैरवाले और बिना पैर के, इत्यादि अनेक प्रकार के शरीरों का निर्माण किया है। उनमें मुझे सबसे अधिक प्रिय मनुष्य का शरीर ही है।

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

भा. ११-२-२९

जीवों के लिये मनुष्यशरीर का प्राप्त होना ही दुर्लभ है। यदि यह प्राप्त हो भी जाता है तो प्रतिक्षण मृत्यु का भय सिर पर सवार रहता है, क्योंकि यह क्षणभङ्गुर है। इसलिये अनिश्चित मनुष्यजीवन में भगवान् के प्यारे और उनको प्यार करनेवाले भक्तजनों का, संतों का दर्शन तो और भी दुर्लभ है।

इन सब भागवत वचनों से मनुष्यदेह की श्रेष्ठता इसीलिये है कि इस देह से ही भगवद्भजन–सेवन हो सकता है और यही परम लाभ है। इसीलिये मनुष्यदेह मिलने पर भगवद्भजन अवश्य करना चाहिये। इस बात की पुष्टि का प्रमाण और भी लिखते हैं–

अत्र मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम्।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः॥

भा. ११-७-२३

इस मनुष्य-शरीर से एकाग्रचित्त तीक्ष्णबुद्धि पुरुष बुद्धि आदि ग्रहण किये जानेवाले हेतुओं से जिनसे कि अनुमान भी होता है, अनुमान से अग्राह्य अर्थात् अहंकार आदि विषयों से भिन्न मुझ सर्वप्रवर्तक ईश्वर को साक्षात् अनुभव करते हैं।

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्मं तदप्यध्रुवमर्थदम्॥

भा. ७-६-१

प्रह्लाद जी ने कहा—मित्रो! इस संसार में मनुष्य-जन्म बड़ा दुर्लभ है। इसके द्वारा अविनाशी परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु पता नहीं कब इसका अन्त हो जाय; इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को बुढ़ापे या जवानी के भरोसे न रहकर बचपन में ही भगवान् की प्राप्ति करानेवाले साधनों का अनुष्ठान कर लेना चाहिये।

ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम्॥५॥

हमारे सिर पर अनेकों प्रकार के भय सवार रहते हैं। इसलिये यह शरीर-जो भगवत्प्राप्ति के लिये पर्याप्त है-जबतक रोग-शोकादिग्रस्त होकर मृत्यु के मुख में नहीं चला जाता, तभीतक बुद्धिमान् पुरुष को अपने कल्याण के लिये प्रयत्न कर लेना चाहिये।

एतदेव हि देवा गायन्ति—

देवता भी भारतवर्ष में उत्पन्न हुए मनुष्यों की इस प्रकार महिमा गाते हैं—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्मलब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

भा. ५-१९-२१

अहा! जिन जीवों ने भारतवर्ष में भगवान् की सेवा के योग्य मनुष्य-जन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है? अथवा इन पर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं? इस परम सौभाग्य के लिये तो निरन्तर हम भी तरसते रहते हैं।

प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो
ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसम्भृताम्।
न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते
भूयो वनौका इवयान्ति बन्धनम्॥२५॥

जिन जीवों ने इस भारतवर्ष में ज्ञान (विवेकबुद्धि), तदनुकूल कर्म तथा कर्म के उपयोगी द्रव्यादि सामग्री से सम्पन्न मनुष्य-जन्म पाया है, वे यदि आवागमन के चक्र से निकलने का प्रयत्न नहीं करते, तो व्याध की फाँसी से छूटकर भी फलादि के लोभ से उसी वृक्ष पर विहार करनेवाले वनवासी पक्षियों के समान फिर बन्धन में पड़ जाते हैं।

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं
किं जन्मभिस्त्वपरैप्यमुष्मिन्।
न यद्धृषीकेशयशः कृतात्मना
महात्मनां वः प्रचुरसमागमः॥

भा. ५-१३-२१

राजा रहूगण ने कहा—अहो! समस्त योनियों में यह मनुष्यजन्म ही श्रेष्ठ है। अन्यान्य लोकों में प्राप्त होनेवाले देवादि उत्कृष्ट जन्मों से भी क्या लाभ है, जहाँ भगवान् हृषीकेश के पवित्र यश से शुद्ध अन्तःकरणवाले आप-जैसे महात्माओं का अधिकाधिक समागम नहीं मिलता।

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥

भा. ५-१९-२४

जहाँ भगवत्कथा की अमृतमयी सरिता नहीं बहती, जहाँ उसके उद्गमस्थान भगवद्भक्त साधुजन निवास नहीं करते और जहाँ नृत्य-गीतादि के साथ बड़े समारोह से भगवान् यज्ञपुरुष की पूजा-अर्चना नहीं की जाती, वह चाहे ब्रह्मलोक ही क्यों न हो, उसका सेवन नहीं करना चाहिये।

कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरे॥

भा. ५-१९-२३

यह स्वर्ग तो क्या, जहाँ के निवासियों की एक-एक कल्प की आयु होती है, किन्तु जहाँ से फिर संसारचक्र में लौटना पड़ता है, ऐसे ब्रह्मलोकादि की अपेक्षा भी भारतभूमि में थोड़ी आयुवाले होकर जन्म लेना अच्छा है, क्योंकि यहाँ धीर पुरुष एकक्षण में ही अपने इस मर्त्यशरीर से किये हुए सम्पूर्ण कर्म श्रीभगवान् को अर्पण करके उनका अभयपद प्राप्त कर सकता है।

अतोऽपि देवा इच्छन्ति जन्मभारतभूतले।
सञ्चितुं सुमहत्पुण्यमक्षयममलं शुभम्॥

इसलिये देवता भी यह इच्छा करते हैं कि भारतभूमि में हमारा जन्म हो, जिससे अक्षय–अविनाशी, निर्मल और सुन्दर अति महान् पुण्य को हम संग्रह कर लेंगे।

कदा वयं हि लप्स्यामो जन्म भारतभूतले।
कदा पुण्येन महता प्राप्स्यामः परमं पदम्॥

देवता यह इच्छा करते हैं कि कब हमारा भारतभूमि में जन्म होगा और कब हम महान् पुण्य करके श्रीहरि के परम पद को प्राप्त करेंगे।

इसलिए परम कृपालु गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कह रहे हैं कि–

श्रीबिहारीदास दुर्लभ लह्यौ, तन पुरवै सब काम।
नातर जैहै राइगाँ, भजिलै स्यामा स्याम॥६८॥

रे नर! तू ने अति दुर्लभ यह मनुष्यशरीर प्राप्त किया है। यह मनुष्यशरीर सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्ण करनेवाला है। इसीसे शुभाशुभ कर्म करके उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ (नीच) योनियाँ प्राप्त होती हैं और यही माया से पार कराकर परम पद की–श्रीहरि की प्राप्ति करानेवाला है। इसलिये परम वैराग्य और प्रेमसहित, भावपूर्वक श्रीश्यामा-श्याम प्रियालाल को भज ले, उनका भजन कर ले। यदि भजन नहीं करेगा, तो यह अमूल्य नर तन रायगाँ–व्यर्थ, अकारण चला जायगा, नष्ट हो जायगा।

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी कह रहे हैं–

विषय वासना तजौ सासना हरि भजि करौ आपनौ काज।
महा परम वैराग भजौ अनुराग सबनि कौ राज॥
श्रीहरिदास के चरन सरन तजि और ठौर नहिं पावौ।
श्रीरसिकसिरोमनि ललितकिसोरी कुंज केलि जस गावौ॥६७॥

तुम पर विषय-वासनाओं का बड़ा शासन है। उन्होंने तुम्हें बंधन में जकड़ रखा है। वे तुम्हें अपनी इच्छानुसार नचाती हैं। किन्तु तुम अपने स्वरूप (तुम भगवान् के अंश हो, नित्य कृष्णदास हो) का स्मरण करके इन तुच्छ वासनाओं को त्याग दो और अपने प्राणप्यारे, अन्तर्निवासी, हृदयरमण श्रीहरि–श्रीविहारी जी का अनन्य भाव से भजन-सेवन करके अपना काज–कार्य (माया से पार होकर भगवत्सेवा-प्राप्तिरूप कार्य) करो। इसीके लिये तुम्हें मनुष्य–शरीर में श्रीहरि ने भेजा है।

यह कार्य कोई आसान (सरल) नहीं है। इसके लिये खान, पान, सोना, विषय–भोगादि विषयों से वैराग्य माने-उनसे अरुचि, उपरति चाहिये। वह वैराग्य भी परम–अत्यन्त और महान्–अत्यन्त वैराग्यसहित, अत्यन्त अनुराग-प्रेमसहित सबका राजा–जो नित्यकेलि

रस अथवा परम प्रेम-अनुराग नित्यकेलि रस को भजो-निरन्तर सेवन करो, तभी तुम्हारा श्रीहरि की सेवा-प्राप्तिरूप कार्य बनेगा।

ऐसा सेवन-भजन भी रसिक-अनन्य महानुभाव और उनके अधिपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के चरणकमल की शरण लेने पर ही होगा। उन्हें छोड़ने पर तो लोक-परलोक में भटकते रहोगे, और ठौर-कहीं अन्य ठौर-अन्य जगह तुम्हें नहीं मिलेगी, योंही-इसी प्रकार भटकते ही रहोगे। इसीलिये सबकुछ त्यागकर रसिकशिरोमणि ललितकिशोरी-श्रीस्वामी जी महाराज और प्रिया की कुंज केलि के यश को प्रेम से उमंग-उमंगकर गावो, जिससे वे प्रसन्न होकर कृपा की वर्षा करें और अपनाकर सेवा प्रदान करें।

मूल- मति वंछै मति वंछै रे तिल तिल धन कौं ॥

भावार्थ- रे साधक! तिल-तिल धन की वांछा (इच्छा) मत कर, मत कर। इसी प्रकार शास्त्र में लिखा है-

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम्।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥२२॥
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धाम्नि॥भा.११-२३-२३॥

देवताओं के भी प्रार्थनीय मनुष्य-जन्म को और उससे भी श्रेष्ठ ब्राह्मणशरीर प्राप्तकर जो उसका अनादर करते हैं और सच्चे स्वार्थ-परमार्थ का नाश करते हैं, वे अशुभ गति को प्राप्त होते हैं।

यह मनुष्य-शरीर मोक्ष और स्वर्ग का द्वार है, इसको पाकर भी ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य है, जो अनर्थों (दोषों, पापों) के धाम धन के चक्कर में फँसा रहे।

यहाँ धन शब्द ऐश्वर्य-सिद्धि का भी बोधक है। इसलिये श्रीहरि के भक्तजन सिद्धियों को भी भगवद्भक्ति में प्रतिबन्धक जान (महाविघ्न समझ) उनकी इच्छा नहीं करते हैं।

उपासकस्य मामेवं योगधारणया मुनेः।
सिद्धयः पूर्वकथिता उपतिष्ठन्त्यशेषतः॥

भा. ११-१५-३१

इस प्रकार जो विचारशील पुरुष मेरी उपासना करता है और योगधारणा के द्वारा मेरा चिन्तन करता है, उसे वे सभी सिद्धियाँ पूर्णतः प्राप्त हो जाती हैं, जिनका मैंने वर्णन किया है।

जितेन्द्रिय दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः।
मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा॥३२॥

प्यारे उद्धव! जिसने अपने प्राण, मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है, जो संयमी है और मेरे ही स्वरूप की धारणा कर रहा है, उसके लिये ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं, जो दुर्लभ हो। उसे तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त ही हैं।

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥३३॥

परन्तु श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं कि जो लोग भक्तियोग अथवा ज्ञानयोगादि उत्तम योगों का अभ्यास कर रहे हैं, जो मुझसे एक हो रहे हैं, उनके लिये इन सिद्धियों का प्राप्त होना एक विघ्न ही है; क्योंकि इनके कारण व्यर्थ ही उनके समय का दुरुपयोग होता है।

स्वर्ग सौं लेकर पारमेष्ठ्य पद (ब्रह्माजी का लोक) पर्यन्त सब तिल धन के समान हैं, क्योंकि भगवद्विरोधी हैं, इसलिये इनकी भी इच्छा मत कर। सो कहते हैं—

तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः॥

भा. ११-१०-२६

जबतक उसके पुण्य शेष रहते हैं, तबतक वह स्वर्ग में सुखपूर्वक आनन्द का उपभोग करता है, परन्तु पुण्यक्षीण होते ही इच्छा न रहने पर भी उसे नीचे गिरना पड़ता है, क्योंकि काल की चाल ही ऐसी है।

लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम्।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्धपरायुषः॥३०॥

सारे लोक और लोकपालों की आयु भी एक कल्प की है, इसलिये मुझसे भयभीत रहते हैं। औरों की तो बात ही क्या, स्वयं ब्रह्मा भी मुझसे भयभीत रहते हैं, क्योंकि उनकी आयु भी काल से सीमित केवल दो परार्द्ध है।

आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः॥

भा. ११-१४-११

यज्ञ, तप, दान, व्रत तथा यम-नियम आदि के फलस्वरूप जो लोक मिलते हैं, वे उत्पत्ति और नाशवाले हैं। कर्मों का फल समाप्त हो जाने पर उनसे दुःख ही मिलता है और सच पूछो, तो उनकी अन्तिम गति घोर अज्ञान ही है। उनसे जो सुख मिलता है, वह तुच्छ है-नगण्य है और वे भोग के समय भी असूया आदि दोषों के कारण शोक से परिपूर्ण हैं। (इसलिये इन विभिन्न साधनों के फेर में न पड़ना चाहिये)।

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयात्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम्॥१२॥

प्रिय उद्धव! जो सब ओर से निरपेक्ष—बेपरवाह हो गया है, किसी भी कर्म या फल आदि की आवश्यकता नहीं रखता और अपने अन्तःकरण को सब प्रकार से मुझे ही समर्पित कर चुका है, परमानन्दस्वरूप मैं उसकी आत्मा के रूप में स्फुरित होने लगता हूँ। इससे वह जिस सुख का अनुभव करता है, वह विषयलोलुप प्राणियों को किसी प्रकार मिल नहीं सकता।

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥१३॥

प्रिय उद्धव! जो सब प्रकार के संग्रह-परिग्रह से रहित-अकिञ्चन है, जो अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके शान्त और समदर्शी हो गया है, जो मेरी प्राप्ति से ही मेरे सान्निध्य का अनुभव करके ही सदा-सर्वदा पूर्ण सन्तोष का अनुभव करता है, उसके लिये आकाश का एक-एक कोना आनन्द से भरा हुआ है।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत् ॥१४॥

जिसने अपने को मुझे सौंप दिया है, वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्मा का पद चाहता है और न देवराज इन्द्र का, उसके मन में न तो सार्वभौम सम्राट् बनने की भी इच्छा होती है और न वह स्वर्ग से भी श्रेष्ठ रसातल का ही स्वामी होना चाहता है। वह योग की बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्षतक की अभिलाषा नहीं करता।

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन् वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्॥

भा.४-९-१०

नाथ! आपके चरणकमलों का ध्यान करने से और आपके भक्तों के पवित्र चरित्र सुनने से प्राणियों को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह निजानन्द-स्वरूप ब्रह्म में नहीं मिल सकता। फिर जिन्हें काल की तलवार काटे डालती है, उन स्वर्गीय विमानों से गिरनेवाले पुरुषों को वह सुख मिल ही कैसे सकता है।१०।।

प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च॥

भा. ११-२३-१५

प्रायः देखा जाता है कि कृपण पुरुषों को धन से कभी सुख नहीं मिलता। इस लोक में तो वे धन कमाने और रक्षा की चिन्ता से जलते रहते हैं और मरने पर धर्म न करने के कारण नरक में जाते हैं।

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥१६॥

जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वाङ्गसुन्दर स्वरूप को बिगाड़ देता है,वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वियों के शुद्ध यश और गुणियों के प्रशंसनीय गुणों पर पानी फेर देता है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं-

नख सिख सुन्दर सकल गुन, लोभ कलंकहि लाग।
सबै बिगारी कुँवरई, ज्यौं धोरौ ठोड़ी दाग॥३५२।।

जैसे कुँवर-राजकुमार बहुत सुन्दर रूपवान् है, किन्तु उसकी ठोड़ी-चिबुक पर थोड़ा-सा सफेद (कुष्ठ का) दाग उसकी कुँवरई को बिगाड़ देता है-फीका कर देता है, ऐसे ही नख से शिखतक सभी सुन्दर गुण विराज रहे हों, किन्तु थोड़ा-सा लोभ ही कलंक के समान लगकर उसके सभी गुणों को फीका कर देता है।

श्रीबिहारीदास गरुवौ जदपि, अति हरुवौ ह्वै जात।
ज्यौं ससि वासर सूर घर, मनहुँ पुराने पात॥३५३॥

जैसे चन्द्रमा सुशीतल प्रकाशवान् है, परन्तु दिन में सूर्य के घर में आने पर ऐसा कान्तिहीन फीका लगता है, मानो पुराना पत्ता हो, ऐसे ही यह जीव नित्य श्रीविहारी जी का दास है, समस्त ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम आदि से सम्पन्न-अति गरुवा-भारी है, फिर भी इष्ट के अलावा तनिक अन्यत्र सुख की इच्छा करने पर अत्यन्त हलका-गुणहीन हो जाता है। और सुख की इच्छा, धन की इच्छा तो अति तुच्छ और दुःखदायी है।

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥

भा. ११-२३-१७

धन कमाने में, कमा लेने पर उसको बढ़ाने, रखने एवं खर्च करने में तथा उसके नाश और उपभोग में-जहाँ देखो वहीं निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता, और भ्रम का ही सामना करना पड़ता है।

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥१८॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥१९॥

चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अंहकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जूआ और शराब-ये पद्रन्ह अनर्थ (दोष, पाप) मनुष्य में धन के कारण ही माने गये हैं। इसलिये कल्याणकामी पुरुष को चाहिये कि स्वार्थ एवं परमार्थ के विरोधी अर्थनामधारी अनर्थ को दूर से ही छोड़ दे।

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निधाः काकिणिनां सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥२०॥

भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी-जो स्नेह बन्धन से बँधकर बिलकुल एक हुए रहते हैं—सब-के-सब कौड़ी के कारण इतने फट जाते है कि तुरन्त एक-दूसरे के शत्रु बन जाते हैं।

श्रीस्वामी भगवतरसिक जी कहते हैं—

पैसा पापी साधु कौं परसि लगावै पाप।
विमुख करै गुरु इष्ट सौं उपजावै संताप॥
उपजावै संताप ज्ञान वैराग्य बिगारै।
काम क्रोध मद लोभ मोह मत्सर सिंगारै॥
सब द्रोहिन में सिरै भक्त द्रोही नहिं ऐसा।
भगवत रसिक अनन्य भूल जिनि परसौ पैसा॥

साधु-भक्त के लिये पैसा-पापी महान् विघ्न है। वह स्पर्श करते ही मन को बुरे संस्कारों से, पाप से भर देता है। इतना ही नहीं, वह गुरु और इष्ट सों विमुख करके विषय-मोहासक्ति उत्पन्न करके त्रिविध संताप को बढ़ाता है और दुःख-ताप से जलाता है। इस तरह से संताप उत्पन्न करके ज्ञान और वैराग्य को बिगाड़ देता है-नष्ट कर देता है तथा काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मत्सर आदि को बढ़ावा देता है। इस प्रकार हानि करनेवाले सब शत्रुओं में सिरमौर शत्रु यह पैसा है। भक्त के लिये पैसा के समान ऐसा और कोई शत्रु नहीं है। इसलिये श्रीभगवतरसिक जी कहते हैं कि रसिक-अनन्य-प्रेमी-भक्तजन को भूलकर भी पैसे को छूना नहीं चाहिये।

तिल-तिल धन की वाँछा—इच्छा मत कर में यह भी भाव है कि पाताल से लेकर ब्रह्मलोकतक जितने भी सुख-ऐश्वर्य हैं, वे सब नाशवान् हैं। इसी कारण वे सब तिल की भाँति अत्यल्प हैं। इसमें और भी रहस्य दिखाते हैं कि संसार में तिल के समान एक कौड़ी भी इच्छा करने पर भी नहीं मिलती, चाहे कितना ही प्रयास—प्रयत्न करो, क्योंकि वह तो प्रारब्ध के—भाग्य के वश में है।

किन्तु भगवद्भक्ति-भगवदीय प्रेम प्रयास से-प्रयत्न से नहीं मिलता, वह तो भगवत्कृपा-संतकृपा के अधीन है। इसलिये उसके लिये इच्छा करनी चाहिये, प्रयत्न करना चाहिये। किन्तु यह जीव कितना अभागा, मूढ़ है कि हरिभजनरूपी अमूल्य रत्न-धन इसको मिला है, उसको तो पहचानता नहीं, हाथ में आये हुए धन को छोड़कर तिल धन के समान छुद्र भोगों की अभिलाषा करता है, उनके प्रयत्न के लिये भटक रहा है।

शास्त्रों में कहा है-

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तो अभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

श्रीकृष्ण नाम ही चिन्तामणि के समान चिन्तित वस्तु को देनेवाला है, सच्चिदानन्दमय अति उज्ज्वल प्रेम रस का विग्रह-मूर्ति है। यह परिपूर्ण है, शुद्ध-मायिक गुणों से परे अति उज्ज्वल है और नित्यमुक्त है-सब गुणों, भावों से, उपाधियों से परे है। इसमें कारण श्रीकृष्णनाम और श्रीकृष्ण में अभिन्नता है, जो नाम है, सोई नामी है और जो नामी है, सोई नाम है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं-

मैं पायौ हरि धन नाम मेरे कहा चहिये।
और श्रीवृन्दावन धाम मेरे कहा चहिये॥
स्यामा स्याम सुजस गुन गावत अरु वन वास बस हिये।
बिन विवेक भ्रम भूलि स्याम तजि कत वृथा दुख सहिये॥
सेवत सदा बढ़ै न घटै व्यापै आपु अगनि ना दहिये।
तसकर त्रास न वास बसै चहिये न कहूँ गहिये॥
निर्भै प्रगट पुकारत मुनि गन इहि अवलम्ब निबहिये।
नित सम्पत्ति दम्पति दुलरावत सुजस बखानत रहिये॥

वेद पुरान प्रवान नाम गुन उपमा अमित कहा कहिये।
श्रीबिहारीदास विस्वास भगति ही श्रीगुरुप्रताप सुख लहिये॥१७७॥

मैंने श्रीहरि नामरूपी धन पा लिया है, अब नाम के अलावा लोक-परलोक आदि की वस्तुएँ सब तुच्छ हैं, मेरे कहा चहिये–मेरे को अब कुछ भी नहीं चाहिये। और कृपा करके उन्होंने निज क्रीड़ा-निवास स्थान श्रीधाम वृन्दावन दे दिया है, और अब क्या चाहिये?

उन्होंने अकारण कृपा करके सब साधनों और भक्ति के अंगों में सिरमौर अमूल्य श्रीहरि का सुयश दिया, उस श्रीश्यामा-श्याम के दिव्य रसमय, मंगलमय सुयश और उज्ज्वल गुणों को हम गाते हैं और हृदय से भावसहित श्रीवन–श्रीवृन्दावन में वास बसते हैं, और क्या चाहिये?

सारासार-ज्ञान-दृष्टिरूप विवेक बिना जो श्यामसुन्दर श्रीविहारी जी ही एक सुखरूप हैं और सब माया-भ्रमरूप हैं, ऐसे निज स्वामी श्यामसुन्दर को छोड़कर क्यों दुःख-ताप-ज्वाला को सहन कर रहे हो।

श्रीविहारी जी के अलावा सब माया–भ्रमरूप विषय–अग्निरूप हैं। उस विषयाग्नि को सेवन करने से वह सदा बढ़ेगी, घटेगी नहीं और तन, मन, प्राण, सबमें छा जायगी। उस अग्नि से अपने को न जलावो, नाम का आश्रय लेकर अपने को उबारो। किन्तु जो तस्कर–चोर हैं-कर्म-वासना पूँजी को लूटनेवाले हैं, कर्म की त्रास से इधर-उधर भटकते रहते हैं, वे अनन्य भाव से शरण लेकर श्रीवृन्दावन में बसते नहीं है। उनको अनेक प्रकार से चाहने पर-प्रयत्न करने पर भी, कहीं भी, कुछ भी मिलता नहीं है।

श्रीनारद जी, शुकदेव जी, व्यास जी आदि परमहंस मुनिसमूह एक स्वर से प्रकट पुकारते हुए यही कहते हैं कि माया से पार करनेवाला और श्रीहरि के परम पद को मिलानेवाला एकमात्र श्रीहरि

का आश्रय, उनके नाम-गुण का आश्रय, एक यही भयशून्य-अभयमार्ग है, यही एक अवलम्ब-सहारा है, इसे सच्ची निष्ठा से-प्राणप्रण से सदा निबाहो-सदा सेवन करो। ऐसा आश्रय लेकर, ग्रहणकर जो परम पद-परम धाम पहुँच नित्य-सदा-निरन्तर परम सम्पत्ति-धन दम्पति-श्रीयुगलकिशोर को दुलराते हैं-प्रेम-लाड़पूर्वक सदा सेवन करते हैं, उन रसिक-अनन्य महानुभावों का आश्रय लेकर उनका सुयश-सुकीर्ति अथवा उनसे मिलकर प्रियालाल के सुयश-सुकीर्ति को गाते रहो-परस्पर कहते रहो, यही एक परम अवलम्ब है।

वेद, पुराण, शास्त्रों में भगवन्नाम, गुण की महिमा, प्रताप अमित है, उस अनन्त महिमा को कोई क्या वर्णन कर सकता है।

श्रीहरिदास नाम जहाज चढ़ि जे उतरि गये भव पार तें।
दरसी अनुपम माधुरी मन मुदित नित्य बिहार तें॥

श्रीशीलसखी जी

श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि दृढ़ विश्वास से ही भक्तिसुख प्राप्त किया। यह सब (नाम, धाम, संत एवं हरि-सुयश-गुण आदि का मिलना) सुख श्रीगुरु-प्रताप से ही प्राप्त हुआ है। इसलिये श्रीगुरुचरणों में सर्वस्व नौछावर है।

अथवा तिल-तिल धन की वांछा नहीं करै, यह सकामभाव सबही का उपलक्षण है, अर्थात् भगवद्भजन भी निष्काम होकर करना चाहिये। इसलिये उत्तम भक्त अपने स्वामी से कुछ भी कामना की इच्छा नहीं करते हैं।

सो सप्तम स्कंध में लिखा है-

एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः।
एकान्तित्वाद् भगवति नैच्छत् तानसुरोत्तमः॥

भा. ७-९-५५

असुरकुलभूषण प्रह्लाद जी भगवान् के अनन्य प्रेमी थे। इसलिये बड़े-बड़े लोगों को प्रलोभन में डालनेवाले वरों के द्वारा प्रलोभित किये जाने पर भी उन्होंने उनकी इच्छा नहीं की।

भक्तियोगस्य तत् सर्वमन्तरायतयार्भकः।
मन्यमानो हृषीकेशं स्मयमान उवाच ह॥

भा. ७-१०-१

नारदजी कहते हैं—प्रह्लाद जी ने बालक होने पर भी यही समझा कि वरदान माँगना प्रेम-भक्ति का विघ्न है; इसलिये कुछ मुसकराते हुए वे भगवान् से बोले।

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥४॥

श्रीप्रह्लाद जी कहते हैं—

आपसे जो सेवक अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करनेवाला निरा बनिया है।

आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः॥५॥

जो स्वामी से अपनी कामनाओं की पूर्ति चाहता है, वह सेवक नहीं; और जो सेवक से सेवा कराने के लिये, उसका स्वामी बनने के लिये उसकी कामनाएँ पूर्ण करता है, वह स्वामी नहीं।

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव॥६॥

मैं आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं। जैसे राजा और उसके सेवकों का प्रयोजनवश स्वामी-सेवक का सम्बन्ध रहता है, वैसा तो मेरा और आपका सम्बन्ध है नहीं।

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥७॥

मेरे वरदानिशिरोमणि स्वामी! यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना ही चाहते हैं, तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदय में कभी किसी कामना का बीज अकुंरित ही न हो।

इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः।
ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना॥८॥

हृदय में किसी भी कामना के उदय होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य-ये सब-के-सब नष्ट हो जाते हैं।

विमुञ्चति यदा कामान्मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते॥९॥

कमलनयन! जिस समय मनुष्य अपने मन में रहनेवाली कामनाओं का परित्याग कर देता है, उसी समय वह भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

इसलिये भगवद्भजन और सेवा के अलावा अन्य कुछ भी इच्छा नहीं करनी चाहिये। सदा-निरन्तर इसीमें लगे रहना चाहिये। इस अमूल्य धन को खोना नहीं चाहिये।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं-

कियौ दुख सुख कौ निबट निदान।
खान पान पाये कत फूलत दिन दस भयौ दिवान॥
निघटि गये बिललात बुरी गति यह अहमक अज्ञान।
बहुर्‌यौ उदिम करत निलज ह्वै घर घर भटकि गुमान॥
तृष्ना तिनहीं के दारिदु दिन संतोषी धनवान।
श्रीबिहारीदास सेवत सुख पायौ साखि सु प्रगट प्रमान॥१२७॥

श्रीहरि और सन्त-आचार्यों ने दुःख-सुख का अच्छी प्रकार से निर्णय करके यह फैसला कर दिया, निश्चय कर दिया कि

संसार दुःखालय–दुःखका घर और क्षणभंगुर तथा अशाश्वत–नित्य न रहनेवाला है। इसमें जो सुख दिख रहा है, वह भी आभास–भ्रममात्र और दुःखरूप एवं जलानेवाला है। फिर उत्तम खान-पान आदि इन्द्रियों के भोग प्राप्तकर क्यों फूल रहे हो? यह सब अल्प समय के हैं। तेरा दीवानपना–मंत्रीपना, ठाट-बाट दिन दश का है। तू स्वयं दिन दश का दीवान हुआ है। अर्थात् लम्बी आयु भी बहुत शीघ्र अल्प समय के समान बीत जाती है। काल प्रतिक्षण आयु एवं भोगों को हरण कर रहा है।

यह संसार के भोग अल्प समय में बीत जाते–नष्ट हो जाते हैं, तब यह अहमक–जड़, मूर्ख, बुद्धिहीन, अज्ञानी, नासमझ बुरी तरह से बिलबिलाता–व्याकुल, तड़फता है, फिर भी दुःख-तापरूप भोगों के लिये उद्यम–प्रयत्न करने में संलग्न हो जाता है तथा गर्व में भरकर सुख की आशा से घर-घर भटकता फिरता है, अथवा घर-घर माने देवी-देवता आदि के द्वार पर मनौती लिये भटकता फिरता है, फिर भी इसकी आँखें नहीं खुलतीं, चेत नहीं होता कि सुखरूप श्रीहरि-श्रीविहारी जी को छोड़ दुःखरूप संसार में सुख है कहाँ?

आचार्य-संतजन कहते हैं कि कितना भी धनवान् हो यदि उसके तृष्णा (सुख की, धन की प्यास, लालसा) है, तो उन्हींके दरिद्रता है, तृष्णावान् ही दरिद्र है और जो दिन–माने सदा-नित्य संतोषी है, संतोषवान् है-मानो प्रभु ने कृपा करके जो कुछ दिया उसीमें संतोष करता है, प्रसन्न रहता है, वही धनवान् है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि सुखस्वरूप-सुखसागर प्रभु-श्रीहरि-श्रीविहारी जी इतने उदार, करुणामय, भक्तवत्सल हैं कि उनका भजन-सेवन करते ही नित्य, चिन्मय, परम सुख-आनन्द की प्राप्ति होती है। वेद, पुराण, शास्त्र इसकी साक्षी के प्रकट प्रमाण

हैं। उनमें प्रभु की भक्ति की महिमा, उनकी उदारता, भक्तवत्सलता आदि की कथायें भरपूर हैं। श्रीगुरुदेव जी कहते हैं कि हमने भी उनका सेवन करते ही परम सुख–नित्यकेलि के सेवा-सुख को प्राप्त कर लिया।

अथवा तिल-तिल धन-माने गुण, रूप, बल, विद्या, कला आदिरूप धन की इच्छा मत कर।

दुखिया द्विज विद्या बिना राजा दल बिन सोय।
रूप बिना गनिका दुखी जोगी जोग न होय॥
जोगी जोग न होय साधु हरि भजन न जानै।
भाँड़ कलावंत भाट सभा नट लज्जा मानै॥
भगवत रसिक अनन्य बिना नहिं कोऊ सुखिया।
असन वसन परिवार पुत्र बिन सब जग दुखिया॥६॥

द्विज–ब्राह्मण का धन विद्या है, वह विद्या बिना दुःखी है और राजा का धन सेना, वह सेना बिना दुःखी है। ऐसे ही गणिका का धन रूप है, वह रूप बिना दुःखी तथा योगी का धन योग है, वह योग बिना दुःखी है। साधु-भक्त का धन हरि का भजन है, वह हरि के भजन बिना दुःखी है। ऐसे ही भाँड़, कलावान्, भाट और नट का धन कलाप्रदर्शन करना है, वे कला के दिखाने में यदि लज्जा–शर्म, संकोच करें, तो कला कैसे दिखा सकते हैं? वे इस कारण दुःखी हैं। श्री भगवतरसिक जी कहते हैं कि रसिक-अनन्य प्रेमी भक्त बिना कोई सुखी नहीं है। सबके अपनी-अपनी तृष्णा-आसक्ति है, उसमें सब बँधे हुए हैं-कोई अशन–भोजन के बिना, कोई वस्त्र के बिना, कोई परिवार के बिना और कोई पुत्र के बिना दुःखी है। इसी प्रकार सारा जग (संसार) किसी-न-किसी वस्तु, व्यक्ति आदि के बिना दुःखी है।

इसीलिए श्रीहरि का भजन ही सच्चा है, उसके बिना किसी की भी इच्छा नहीं करनी चाहिये। सदा-सर्वदा श्रीहरि के भजन में तत्पर-तल्लीन रहना चाहिये।

मूल- अनमाँग्यौ आगे आवैगौ ज्यौं पल लागै पल कौं।

अर्थ—भक्त को सब वस्तु बिना माँगे तथा बिना प्रयास (प्रयत्न) किये ही प्राप्त होती हैं। इसमें दृष्टान्त देते हैं—जैसे अपने स्वभाव से ही एक पलक दूसरे पलक सौं लग जाती है, किन्तु न लगने का प्रयास करे, तब भी नहीं रुकती, ऐसे ही अनिच्छा करने पर भी भगवत्कृपा सों ही सब वस्तु प्राप्त हो जाती हैं। और पलक सों पलक लगे इतने ही काल में अनमाँगी वस्तु भी प्रभु कृपा से आगे आ जाती है।

इसमें भागवत का प्रमाण देते हैं—

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥३२॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति॥भा. ११-२०-३३॥

कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योगाभ्यास, दान, धर्म और दूसरे कल्याणसाधनों से जो कुछ स्वर्ग, अपवर्ग, मेरा परम धाम अथवा कोई भी वस्तु प्राप्त होती है, वह सब मेरा भक्त मेरे भक्तियोग के प्रभाव से ही, यदि चाहे, तो अनायास प्राप्त कर लेता है।

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥३४॥

मेरे अनन्य प्रेमी और धैर्यवान् साधु भक्त स्वयं तो कुछ चाहते ही नहीं, यदि मैं उन्हें देना चाहता हूँ और देता भी हूँ तो भी दूसरी वस्तुओं की तो बात ही क्या, वे कैवल्यमोक्ष भी नहीं लेना चाहते।

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्॥ ३५॥

उद्धव जी! सबसे श्रेष्ठ एवं महान् निःश्रेयस (परम कल्याण) तो निरपेक्षता का ही दूसरा नाम है। इसलिये जो निष्काम और निरपेक्ष होता है, उसीको मेरी भक्ति प्राप्त होती है।

अथवा यह भी भाव है कि जो भी वस्तु प्राप्त होनी है, वह प्रारब्ध के संयोग से बिना माँगे ही मिल जाती है, उसके लिये इच्छा और उपाय करना वृथा है। श्रीप्रह्लाद जी अपने मित्रों से कह रहे हैं–

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः॥

भा. ७-६-३

भाइयो! इन्द्रियों से जो सुख भोगा जाता है, वह तो जीव चाहे जिस योनि में रहे–प्रारब्ध के अनुसार सर्वत्र वैसे ही मिलता रहता है, जैसे बिना किसी प्रकार का प्रयत्न किये, निवारण करने पर भी दुःख मिलता है।

तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम्।
न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम्॥ ४॥

इसलिये सांसारिक सुख के उद्देश्य से प्रयत्न की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि स्वयं मिलनेवाली वस्तु के लिये परिश्रम करना आयु और शक्ति को व्यर्थ गँवाना है। जो इनमें उलझ जाते हैं, उन्हें भगवान् के परम कल्याणस्वरूप चरणकमलों की प्राप्ति नहीं होती।

आशय यह है कि जो लोग श्रीहरि सों विमुख होकर केवल संसार के सुख-ऐश्वर्य की कामना में डूब रहे हैं, उनको यदि दैवयोग से इच्छित सुख-भोग प्राप्त भी हो जायँ, तो भी उनकी

विषय-वासना अधिक-अधिक बढ़ती ही जाती है और वह आगे चलकर क्रोध, सम्मोह (मूढ़ता), स्मृतिभ्रंश तथा बुद्धिनाश को प्राप्त होकर अन्त में सर्वनाश का कारण बन जाती है। और जो विषय-विमुख (विषय-त्यागी) होकर श्रीहरि का भजन करते हैं, उनकी बिना इच्छा के ही ऐसी समस्त सम्पत्ति उनके चरणों में लोटती हैं। परन्तु श्रीहरि-कृपा सों मायिक पदार्थों में उनकी आसक्ति न होने के कारण वे सुख और ऐश्वर्य उनके हित में बाधक न होकर उनके (श्रीहरि के) चरणारविन्दों में विशुद्ध प्रेम को प्रकट करनेवाले होते हैं। क्योंकि उन भक्तजनों की दृष्टि भगवत्प्रेम-सेवामयी होती है। श्रीस्वामी भगवतरसिक जी भी कुण्डलिया में वर्णन कर रहे हैं–

माया कौं सब जग भजै माधौ भजै न कोय।
जो कदापि माधौ भजै तौ माया चेरी होय॥
माया चेरी होय रहै चरनन लपटानी।
ज्यौं मलयज के संग सहज सौरभ सुखदानी॥
भगवत रसिक अनन्य होय सतगुरु की दाया।
माधौ सौं मन लगै मोह मद छूटै माया॥२८॥

सारा संसार माया (धन, ऐश्वर्य, विषय-भोग) के सेवन में तत्पर, तल्लीन होकर भुला हुआ है। किन्तु माधव (मा-माया, धव-पति) को, माया के स्वामी-श्रीहरि को कोई नहीं भजता। फिर माया कैसे मिल सकती है? माया तो प्रभु की अनन्य दासी है। वह अपने स्वामी को रिझाने-प्रसन्न करने में सदा-सर्वदा तत्पर है, रात-दिन नाना प्रकार के संसार के सुख एवं स्वरूप की रचनारूपी नृत्य करने में लगी है। सारा जगत् उसके जादूरूप तमाशे में भूल रहा है। किन्तु निष्कामी–निरपेक्ष श्रीहरि के जन माया से उपराम–उपरत होकर,

उसकी ओर से दृष्टि मोड़कर सदा-सर्वदा अपने प्राणनाथ श्रीहरि के संग-सेवा में निमग्न, तत्पर रहते हैं।

माया नटिनी जगत में, नृत्तत नाना रंग।
जगत तमासे रचि रह्यौ, हरिजन हरि के संग॥

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी

जो कदापि-माने श्रीहरि-गुरु-संत की कृपा से सौभाग्यवश माधव–श्रीविहारी जी को निष्काम, निरपेक्ष, अनन्यभाव-प्रेमपूर्वक भजने लगे, तो अपने स्वामी को प्रसन्न करने के लिये माया अपने स्वामी के जनों की चेली–दासी बन जाती है। इतना ही नहीं, विविध प्रकार से सुख-सेवा करती हुई उनके चरणों में लिपटी रहती है, जैसे मलयज–चन्दन के संग सहज–स्वाभाविक सुखदायी सौरभ–सुगन्ध लिपटी रहती है। इसी प्रकार भक्तों को माया विविध सुखदानी बन जाती है।

यहाँ एक रहस्य की बात है कि माया तभीतक दुःखरूप, बन्धनकारक प्रतीत होती है, जबतक श्रीहरि से विमुख दृष्टि है। श्रीहरि के सन्मुख दृष्टि होते ही माया उनकी (श्रीहरि की) सेवा–सामग्री और आभूषणादि के रूप में अनुभव में आती है। भक्त अपने स्वामी--श्रीहरि की सेवा करते हुए प्रेमानन्दसमुद्र में सदा निमग्न रहता है।

श्रीस्वामी भगवतरसिक जी कहते हैं कि ऐसा संयोग, बानिक तभी बनता है, जब श्रीहरि-प्रियालाल के रसिक-अनन्य-प्रेमी सद्गुरु की दया हो। वे अपनाकर दया-प्रेम-दृष्टि से सिंचन करें, तभी यह जीव प्रेम-भाव-दृढ़ निष्ठा से श्रीहरि के भजन में तत्परता से लगता है, तभी इसका मन माधव–श्रीविहारी से प्रेमपूर्वक लग जाता है-लवलीन हो जाता है। ऐसा होने पर ही माया में सत्यबुद्धि और सुखबुद्धि से जो सुख दिखता है, जिससे मोह-मद छाया रहता

है, वह छूट जाता है। ऐसा निर्मल मन ही श्रीहरि-प्रियालाल का क्रीड़ा-स्थल बन जाता है।

हरि कौं भजै सोई तौ नीकौ।
सोई जीतै माया काल कौं लगै जगत सब फीकौ॥
पति कौं सेवै सोई पतिवर्ता यौं अधिकार है जी कौ।
श्रीकुंजबिहारिनि ललित लाड़िली प्रान अधार है पीकौ॥६२॥

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी

ज्यौं पल लागै पल कौं में एक भाव और यह है कि जैसे प्रकृति के नियमानुसार पलकों का लगना-खुलना स्वभाव ही सों होता है, न तो इसके लिये इच्छा की आवश्यकता है न प्रयत्न की। इसी भाँति यह एक अटल नियम है कि श्रीहरि के दासों को स्वतः ही नित्य मोद-मंगल की प्राप्ति होती रहती है। कहा भी है-

यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्द सान्द्रा
विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्य लक्ष्मीः।

जिसकी मुकुन्द-श्रीविहारी जी के चरणों में परमानन्दस्वरूपा भक्ति होती है, मोक्षसाम्राज्य-श्री भी उसके चरणों में लोटती है।

कहा भी है-

रुचि लै सुचि सेवा करै सेवक कहिये सोय।
तन मन धन अर्पन करै रहै अपनपौ खोय॥
रहै अपनपौ खोइ द्रवैं तब हरि गुरु देवा।
अनमाँग्यौ सब मिलै गूढ़ गुन जानै भेवा॥
संचित क्रिय प्रारब्ध कर्म दुख जायँ सबै मुचि।
भगवत रसिक कहाय क्रिया त्यागै अपनी रुचि॥१॥

श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी

सेवक वही सच्चा कहानेयोग्य है जो अपने सेव्य—श्रीहरि-गुरु की रुचि—माने इच्छा-रुख को लेकर और शुचि—माने पवित्र-निष्काम तथा चतुरतापूर्वक सेवा करता हो और अपना तन, मन, धन सर्वस्व उन्हें अर्पण कर दे, लोक-परलोक में अपना कहाने कुछ भी न रहे। इतना करके भी अहं-भाव, अभिमान बिलकुल न रहे; अपने अपनपे को सर्वथा खो दे, मिटा दे। ऐसी दीनता की रहनी हो, तब श्रीहरि और श्रीगुरुदेव द्रवित होते हैं—रीझते, प्रसन्न होते हैं। तब बिना माँगे सबकुछ प्राप्त हो जाता है, किन्तु सेवक-भक्त सेवा को छोड़ और कुछ भी चाहता नहीं है। ऐसा भक्त उनकी कृपा से गूढ़ गुण—माने प्रेम रस के रहस्यमयतत्त्व का मर्म, गूढ़ तत्त्व भी सहज जान जाता है। जब वे तन-मन में बस गये, तब संचित कर्म—माने अनन्त जन्मों के पुराने संग्रहित कर्म, प्रारब्ध कर्म—माने वर्तमान में जो भोग देह को मिलने प्रारम्भ हो रहे हैं तथा क्रिय—माने क्रियमाण कर्म जो वर्तमान में नये कर्म किये जा रहे हैं, वे सब कर्म मिट जाते हैं।

सेवा-भक्ति के प्रभाव से अनेक जन्मों की संचित—एकत्रित कर्मराशि शीघ्र भस्म हो जाती है और वर्तमान में होनेवाले क्रियमाण कर्म हो नहीं पाते। क्योंकि सेवा-भक्ति से तन-मन शुद्ध होने और दृढ़ निश्चय होने से भक्त-सेवक की प्रत्येक चेष्टा—प्रत्येक क्रिया श्रीहरि-गुरु की आज्ञा और उनके सुख के लिये होती है। अब रही प्रारब्ध कर्म की बात तो वह भी विशेष तो नष्ट हो जाता है, केवल शरीर-निर्वाह के लिये भगवत्-इच्छा से कुछ अवशेष (बच) रहता है; वह भी भक्ति-सुख के अनुकूल और वर्धक ही होता है।

इस प्रकार वह सेवक-भक्त अपनी रुचि के अनुसार क्रिया और रुचि (इच्छा) दोनों को त्याग देता है, तब उसकी विमल संज्ञा रसिक होती है, अर्थात् तब वह रसिक कहलाता है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कह रहे हैं–

मेरे उद्यम कौन करै।
जाकौ मन हरि लियौ बिहारिनि ताहि सबै बिसरै॥

अब मेरे उद्यम–माने साधन, प्रयत्न कौन करै? कारण कि इन साधनों का श्रम करने पर भी वह वस्तु मिलनी दुर्लभ है और न इनमें इतनी शक्ति है जो प्राप्ति करा सकें। जब अपनी कृपामयी सहज भक्ति से रीझकर श्रीवृन्दावन-निकुंजेश्वरी लाड़िली, स्वामिनी कुंजविहारिणि प्रिया ने अपनी रूपमाधुरी-केलिमाधुरी दिखाकर मन हरण कर लिया, तो उसके लिये लोक-परलोक सब छूट जाते हैं, वह सब भूल जाता है।

बुद्धि विचार कियौ बल कै उतही अहंकार ढरै।
दियौ वित श्रीहरिदास कियौ हित चितवत चित न टरै॥

अपनी बुद्धि द्वारा साधन एवं तत्त्व आदि का विचार करने पर, अन्य साधन आदि का बल करने पर वहीं अहंकार–निज कर्तृत्व का अभिमान ढर जाता है–प्रवृत्त हो जाता है, अर्थात् प्रबल अभिमान आ जाता है। अभिमानी के लिये इस दिव्य राज्य में परदा है, अर्थात् उसके लिये बहुत दूर-दुर्लभ है। किन्तु हमें तो परम कृपा, वात्सल्य के सिन्धु परम गुरु श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज ने हित–माने प्रेम-वात्सल्य करके अपना निज वित्त–निज नित्यविहार प्रेमरूप धन दे दिया। अब उस परम वित्त (धन) नित्यविहार रस प्रेममाधुरी को एकटक देखते रहते हैं। वह एक क्षण के लिये भी चित्त से टलता नहीं है।

गावत प्रियहि लड़ावत आवत गहवर हियौ भरै।
पावत महाप्रसाद प्रेम भर कर तें कौर गिरै॥

प्रेम से उमंग में भरकर नित्यकेलि रसरीति के गुण गाते हुए स्वामिनी श्रीलाड़िली प्रिया को मधुर-सरस लाड़-लड़ाते हैं। जिससे

युगलकिशोर श्रीस्वामिनी-श्याम उमड़ते हुए हृदय में आते हैं और हृदय गम्भीर, घने, अगाध प्रेम रस से भर जाता है। करुणासिन्धु युगलकिशोर अपना महाप्रसाद (उच्छिष्ट) देते हैं, उसको पाते हुए हृदय प्रेम से भर जाता है। उस प्रेम की अधिकता से प्रसाद पाते हुए हाथ से ग्रास कब गिर गया, इसकी भी सुधि नहीं रहती।

जागत सोवत सुख मुख जोवत सपने हू न सरै।
हरि रस बस आलसी अधम कोऊ जिनि दोष धरै॥

वह सरस प्रेमधन ऐसे हिल गया कि सदा-सर्वदा संग रहता है। हम जागृत-अवस्था में और सुषुप्ति-गहरी निद्रा की अवस्था में भी सदा-सर्वदा उस अद्भुत, अनुपम सरस सुखमय मुख-माधुरी को अति प्रेम-ललक से देखते रहते हैं तथा स्वप्न-अवस्था में भी वह सुखमय वित्त (धन) सामने से नहीं हटता। उन हरि-युगलकिशोर के महामहिमामय रस के वशीभूत तन, मन, प्राण, सर्वात्मा होने से लौकिक-पारमार्थिक सभी व्यवहार-क्रियायें बिसर गईं, इसलिये आलसी-से लगते हैं। हे बुद्धिमान् जनो! हम आलसी, अधम हैं, कोई भी ऐसा दोष मत देखो।

अनमाँग्यौ आगे आवत अनभाँवतौ गरे परै।
अज्ञा मानि लेत माथे धरि देत जु समझि थरै॥

अब उनकी कृपा से, इच्छा से बिना माँगे ही सब सुख सन्मुख आते हैं और बिना रुचे ही गले पड़ जाते हैं।

अब यहाँ एक रहस्य की बात बताते हैं कि जो जन अपना कर्तृत्व-अभिमान और अपनी रुचि (इच्छा) को छोड़कर उनकी आज्ञा को मान लेता है, आज्ञा के अनुसार चलने लगता है, उसे अपना समझ वे रीझकर थर-माने अपने निकट निवास दे देते हैं।

विधि निषेध और कर्म धर्म कौं फटकत खेह खरै।
श्रीबिहारीदास विस्वास बढ़्यौ मन निधरक वन बिहरै॥१२३।।

वह जन उनके प्रेम रसमय धर्म के सेवन में सदा तत्पर रहता है। वह इसी बल के आगे सभी विधि–माने वेद-शास्त्रों द्वारा कही हुई आज्ञा, पुण्यकर्म और निषेध–माने मना की हुई, रोकी हुई आज्ञा, पापकर्म तथा सभी दान, व्रत, तप आदि कर्म और लौकिक–परलौकिक धर्मों को खरे–सच्चे, एकमात्र खेह–राख जानकर फटक देते हैं, त्याग देते हैं। तथा श्रीविहारी-विहारिणि की दासी बनकर उनके प्रेम-रस के सेवन और कृपा के बल पर दृढ़ विश्वास बढ़ता जाता है एवं उसी विश्वास के बल पर वे लोक-परलोक, सुख-दु:ख एवं साधन आदि से निधड़क–निर्भय, निश्चिन्त होकर तन से वन–श्रीवृन्दावन में विचरते हैं एवं मन से कुंज-निकुंजों में सखीस्वरूप से दम्पती और सखीजन के साथ विहरते हैं- सेवा रस में निमग्न रहते हैं।

मूल- कहिं श्रीहरिदास मीच ज्यौं आवै त्यौं धन है आपन कौ॥४॥

अर्थ-श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि मीच-माने मृत्यु के अनन्तर (पश्चात्) जो धन प्राप्त होता है, वही धन तो धन है, अर्थात् वही सच्चा धन अपना है। सो यह लौकिक धन तो प्राप्त होता नहीं।

भावार्थ-क्योंकि कहा है-

सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति।

नेत्रों के सब प्रकार से मीलने–मीचने-माने मृत्यु के पश्चात् कुछ भी साथ रहता नहीं है, कुछ भी साथ जाता नहीं है। किन्तु मृत्यु के अनन्तर भी मिलनेवाला धन तो प्रिया-प्रियतमरूप ही है। वह केवल भक्ति से ही प्राप्त होता है। उसका साधन एकमात्र

श्रीहरि का भजन है। यही उपदेश श्रीस्वामी जी महाराज ने किया है-**हरि भजि हरि भजि छाँड़ि न मान नर तन कौ।** मनुष्य का धन भी इष्टदेव है।

श्रीमद्भागवत में कहा है-

धर्म इष्टं धनं नृणाम् ॥११-११-३९॥

वह धन भक्ति करने से बिना माँगे ही प्राप्त हो जायगा, अर्थात् युगलकिशोर के स्वरूप का साक्षात्कार हो जायगा।

श्रीहरि श्रीहरिदास भजि, सब भजिवे कौ सार।
रसिकनि की जीवनि जुगल, पहिरावत उर हार ॥१९०॥
श्रीहरिदास नाम सुमिरन करौ, सकल नाम कौ सार।
गौर स्याम फल देइँगे, अपने उर कौ हार ॥१८९॥

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी

श्रीहरिस्वरूप श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज का भजन करो, अथवा श्रीहरिदास नाम का भजन-सेवन करो। वह भजन सब भजन करने का, या सब भजनों का सार है। उससे रसिकों के जीवन-प्राण सर्वस्व श्रीयुगल रीझकर उसे अपने उर का हार पहनाते हैं। अर्थात् उसे अपना परम प्राणप्रिय बना लेते हैं। जितने भी नाम हैं, उन सब नामों का सार श्रीहरिदास नाम है, उस नाम का सदा-सर्वदा स्मरण-सेवन करो। इसका फल गौर-श्याम-श्रीकुंजविहारिणि-कुंजविहारी देवेंगे। वह फल है, उनके हृदय का हार, सर्वस्व नित्यविहार, उस नित्यविहार को देवेंगे और उस भजनीक को अपने हृदय का हार बना लेवेंगे।

दूसरा भाव यह है कि धन की प्राप्ति आत्मनाश के लिये यथार्थ में मृत्युतुल्य ही है। कल्याण की इच्छावाले पुरुष को धन की अभिलाषा से सदा ही दूर रहना चाहिये। श्रीनारद जी ने भक्तिसूत्र में कहा है-

स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम्।।६३।।

स्त्री, धन, नास्तिक और वैरी का चरित्र भी न सुनना चाहिये। धन की चर्चामात्र से चित्त में लोभ प्रकट होता है और जहाँ लोभ ने जड़ जमाई, वहाँ सर्वनाश कर दिया।

नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः॥

भा. ११-३-१९

एक धन को ही लो। इससे दिन-पर-दिन दुःख बढ़ता ही है, इसको पाना भी कठिन है और किसी भी प्रकार मिल भी जाय तो आत्मा के लिये तो यह मृत्युस्वरूप ही है। जो इसकी उलझनों में पड़ जाता है, वह अपने आपको भूल जाता है। इसी प्रकार घर, पुत्र, स्वजन-सम्बन्धी, पशु, धन आदि भी अनित्य और नाशवान् ही हैं, यदि कोई इन्हें जुटा भी ले तो इनसे क्या सुखशान्ति मिल सकती है?

इसी प्रकार धन अनेक दोषों का मूल और दुःखरूप है। श्रीहरि के जन इससे सदा दूर रहते हैं। उनके लिये परम निज धन इष्ट श्रीहरि की सेवा ही है, वे इसके अलावा कुछ भी चाहते नहीं हैं।

किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने।
तथापि तत्परा राजन् नहि वाञ्छन्ति किञ्चन॥

श्री (लक्ष्मी) के धाम-श्रीहरि के प्रसन्न होने पर फिर क्या अप्राप्य है, फिर भी श्रीहरि के परायण अनन्य प्रेमीजन उनकी सेवा को छोड़ अन्य किसी वस्तु की कभी भी इच्छा नहीं करते हैं।

: इति चतुर्थ (४) पद का भावार्थ :-



अथ पञ्चम पद

पद- राग-बिलावल

ए हरि मोसौ न बिगारनि कौं तोसौ न सँवारनि कौं
मोहिं तोहिं परी होड़।
कौनधौं जीतै कौनधौं हारै पर बदी न छोड़॥
तुम्हारी माया बाजी पसारी विचित्र
मोहै सुनि मुनि काके भूलै कोड़।
कहिं श्रीहरिदास हम जीते हारे तुम तऊ न तोड़॥५॥

अर्थ—हे हरे! मेरे समान न तो कोई बिगाड़ने (बुरा करने) वाला है, और आपके समान न कोई सम्भालने (सुधारने, बनाने) वाला है, हमारी और आपकी होड़ (स्पर्धा) पड़ रही है। अब देखें, कौन तो जीतता है और कौन तो हारता है। परन्तु अब जो होड़ बदी है, उसे छोड़ना नहीं। प्रश्न उठा कि तुम जानते हुए भी ऐसे विपरीत क्यों कर रहे हो, तो कहते हैं कि आपकी माया ने विचित्र बाजी पसारी—मायामोहमय खेल को फैला रखा है। जिसमें बड़े-बड़े मननशील ऋषियों की भी भूल सुनने में आती है। ये सब काके-कौन की, किसकी कोड़—क्रोड़-गोद में भूले? अर्थात् माया की गोद में भूले हैं, इससे भी वे अनभिज्ञ हैं, अर्थात् इसका भी उन्हें पता नहीं है; जैसे बालक माँ की गोद में सुख मानता है। रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि प्रभो! हम जीत गये और आप हार गये; तब भी आप इस होड़ को तोड़ते—छोड़ते नहीं हो।

मूल- ए हरि मोसौ न बिगारनि कौं तोसौ न सँवारनि कौं
मोहिं तोहिं परी होड़।

अर्थ— हे हरे मेरे समान न तो कोई बिगाड़नेवाला है और आपके समान न कोई सम्भालनेवाला है, हमारी और आपकी होड़ पड़ रही है।

भावार्थ–हे हरे! इस सम्बोधन का यह अभिप्राय है कि आप सब दुःखहरणशील हो, अर्थात् सब दुःखों को हरनेवाले हो। अपने इसी करुणामय मृदुल स्वभाववश जीवों के दुःख दूर करके उन्हें अपने सन्मुख करते हो। क्योंकि–**जीवाः स्वभावतो दुष्टाः।**

तदनुसार जीव तो बिगाड़–नाम बुरा कार्य–विपरीत आचरण ही करते हैं, उनकी इसीमें रुचि है और आगे भी करेंगे। यह जीव नाना भाँति की वासनाओं के वश में होकर अगनित पापकर्म करता है। यह मन्दमति जीव अपने इस नाशवान् शरीर तथा इसके सम्बन्धी घर, खेत, धन, पुत्र, कलत्र आदि को मोहवश नित्य मान लेता है और इन्हीं में अत्यन्त आसक्त होकर नाना प्रकार के विषयों का मनोरथ करता रहता है। इनके पालन-पोषण की चिन्ता से इसके सम्पूर्ण अंग जलते रहते हैं, तो भी दुर्वासनाओं का दास होने के कारण यह निरन्तर इन्हींके लिये नाना प्रकार के पापकर्म करता रहता है। जिनके फलस्वरूप चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ नाना भाँति की यातनाएँ भोगता रहता है; फिर भी वे कभी भी समाप्त होती नहीं हैं। उन किये हुए कर्मों का पहाड़ बना ही रहता है। परन्तु आपका स्वभाव सम्भालने का है। आप सब जीवों का सुधार करते ही रहते हो।

वह सुधार क्या है कि सहज हितकारी, करुणामय, मृदुल स्वभाववश श्रीहरि फिर भी मनुष्यशरीर प्रदान करते हैं। यह कारणरहित स्नेह करनेवाले श्रीहरि की महान् करुणा है। नरशरीर में किये हुए कर्मों से तो जीवों को अन्य शरीर की प्राप्ति होती है; परन्तु उन भोगशरीरों में कोई कर्म ऐसा नहीं हो सकता, जिसके फलस्वरूप जीव को मनुष्य शरीर मिलता। इसी कारण इस मनुष्यशरीर का मिलना एकमात्र श्रीहरि की कृपा का ही फल है। पहले उन्होंने इसे ज्ञान से युक्त शरीर दिया,

फिर जीव को कल्याणमार्ग दिखाने के लिये स्वयं अवतार तथा शास्त्र, गुरु, सन्तरूप धारण करके आये। श्रीहरि के समस्त लीला-चरित्र जीवों के कल्याण के लिये, सुधारने के लिये ही हैं।

श्रीस्वामी जी महाराज ने इस पद में पूर्णरूप से आर्तप्रपत्ति (शरणागति) का उपदेश किया है। जैसे-

अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः।
त्वमेवोपायभूतो मे भवति प्रार्थनामतिः॥
शरणागतिरित्युक्त्वा सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्।

(वि.से.सं.)

हे प्रभो! मैं सम्पूर्ण अपराधों का घर, अकिञ्चन अर्थात् साधनशून्य, दीन और अगति हूँ। आपके अलावा मेरा कोई रक्षक नहीं है। आपकी प्राप्ति के लिये केवल आप ही उपाय हैं। इस प्रकार प्रार्थना-बुद्धि का नाम शरणागति है। यह शरणागति सर्वेश्वर श्रीहरि के प्रति ही करनी चाहिये।

अहमस्म्यपराधानालयस्त्यक्तः साधनः।
अगतिश्च ततोनाथौ भवन्तावेव मे गतिः॥

(प.पु.पा.सं.)

हे प्रिया-प्रियतम! मैं अगनित अपराधों का धाम (घर) हूँ। सदा साधनरहित और गतिहीन हूँ। अतएव हे प्रभो! एकमात्र आप ही मेरे रक्षक-सब प्रकार से रक्षा करनेवाले हो।

मोहिं तोहिं परी होड़ में भाव यह है कि यद्यपि मनुष्यशरीर पाकर जीवों को कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान रहता है, तो भी वे काम-लोलुपतावश विपरीत आचरण करते रहते हैं। मनुष्य यह अच्छी प्रकार से जानता है कि वेद-शास्त्रादि के द्वारा निर्णय किया हुआ यह सिद्धान्त है कि दृढ़तापूर्वक सत्संग की धारणा करनी

चाहिये; परन्तु अपने अभिमान, मोह एवं ईर्ष्यावश उसका आदर नहीं करता है। यद्यपि यह जानता है कि मन, वाणी, कर्मद्वारा सदा परहित में लगे रहना ही कल्याणकारी है, तो भी सर्वथा ही विपरीत–दूसरे का सुख देखकर बिना कारण ही हृदय जलने लगता है।

तात्पर्य यह है कि कारुण्य, वात्सल्य, स्नेह आदि गुणगणाकर श्रीहरि की कृपालुता एवं सौहार्द का अनुभव न करके संसारासक्त जीव काम, क्रोध, लोभ, मत्सर, असूयादि के आचरण करने में सदा तत्पर रहता है, उन्हें रात-दिन भूलता नहीं है, मानो अमूल्य नगों (हीरे, माणिक्यों) का संग्रह कर रखा हो। परन्तु फिर भी परम स्नेही, कृपालु श्रीहरि उन जीवों के दोषों की ओर कभी भी ध्यान न देकर सदा उनके उद्धार करने में लगे ही रहते हैं।

इस प्रकार हम सब जीवमात्र की और आपकी यह होड़ लग रही है कि बुरे कर्म करते हुए हम हारें कि आप हमें सम्भालते हारो। सो इस रीति सों जीव बुरे कर्म करते रहेंगे और श्रीहरि उनका उद्धार करते रहेंगे।

यहाँ एक और रहस्य की बात श्रीस्वामी पीताम्बरदेव जी कह रहे हैं–

दाव पर्‍यौ मो जीत कौ, बदी न पिय सौं होड़।
धर्‍यौ न मन राख्यौ बगल, फिर अब रगड़ौ गोड़॥७६॥

यह हार-जीत का खेल सदा से चला आ रहा है। इसमें मेरे जीतने का दाँव पड़ गया (लग गया), अर्थात् मैं जीत गया। किन्तु एक बहुत भारी चूक हुई–बहुत भारी हानि हुई कि अपने पिय–प्राणनाथ श्रीहरि सों होड़ नहीं बदी–नहीं ठानी। वह होड़ यह कि आप करुणा सागर, सहजस्नेही, दीनबन्धु हैं, मैं सब प्रकार से दीन-दुःखी हूँ। आप पतितपावन हैं, मैं पतित हूँ। आप अशरणशरण हैं, मैं अशरण

हूँ। आप उदार दानी हैं, मैं सदा भिखारी हूँ। आप स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ। इस प्रकार मेरे-आपके अनेक नाते हैं। मैं कैसा भी हूँ आपका ही हूँ। आप ही मेरे प्रभु, रक्षक, सर्वस्व हैं। आप ही मेरी गति हैं। आपको ही मेरी लाज है, इत्यादि भावों से उनसे प्रणपूर्वक सम्बन्ध जोड़कर उन्हें अपने आपको सौंप देना। उनका अनुसरण करते हुआ प्रार्थना में लगे रहना।

इस प्रकार उनसे होड़ बदकर मन दिया नहीं। मन को बगल में रख रखा—माने अपने वासनामय विषयसुखों में लगाये रखा। अब फिर कितने गोड़ (पाँव) रगड़ते रहो-माने साधन, प्रयत्नादि कर्म करते रहो, उससे कुछ होनेवाला नहीं, वे रीझनेवाले नहीं।

इसलिये श्रीस्वामी जी महाराज ने रहस्य की बात बताई कि अपने ठाकुर श्रीहरि से—**ए हरि मोसौ न बिगारनि कौं तोसौं न सँवारनि कौं मोहिं तोहिं परी होड़,** ऐसे सम्बन्ध जोड़ना चाहिये, ऐसे प्रण ठानना चाहिये। ऐसा प्रण ठानकर उनसे प्रेम-भक्ति करना चाहिये, तभी वे रीझते हैं, अपनाते हैं।

मूल- कौन धौं जीतै कौन धौं हारै पर बदी न छोड़॥

अर्थ-अब जो हमने होड़ बदी है, उसको छोड़ेंगे नहीं। यह देखते हैं कि कौन तो जीतता है और कौन हारता है?

भावार्थ-भाव यह है कि श्रीहरि तथा जीव की यह होड़ अनादि काल से चली आ रही है। जीव स्वभाव से दुष्ट होने के कारण सदा से ही खोटे कर्म करते आ रहे हैं और कृपालु, स्नेहनिधि श्रीहरि स्नेह परवश सदा से ही जीव का भला ही करते रहते हैं। श्रीस्वामी जी महाराज ने ऊपर कहे हुए चरण में यही व्यञ्जित किया, अर्थात् जीवों में स्वभावगत दोष होने के कारण बुराई करना, उन्हें छोड़ना नहीं और श्रीहरि सहज उदार, सुहृद् होने के कारण

जीव का उद्धार ही करते रहते हैं। अब यह देखते हैं कि कौन तो जीतता है और कौन हारता है? अर्थात् आपकी जय हो जायेगी, तो भी हम होड़ न छोड़ेंगे। क्योंकि जीव अनन्त हैं, सो जीव तो सभी दुष्ट कर्म करेंगे, उससे होड़ टूटेगी नहीं तथा उससे असंख्य जीव पार हो गये और हो जायेंगे। यही अभीतक होड़ चली आ रही है कि जीव जो कुछ करते हैं, सो बुरा ही करते हैं और भगवान् जो कुछ करते हैं, सो भला ही करते हैं।

श्रीस्वामी सरसदेव जी महाराज अपने प्रभु के मृदुल, करुणामय, सुहृद्-स्वभाव का सुन्दर रीतिपूर्वक वर्णन कर रहे हैं।

करिहैं सब नाथ भली करिहैं।
करी सुभली अबहूँ सुभली करिहैं जु (सु) भली न बुरी अरिहैं॥
भली सुख संधि सु तौ इन मध्य भलौ अपनौ व्रत ना टरिहैं।
भलै रस रासि सरस सुभाख भलै गुन नाम हिये धरिहैं॥
अपने मन नाहिं विचार कछु करिहैं सब नाथ भली करिहैं॥ १८ ॥

परम करुणामय सुहृद् नाथ-प्रभु, स्वामी जो कुछ भी करते हैं या करेंगे, वह सब भली-माने सुन्दर, अच्छी, सुखदायक, कल्याण, कारक ही करेंगे। भूत में- आजतक जो भी किया, वह सब सुन्दर अच्छा ही किया और वर्तमान में- अब भी सुन्दर हितकर ही कर रहे हैं एवं भविष्य में जो भी करेंगे, वह सब सुन्दर कल्याणकारक ही करेंगे। हमारी जितनी बुरी-माने बुराईयाँ, प्रतिकूलताएँ हैं, वे बीच में अड़ेंगी नहीं, रुकावट नहीं करेंगी। क्योंकि वे परम उदार स्वामी उनकी ओर देखते ही नहीं हैं। वे गुण-दोष देखना जानते ही नहीं हैं।

इनके मध्य-माने बीच में, अर्थात् जीव और इनके मध्य में तो भली-माने उत्तम, निरपेक्ष, निःस्वार्थ सुख की संधि है। अर्थात् वे जीव को उज्ज्वल, निरपेक्ष सुख ही देना जानते हैं और सदा-सर्वदा

सुख ही देते हैं, हित ही करते हैं, यह उनका अपना (निजी) व्रत है। इस व्रत से वे कभी भी टलेंगे नहीं, अर्थात् सदा-सर्वदा अडिग, अटल रहेंगे।

वे भलै—अति सुन्दर, उज्ज्वल, महामधुर रस-नित्य विहार, नित्यकेलि रस-मधुरानन्द की रास हैं और उस दिव्य महामधुर प्रेम रस के परम रसिक हैं, यह सरस-रसिक अनन्यजनों ने सुन्दर-सरस यशरूप में वर्णन किया है, आपके प्रेमरसमय उदार चरित्र का वर्णन किया है। इसलिये वही स्वयं स्नेहपूर्वक कृपा करके महामहिमामय नाम और गुणों को हृदय में धरावेंगे, हम में तो सामर्थ्य नहीं हैं, वे स्वयं करुणार्द्र होकर धारण करायेंगे।

इसी करुणामय, महाउदार शिरोमणि, भक्तवत्सल-स्वभाव के भरोसे, बल निर्भय-निश्चिन्त होकर उनकी सुखद शरण में पड़े हुए, सेवन करते हुए अपने मन में कुछ भी विचार नहीं करते हैं, अर्थात् ज्ञान, वैराग्य आदि साधन--बल का विचार नहीं करते हैं। क्योंकि वे परम उदार स्वामी सब भला ही करेंगे।

प्रतियों में पाठ भेद से **सब नाथ** की जगह **श्रीहरिदास** पाठ है। इसका भी ऊपर किया हुआ ही अर्थ है। श्रीहरि—श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि और दास—श्रीललितास्वरूप श्रीस्वामी जी महाराज, अथवा रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज जो कुछ भी करेंगे, वह भली—उत्तम, हित, सुख की बात ही करते हैं और करेंगे।

अब कहते हैं कि जीव को किसी समय ज्ञान क्यों नहीं होता और वे बुरे कर्म क्यों नहीं छोड़ते? उसके लिये कह रहे हैं।

मूल- तुम्हारी माया बाजी पसारी विचित्र मोहै सुनि मुनि काके भूले कोड़।

अर्थ-आपने माया की बाजी का खेल बड़ा भारी विचित्र पसार (फैला) रखा है, अथवा आपकी माया ने बाजी का विचित्र

खेल पसार रखा है, यह आपकी बहिरंग माया का खेल है। उस माया के विचित्र खेल में वेद-शास्त्र के जाननेवाले मननशील ऋषि-मुनि भी मोहित हो रहे हैं, ऐसा सुना है; तो अल्पज्ञ, बुद्धिहीन जीवों की तो कथा ही क्या है? अर्थात् वे (जीव) तो मोहित रहना ही चाहिये।

भावार्थ—सो ही कहा है—

गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः।
पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृजत्॥

भा.३-१०-११॥

विषयों का रूपान्तर (बदलना) ही काल का आकार है। स्वयं तो वह निर्विशेष, अनादि और अनन्त है। उसीको निमित्त बनाकर भगवान् खेल-खेल में अपने-आपको ही सृष्टि के रूप में प्रकट कर देते हैं।

विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना॥१२॥

पहले यह सारा विश्व भगवान् की माया से लीन होकर ब्रह्मरूप से स्थित था। उसीको अव्यक्तमूर्त्ति काल के द्वारा भगवान् ने पुनः पृथक्-रूप से प्रकट किया है।

यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम्।
सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः॥१३॥

यह जगत् जैसा अब है, वैसा ही पहले था और भविष्य में वैसा ही रहेगा। इसकी सृष्टि नौ प्रकार की होती है तथा प्राकृत-वैकृत भेद से एक दसवीं सृष्टि और भी है।

कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसंक्रमः।
आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः॥१४॥

और इसका प्रलय काल, द्रव्य तथा गुणों के द्वारा तीन प्रकार से होता है। अब पहले मैं दस प्रकार की सृष्टि का वर्णन

करता हूँ। पहली सृष्टि महत्तत्त्व की है। भगवान् की प्रेरणा से सत्त्वादि गुणों में विषमता होना ही इसका स्वरूप है।

द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः।
भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान्॥१५॥

दूसरी सृष्टि अहंकार की है, जिससे पृथ्वी आदि पञ्चभूत एवं ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। तीसरी सृष्टि भूत सर्ग की है, जिसमें पञ्चमहाभूतों को उत्पन्न करनेवाला तन्मात्रवर्ग रहता है।

चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः।
वैकारिकौ देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः॥१६॥

चौथी सृष्टि इन्द्रियों की है, यह ज्ञान और क्रियाशक्ति से सम्पन्न होती है। पाँचवीं सृष्टि सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न हुए इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओं की है, मन भी इसी सृष्टि के अन्तर्गत है।

षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो।
षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु॥१७॥

छठी सृष्टि अविद्या की है। इसमें तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह-ये पाँच गाठें हैं। यह जीवों की बुद्धि का आवरण और विक्षेप करनेवाली है। ये छः प्राकृत सृष्टियाँ हैं, अब वैकृत सृष्टियों का भी विवरण सुनो।

रजोभाजो भगवतो लीलेयं हरिमेधसः।
सप्तमो मुख्य सर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः॥१८॥

जो भगवान् अपना चिन्तन करनेवालों के समस्त दु:खों को हर लेते हैं, यह सारी लीला उन्हीं श्रीहरि की है। वे ही ब्रह्मा के रूप में रजोगुण को स्वीकार करके जगत् की रचना करते हैं। छः प्रकार की प्राकृत सृष्टि के बाद सातवीं प्रधान वैकृत सृष्टि इन छः प्रकार के स्थावर वृक्षों की होती है।

वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः।
उत्स्रोतसस्तमः प्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः॥१९॥

वनस्पति—जो बिना मौर आये ही फलते हैं, जैसे गूलर, बड़, पीपल आदि, ओषधि—जो फलों के पक जाने पर नष्ट हो जाते हैं, जैसे धान, गेहूँ, चना आदि, लता—जो किसीका आश्रय लेकर बढ़ती हैं, जैसे ब्राह्मी, गिलोय आदि, त्वकसार—जिनकी छाल बहुत कठोर होती है, जैसे बाँस आदि, वीरुध—जो लता पृथ्वी पर ही फैलती हैं, किन्तु कठोर होने से ऊपर की ओर नहीं चढ़तीं, जैसे खरबूजा, तरबूजा आदि और द्रुम—जिनमें फूल आकर फिर उन फूलों के स्थान में ही फल लगते हैं, जैसे आम, जामुन आदि, इनका संचार नीचे (जड़) से ऊपर की ओर होता है, इनमें प्रायः ज्ञानशक्ति प्रकट नहीं रहती, ये भीतर ही भीतर केवल स्पर्श का अनुभव करते हैं तथा इनमें से प्रत्येक में कोई विशेष गुण रहता है।

तीरश्चाष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः॥२०॥

आठवीं सृष्टि तिर्यग् योनियों (पशु-पक्षियों) की है। वह अट्ठाईस प्रकार की मानी जाती है। इन्हें काल का ज्ञान नहीं होता, तमोगुण की अधिकता के कारण ये केवल खाना-पीना, मैथुन करना, सोना आदि ही जानते हैं, इन्हें सूँघनेमात्र से वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। इनके हृदय में विचारशक्ति या दूरदर्शिता नहीं होती।

गौरजो महिषः कृष्णः सूकरो गवयो रुरुः।
द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम॥२१॥

साधुश्रेष्ठ! इन तिर्यकों में गौ, बकरा, भैंसा, कृष्ण-मृग, सूअर, गवय-नील-गाय, रुरु नाम का मृग, भेड़ और ऊँट—ये द्विशफ (दो खुरोंवाले) पशु कहलाते हैं।

खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा।
एते चैकशफाः क्षत्तः शृणु पञ्चनखान् पशून्॥ २२॥

गधा, घोड़ा, खच्चर, गौरमृग, शरफ और चमरी ये एक शफ (एक खुरवाले) हैं। अब पाँच नखवाले पशु-पक्षियों के नाम सुनो।

श्वा सृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ।
सिंहः कपिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः॥ २३॥

कुत्ता, गीदड़, भेड़िया, बाघ, बिलाव, खरगोश, साही, सिंह, बंदर, हाथी, कछुआ, गोह और मगर आदि (पशु) हैं।

कङ्क गृध्र वटश्येन भासभल्लूकबर्हिणः।
हंससारसचक्राह्वकाकोलूकादयः खगाः॥ २४॥

कंक (बगुला), गिद्ध, बटेर, बाज, भास, भल्लूक, मोर, हंस, सारस, चकवा, कौआ और उल्लू आदि उड़नेवाले जीव पक्षी कहलाते हैं।

अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम्।
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः॥ २५॥

विदुरजी! नवीं सृष्टि मनुष्यों की है। यह एक ही प्रकार की है। इसके आहार का प्रवाह ऊपर (मुँह) से नीचे की ओर होता है। मनुष्य रजोगुण-प्रधान, कर्मपरायण और दुःखरूप विषयों में ही सुख माननेवाले होते हैं।

वैकृतास्त्रय एवैते देवसर्गश्च सत्तम।
वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः॥ २६॥

स्थावर, पशु-पक्षी और मनुष्य-ये तीनों प्रकार की सृष्टियाँ तथा आगे कहा जानेवाला देवसर्ग वैकृत सृष्टि है तथा जो महत्तत्त्वादिरूप वैकारिक देवसर्ग है, उसकी गणना पहले प्राकृत सृष्टि में की जा चुकी है। इनके अतिरिक्त सनत्कुमार आदि ऋषियों का जो कौमारसर्ग है, वह प्राकृत-वैकृत दोनों प्रकार का है।

देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः॥२७॥
भूतप्रेत पिशाचश्च विद्याध्राः किन्नरादयः।
दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः॥२८॥

देवता, पितर, असुर, गन्धर्व-अप्सरा, यक्ष-राक्षस, सिद्ध-चारण-विद्याधर, भूत-प्रेत-पिशाच और किन्नर-किम्पुरुष-अश्वमुख आदि भेद से देवसृष्टि आठ प्रकार की है। विदुर जी! इस प्रकार जगत्कर्ता श्रीब्रह्मा जी की रची हुई यह दस प्रकार की सृष्टि मैंने तुम से कही।

इन समस्त शरीरों की रचनाओं में मनुष्यशरीर की रचना भगवान् को अति प्रिय लगी। क्योंकि समस्त योनियों (शरीरों) का आधार (मूल) मानवशरीर ही है। मानवशरीर से शुभाशुभ कर्म बनने पर ऊँच-नीच योनियों का भोग प्राप्त होता है और भगवान् की शरण होकर भक्ति करने से इन सब योनियों (भवसागर) से मुक्त होकर भगवत्सेवा में जीव पहुँच जाता है। इसलिये करुणामय प्रभु सदा इसकी सम्भाल करते रहते हैं।

दिष्ट्या त्वं विबुधश्रेष्ठ स्वां निष्ठात्मना स्थितः।
यन्मे स्त्रीरूपया स्वैरं मोहितोऽप्यङ्ग मायया॥

८-१२-३८

श्रीभगवान् ने श्रीशङ्कर जी से कहा—देवशिरोमणे! मेरी स्त्रीरूपिणी माया से विमोहित होकर भी आप स्वयं ही अपनी निष्ठा में स्थित हो गये। यह बड़े ही आनन्द की बात है।

अथावगतमाहात्म्य आत्मनो जगदात्मनः।
अपरिज्ञेयवीर्यस्य न मेने तदु हाद्भुतम्॥

भा. ८-१२-३६

इसके बाद आत्मस्वरूप सर्वात्मा भगवान् की यह महिमा जानकर उन्हें (शङ्करजी) को कोई आश्चर्य नहीं हुआ। वे जानते थे कि भला, भगवान् की शक्तियोंका पार कौन पा सकता है।

को नु मेऽतितरेन्मायां विषक्तस्त्वदृते पुमान्।
तांस्तान्विसृजतीं भावान्दुस्तरामकृतात्मभिः ॥३९॥

मेरी माया अपार है। वह ऐसे-ऐसे हाव-भाव रचती है कि अजितेन्द्रिय पुरुष तो किसी प्रकार उससे छुटकारा पा ही नहीं सकते। भला, आपके अतिरिक्त कौन पुरुष है, जो एकबार मेरी माया के फंदे में फँसकर फिर स्वयं ही उससे निकल सके।

सेयं गुणमयी माया न त्वामभिभविष्यति।
मया समेता कालेन कालरूपेण भागशः ॥४०॥

यद्यपि मेरी यह गुणमयी माया बड़ो-बड़ों को मोहित कर देती है, फिर भी अब यह आपको कभी मोहित नहीं करेगी। क्योंकि सृष्टि आदि के लिये समय पर उसे क्षोभित करनेवाला काल मैं ही हूँ, इसलिये मेरी इच्छा के विपरीत वह रजोगुण आदि की सृष्टि नहीं कर सकती।

अपि व्यपश्यस्त्वमजस्य मायां परस्य पुंसः परदेवतायाः।
अहं कलानामृषभो विमुह्ये ययावशोऽन्ये किमुतास्वतन्त्राः ॥४३॥

श्रीभगवान् शङ्कर जी कहते हैं—देवि! तुमने परम पुरुष परेश्वर विष्णु की माया देखी? देखो, यों तो मैं समस्त कला-कौशल, विद्या आदि का स्वामी और स्वतन्त्र हूँ, फिर भी उस माया से विवश होकर मोहित हो जाता हूँ। फिर दूसरे जीव तो परतन्त्र हैं ही, अतः वे मोहित हो जायँ-इसमें कहना ही क्या है।

सत्त्व, रज और तम की बराबर अवस्था को प्रकृति कहते हैं। श्रीहरि की यही शक्ति माया कही जाती है। ब्रह्म से पृथक् माया की स्थिति नहीं है, इसी कारण माया को सत् भी नहीं कह सकते हैं, परन्तु भिन्नरूप से माया का कार्य प्रकट देखने में आता है, इसलिये उसे सर्वथा असत् भी नहीं कह सकते हैं, इसीसे यह माया बड़ी विचित्र है। कहने में नहीं आती है। श्रीहरि से यह सदा ही

विलक्षण है। श्रीहरि सच्चिदानन्दरूप हैं और माया मिथ्या, जड़ तथा दुःखरूपा है। जिस प्रकार व्यवहार में सत्य से मिथ्या विलक्षण होता हुआ भी सत्य के आधार पर स्थित रहता है, सत्य के बल से प्रकाशित रहता है और सत्य के ज्ञान से बाधित (नष्ट, दूर) हो जाता है; वैसे ही पारमार्थिक मिथ्या माया भी पारमार्थिक सत्य—श्रीहरि के आश्रित, श्रीहरि से प्रकाश करी हुई, श्रीहरि से विलक्षण और सत्यस्वरूप श्रीहरि के ज्ञान से ही वह नष्ट हो जाती है।

माया के तीनों गुण स्वभाव से ही एक-दूसरे को छोड़कर नहीं रह सकते हैं और एक-दूसरे को दबाया करते हैं। इसलिये गुणों के भेद से माया के दो भेद हो जाते हैं—एक, शुद्धसत्त्वामाया, जिसमें रजोगुण, तमोगुण का लेशमात्र है, जिसे विद्या कहते हैं और जो श्रीहरि की इच्छामात्र से अगणित ब्रह्माण्डों की रचना कर देती है। दूसरी, मलिनसत्त्वामाया, जिसे अविद्या कहते हैं और जो जीव के मोह का कारण होती है। यह विसंवादी—माने भ्रमरूपा—कपट-छल-धोखारूपा है, जैसे किसी अँधेरे घर में भीत के छोटे से छिद्र के द्वारा सूर्य की किरण का प्रकाश आ रहा है, उसे देखकर किसीको मणि की प्रतीति हो जाय और उसके लिये प्रयत्न करने लगे; किन्तु ऐसे प्रयत्न करनेवाले को कभी भी मणि की प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसे भ्रम को विसंवादी भ्रम कहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् इसी भ्रम में पड़ा हुआ है। दिन-रात सुख के लिये मर रहा है, परन्तु सुख कहीं मिलता नहीं है। यह अघट घटना पटीयसी (जो कुछ भी न हो सके, उसे भी करने में कुशल) माया का विचित्र खेल है। इसके कारण कहते, सुनते, विचार करते और दूसरे को समझाते हुए भी हृदय में निश्चयात्मक ज्ञान का उदय नहीं होता। बड़े-बड़े तत्त्वज्ञ, वेद-शास्त्र-पारंगत ऋषि-मुनि भी इस माया की गोद में भूल गये, तब फिर दूसरे की क्या कही जाय।

मूल में **काके भूले कोड़,** यह जो पद है, उसका आशय है-क्रोड़-भुजान्तरे, इस शब्दकोष सों क्रोड़-नाम भुजाओं के मध्य का है। क्रोड़ का अपभ्रंश यहाँ कोड़ है। कोड़ का अर्थ लक्षणा सों भुजा में लेकर प्यार करना है। सो काके-नाम कौन के प्यार करने से यह जीव भूल रहा है? अर्थात् माया के प्रेम में जीव मोहित होकर देह में आत्मबुद्धि मान संसार में आसक्त हो रहा है। सो श्रीमद्भागवत में कहा है-

यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते॥

जिस माया के द्वारा विमोहित जीव अपने त्रिगुणमय देह को ही अपना स्वरूप मानकर अनर्थरूप-दुःख-दोषरूप विषयों को ही परम सुख मान लेता है, और उनका सेवन करने, उनके कर्म करने से उनके दुःख-तापरूप फल को प्राप्त होता है।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥

भा. ११-२-३७

ईश्वर से विमुख पुरुष को उनकी माया से अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाती है और इस विस्मृति से ही **'मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ,'** इस प्रकार का भ्रम-विपर्यय हो जाता है। इस देह आदि अन्य वस्तु में अभिनिवेश-तन्मयता होने के कारण ही बुढ़ापा, मृत्यु, रोग आदि अनेकों भ्रम होते हैं। इसलिये अपने गुरु को ही आराध्यदेव परम प्रियतम मानकर अनन्य भक्ति के द्वारा उस ईश्वर का भजन करना चाहिये।

भाव यह है कि आपकी माया अनादि है, इस संसार का कार्य भी अनादि है और जीव भी अनन्त हैं। माया बार-बार जीवों को मोहित करेगी, आप कहाँतक सुधार करेंगे? आप ही हार जायँगे। इसलिये माया का ही नाश करो, जिससे माया से जीव न भूलें और आपको सुधार करने का श्रम न हो।

ईश्वर बाजीगर रच्यौ जग जेवरी कौ साँप।
जीव जमूरा मेलि गल सुर नर मुनि सब काँप॥
सुर नर मुनि सब काँप विषयिन व्यापी माया।
फन काढ़ै फुसकरै जहर जन लगै न काया॥
भगवत रसिक समर्थ गुरु जिहिं जुक्ति जनाई।
जानि भयौ तिहिं तुल्य भूलि नहिं जाय सुभाई॥३२॥

ईश्वर बड़े बाजीगर—जादू का खेल खेलनेवाले, अद्भुत, विचित्र खेल-खेलनेवाले खिलाड़ी नट हैं। जैसे जादूगर रस्सी को साँपरूप में दिखा देता है, ऐसे ही श्रीहरि नटनागर ने जगरूप जेवरी—रस्सी के साँप की रचना कर रखी है। वस्तुतः श्रीहरि—श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि, सखी परिकर और धाम श्री वृन्दावन के अलावा और कुछ भी नहीं है; फिर भी उन नटनागर ने अपनी अघटघटनापटीयसी माया के द्वारा मिथ्या जगरूप जेवरी (साँप) की रचना कर रखी है।

जैसे जादूगर अपने जमूरा (शिष्य) के गले में रस्सी डाल देता है। वह रस्सी उसे (जमूरा को) तो रस्सी ही दिखती हैं, किन्तु वह देखनेवालों को साँपरूप में दिखती है, सभी डरते-काँपते हैं, ऐसे ही श्रीहरि ने अपने शरणागत अनन्य भक्त के गले में तत्त्वज्ञानरूप, अध्यात्मविद्यामय भावरूप रस्सी डाल रखी है, जिससे उसे तो सारा संसार भगवत् लीलामय दिखता है, वह हर्षित, मोद-प्रमोदयुक्त निमग्न रहता है, किन्तु अन्य सबको महामोहिनी, त्रिविध तापिनी

मायारूप जगत् के रूप में दिखता है। उससे सुर-देवता, मनुष्य, ऋषि-मुनि सब काँपते-भयभीत रहते हैं और विषयीजनों को तो वह माया व्याप जाती है, उसका जहर रोम-रोम में फैल जाता है। वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि विषयरूप भुजंग (साँप) विषयों का फैलावरूप फन काढ़ता-फैलाता है और विषयों का प्रबल वेगरूप फुसकार मारता है। सारे संसार पर उसका जहर व्याप जाता है, किन्तु शरणागत-भक्तजन की काया (शरीर) में जहर का तनिक भी असर नहीं होता है। क्योंकि उसकी दृष्टि में उसका अस्तित्व ही नहीं है, उसकी सत्ता ही नहीं है।

यह सब कैसे हुआ? तो रसिकवर श्रीभगवतरसिक जी कहते हैं कि श्रीहरि की अकारण कृपा, वात्सल्य से रसिक-प्रेमी, भक्तिरस प्राप्त समर्थ गुरु मिल जायँ और उनमें दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न हो जाय तथा वे इसकी श्रद्धा-भक्ति से रीझकर जो युक्ति-तत्त्वज्ञान-दिव्य भावानुभवरूप युक्ति जना दें-दिखा दें, तो जानते ही, अनुभव करते ही वह तिहिं तुल्य-उनके समान रसिक-अनन्य परिपूर्ण प्रेममय समर्थ बन जाता है। फिर स्वभाव से भूलकर भी वह वस्तु नहीं जाती है, अर्थात् उसका स्वभाव तत्त्व-वस्तुमय बन जाता है, उस वस्तु से उसका स्वभाव परिपूर्ण, अभिन्न बन जाता है, फिर भूल कैसे हो?

मूल- कहिं श्री हरिदास हम जीते हारे तुम तऊ न तोड़ ॥५॥

अर्थ-रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में जीव अगणित हैं। वे श्रीहरि की माया से मोहित होकर बुराई (बुरे कर्म) करते ही रहते हैं और करते ही रहेंगे तथा परम कृपालु श्रीहरि उनको संसार के दुःसह दुःखों से छुड़ाते ही रहते हैं एवं छुड़ाते ही रहेंगे, तो भी जीवों की समाप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वे अनन्त हैं। आप कहाँतक सुधार

करेंगे? इसीलिये यहाँ पर यह कहा कि उस परस्पर की होड़ में हम (जीव) जीते, आप हारे।

भावार्थ–यद्यपि जीव निःशेष नहीं हो सकते, क्योंकि अनन्त हैं, तब भी आप श्रीहरि हार न मानकर निरन्तररूप से जीवों का उद्धार करते ही रहते हैं। आप हारकर भी तोड़-नाम सम्बन्ध नहीं तोड़ते हो। जैसे लौकिक में कोई किसी सों हार जाता है, तो फिर उससे परस्पर सम्बन्ध नहीं रखता है; इसी प्रकार आप तोड़ा टूटन नहीं देते हो। क्योंकि महाभारत युद्ध में आप भीष्म जी सों प्रतिज्ञा हार गये, तो भी उनके अन्त समय में उनके निकट पधार दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ किया। इससे आप हार जाने पर भी दया ही करते हो। क्योंकि आप जीव के सहज सखा हो। सो ही कहा है-**सतां सुहृत्** सन्तों के, भक्तों के सुन्दर स्नेहयुक्त स्नेही, मित्र, हितू हो।

सर्वस्य शरणं सुहृद्–सबके आश्रय, रक्षक एवं अकारण स्नेही, हितू, मित्र हो।

चितिं दारुमयीं चित्वा तस्यां पत्युः कलेवरम्।
आदीप्य चानुमरणे विलपन्ती मनो दधे॥

भा. ४-२८-५०

उस स्त्रीरूप पुरञ्जन ने लकड़ियों की चिता बनाकर उस पर पति का शव रखा और अग्नि जलाकर विलाप करते-करते स्वयं सती होने का निश्चय किया।

तत्र पूर्वतरः कश्चित्सखा ब्राह्मण आत्मवान्।
सान्त्वयन् वल्गुना साम्ना तामाह रुदतीं प्रभो॥५१॥

राजन्! इसी समय उसका कोई पुराना मित्र एक आत्मज्ञानी ब्राह्मण वहाँ आया। उसने उस रोती हुई अबला को मधुर वाणी में समझाते हुए कहा।

ब्राह्मण उवाच-

का त्वं कस्यासि को वायं शयानो यस्य शोचसि।
जानासि किं सखायं मां येनाग्रे विचचर्थ ह॥५२॥

ब्राह्मण ने कहा—तू कौन है? किसकी पुत्री है? और जिसके लिये तू शोक कर रही है, वह यह सोया हुआ पुरुष कौन है? क्या तुम मुझे नहीं जानती? मैं वही तेरा मित्र हू, जिसके साथ तू पहले विचरा करती थी।

अपि स्मरसि चात्मानमविज्ञात सखं सखे।
हित्वा मां पदमन्विच्छन् भौमभोगरतो गतः॥५३॥

सखे! क्या तुम्हें अपनी याद आती है, किसी समय मैं तुम्हारा अविज्ञात नाम का सखा था? तुम पृथ्वी के भोग भोगने के लिये निवासस्थान की खोज में मुझे छोड़कर चले गये।

हंसावहं चं त्वं चार्य सखायौ मानसायनौ।
अभूतामन्तरा वौकः सहस्रपरिवत्सरान्॥५४॥

आर्य! पहले मैं और तुम एक-दूसरे के मित्र एवं मानसनिवासी हंस थे। हम दोनों सहस्रों वर्षोंतक बिना किसी निवासस्थान के ही रहे थे।

स त्वं विहाय मां बन्धो गतो ग्राम्यमतिर्महीम्।
विचरन् पदमद्राक्षीः कयाचिन्निर्मितं स्त्रिया॥५५॥

किन्तु मित्र! तुम विषयभोगों की इच्छा से मुझे छोड़कर यहाँ पृथ्वी पर चले आये। यहाँ घूमते-घूमते तुमने एक स्त्री का रचा हुआ स्थान देखा।

पञ्चारामं नवद्वारमेकपालं त्रिकोष्ठम्।
षटकुलं पञ्चविपणं पञ्चप्रकृति स्त्रीधवम्॥५६॥

उसमें पाँच बगीचे, नौ दरवाजे, एक द्वारपाल, तीन परकोटे, छः वैश्यकुल और पाँच बाजार थे। वह पाँच उपादान कारणों से बना हुआ था और उसकी स्वामिनी एक स्त्री थी।

पञ्चेन्द्रियार्था आरामा द्वारः प्राणा नव प्रभो।
तेजोऽबन्नानि कोष्ठानि कुलमिन्द्रियसंग्रह॥५७॥
विपणस्तु क्रियाशक्तिर्भूत प्रकृतिरव्यया।
शक्त्यधीशः पुमांस्त्वत्र प्रविष्टो नावबुध्यते॥५८॥

महाराज! इन्द्रियों के पाँच विषय उसके बगीचे थे, नौ इन्द्रिय-छिद्र द्वार थे, तेज, जल और अन्न-तीन परकोटे थे; मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ छः वैश्यकुल थे; क्रियाशक्तिरूप कर्मेन्द्रियाँ ही बाजार थीं; पाँच भूत ही उसके कभी क्षीण न होनेवाले उपादान कारण थे और बुद्धि-शक्ति ही उसकी स्वामिनी थी। यह ऐसा नगर था, जिसमें प्रवेश करने पर पुरुष ज्ञानशून्य हो जाता है-अपने स्वरूप को भूल जाता है।

तस्मिंस्त्वं रामया स्पृष्टो रममाणोऽश्रुतस्मृतिः।
तत्सङ्गादीदृशीं प्राप्तो दशां पापीयसीं प्रभो॥५९॥

भाई! उस नगर में उसकी स्वामिनी के फंदे में पड़कर उसके साथ विहार करते-करते तुम भी अपने स्वरूप को भूल गये और उसी के संग से तुम्हारी यह दुर्दशा हुई है।

न त्वं विदर्भदुहिता नायं वीरः सुहृत्तव।
न पतिस्त्वं पुरञ्जन्या रुद्धो नवमुखे यया॥६०॥

देखो, तुम न तो विदर्भराज की पुत्री ही हो और न यह वीर मलयध्वज तुम्हारा पति ही। जिसने तुम्हें नौ द्वारों के नगर में बंद किया था, उस पुरञ्जनी के पति भी तुम नहीं हो।

माया ह्येषा मया सृष्टा यत्पुमांसं स्त्रियं सतीम्।
मन्यसे नोभयं यद्वै हंसौ पश्यावयोर्गतिम्॥६१॥

तुम पहले जन्म में अपने को पुरुष समझते थे और अब सती स्त्री मानते हो-यह मेरी ही फैलायी हुई माया है। वास्तव में

तुम न पुरुष हो न स्त्री। हम दोनों तो हंस हैं; हमारा जो वास्तविक स्वरूप है, उसका अनुभव करो।

अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि॥६२॥

मित्र! जो मैं (ईश्वर) हूँ, वही तुम (जीव) हो। तुम मुझसे भिन्न नहीं हो और तुम विचारपूर्वक देखो, मैं भी वही हूँ जो तुम हो। ज्ञानी पुरुष हम दोनों में कभी थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं देखते।

यथा पुरुष आत्मानमेकमादर्शचक्षुषोः।
द्विधाभूतमवेक्षेत तथैवान्तरमावयोः॥६३॥

जैसे एक पुरुष अपने शरीर की परछाईं को शीशे में और किसी व्यक्ति के नेत्र में भिन्न-भिन्न रूप से देखता है, वैसे ही-एक ही आत्मा विद्या और अविद्या की उपाधि के भेद से अपने को ईश्वर और जीव के रूप में दो प्रकार से देख रहा है।

एवं मानसो हंसो हंसेन प्रतिबोधितः।
स्वस्थस्तद्व्यभिचारेण नष्टामाप पुनः स्मृतिम्॥६४॥

इस प्रकार जब हंस (ईश्वर) ने उसे सावधान किया, तब वह मानसरोवर का हंस (जीव) अपने स्वरूप में स्थित हो गया और अपने मित्र के विछोह से भूला हुआ आत्मज्ञान फिर प्राप्त हो गया।

दूसरा दृष्टांन्त-

सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहङ्कृतेः।
तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित्॥

भा. १-९-२१

पितामह श्रीभीष्म जी कहते हैं—इन सर्वात्मा, समदर्शी, अद्वितीय, अहङ्काररहित और निष्पाप परमात्मा में उन ऊँचे-नीचे कार्यों के कारण कभी किसी प्रकार की विषमता नहीं होती।

तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम्।
यन्मेऽसूंस्त्यजतः साक्षात्कृष्णो दर्शनमागतः ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर! इस प्रकार सर्वत्र सम होने पर भी देखो तो सही, वे अपने अनन्य प्रेमी भक्तों पर कितनी कृपा करते हैं। यही कारण है कि ऐसे समय में जब कि मैं अपने प्राणों का त्याग करने जा रहा हूँ, इन भगवान् श्रीकृष्ण ने मुझे साक्षात् दर्शन दिया है।

भक्त्याऽऽवेश्य मनोयस्मिन् वाचा यन्नामकीर्तयन्।
त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः ॥ २३ ॥

भगवत्-परायण योगी पुरुष भक्तिभाव से इनमें मन लगाकर और वाणी से इनके नाम का कीर्तन करते हुए शरीर का त्याग करते हैं और कामनाओं से तथा कर्मबन्धन से छूट जाते हैं।

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥ ३७ ॥

वे श्रीहरि अपने से भी अपने भक्त का उत्कर्ष विशेष मानते हैं, यह मैंने सुन रखा था, किन्तु युद्ध समय मैंने साक्षात् देखा कि मैं शरीर से ही सहायता करूँगा, शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा, यह उनकी प्रतिज्ञा थी तथा मैंने प्रतिज्ञा की थी कि श्रीकृष्ण को शस्त्र ग्रहण अवश्य कराकर ही रहूँगा, यह मेरी प्रतिज्ञा, उसे सत्य एवं ऊँची करने के लिये उन्होंने अपनी शस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा तोड़ दी। उस समय वे रथ से नीचे कूद पड़े और सिंह जैसे हाथी को मारने के लिये उस पर टूट पड़ता है, वैसे ही रथ का पहिया लेकर मुझपर झपट पड़े। उस समय वे इतने वेग से दौड़े कि उनके कंधों का दुपट्टा गिर गया और उनके महाबल से पृथ्वी काँपने लगी।

इस प्रसंग में भगवान् श्रीकृष्ण ने निज भक्तवात्सल्य गुण के दुस्त्यज स्वभाव को दिखाया कि भक्तराज अर्जुन की युद्ध में असमर्थता

देख, उनकी रक्षार्थ अपनी प्रतिज्ञा तोड़ शस्त्र ग्रहणकर युद्ध के लिये दौड़ पड़े। इस लीलाद्वारा प्रभु ने अपनी प्रतिज्ञा भंगकर अर्जुन के प्रति स्वप्रेम दर्शाया तथा भीष्म पितामह का मनोरथ सिद्ध कर उन्हें आनन्दित करते हुए उनके उत्कर्ष को लोक में विख्यात किया।

शितविशिखहतो विशीर्णदंशः क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः ॥ ३८ ॥

मुझ आततायी ने तीखे बाण मार-मारकर उनके शरीर का कवच तोड़ डाला था, जिससे सारा शरीर लहुलुहान हो रहा था, अर्जुन के रोकने पर भी वे बलपूर्वक मारने के लिये मेरी ओर दौड़ आ रहे थे। वे ही भगवान् श्रीकृष्ण, जो ऐसा करते हुए भी मेरे प्रति अनुग्रह और भक्तवत्सलता से परिपूर्ण थे, मेरी एकमात्र गति हों-आश्रय हों।

श्रीस्वामी जी महाराज ने इस पद द्वारा श्रीहरि की अनन्त महिमा, लीलावैचित्र्य और कारुण्य तथा अचिन्त्य ऐश्वर्य का वर्णन किया।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी ने भी इसी भाव को दर्शाते हुए वर्णन किया है।

हमसे पतितन कौन सम्हारै।
साँचौ विरद उदार सिरोमनि गुन औगुन न विचारै॥
विधि निषेध आचार न जानत ऐसे अन अधिकारै।
मोहन मुरलीधरन धीर बिनु को अति अधम उधारै॥
आपुन अति अनुराग हितू लौं बोलि निकट बैठारै।
अपनौ सहज दिखाय प्रेम भरि दै प्रसाद प्रतिपारै॥
सुनियत यहै सुभाव स्याम कौ दीनन निपट निहारैं।
श्रीबिहारीदास निरपेक्ष महाप्रभु बिन को काज सम्हारै॥ १८३ ।।

हम जैसे महापतितों को करुणामय, परम स्नेही, दीनबन्धु, निजजनप्रतिपाल बिना और कौन सम्भाल सकता है? जो सर्वतन्त्र-स्वतंत्र

हो, सर्वज्ञ हो, सर्वसमर्थ हो, सर्वव्यापक हो, सर्वसुहृद् हो और परम कारुणिक तथा परम स्नेहवान् हो, वही दीनजनों, शरणागतजनों को आत्मवत् अति प्यार से सम्भाल सकता है। ऐसे तो एकमात्र श्रीहरि–श्रीविहारी जी हैं, जो सच्चे उदार–दयालु, दाताओं के शिरमौर हैं। यह आपका विरुद–यश–कीर्ति वेद, शास्त्र, पुराण और प्रेमी–संत–रसिकजनों ने भूरि–भूरि–बहुत विस्तार से गाया है। उदारता का लक्षण बता रहे हैं कि जो गुण–अवगुण–पुण्य–पाप आदि का विचार न कर देना, स्नेह करना ही जानते हैं।

वे तो परम सुशील, सुहृद् स्वामी हैं और हम कैसे हैं कि विधि–वेद–शास्त्रद्वारा विहित–निश्चय की हुई आज्ञा–पुण्यकर्म और निषेध–मना की हुई, रोकी हुई आज्ञा–पापकर्म तथा आचार–शास्त्रोक्त विधि से चाल–चलन, आचारण, व्यवहार आदि कुछ भी जानते नहीं हैं, ऐसे अनधिकारी–अधिकारशून्य, पात्रताहीन हैं। किन्तु हम ऐसे अति अधम–नीच, पतित, दीन–हीन को मोहन–सबके मन को अपनी सम्पत्ति जान, अपना जान, अपनी प्रेम–माधुरी, रूप–माधुरी से आकर्षित, मोहित करनेवाले एवं प्रेमरसानन्दमय वपु से प्रेमरसमयी मुरली बजाकर अलौकिक प्रेम रसानन्द का वितरण करनेवाले श्रीविहारी जी के बिना हमारा कौन उद्धार कर सकता है?

और आप कितने अनुरागी एवं सहज स्नेही हैं कि अपने जन को आप स्वयं अति अनुरागपूर्वक और हितू–परम मित्र, स्नेही लौं–के समान बुलाकर अपने निकट बैठाकर अति हर्षित होते हैं, मानो कोई अद्भुत निधि (सम्पत्ति, कोष, खजाना) मिल गया हो। ऐसा क्यों न हो, क्योंकि आप तो उसे आत्मस्वरूप रसिक–अनन्य निजजन–सहचरीरूप में ही देखते हैं। इतना नहीं, उसको अपना सहज–स्वाभाविक, नित्य, अनादि प्रेम दिखाकर–अनुभव कराकर

प्रेमरस भर–माने प्रेमरस की वर्षा से परिपूर्ण, भरपूर कर प्रसाद–अपना अंग-संग–नित्यकेलि सेवा-सुख देकर उसका प्रतिपालन करते हैं-तन, मन, प्राण सर्वआत्मा का तोषण-पोषण करते हैं।

किन्तु वेद, शास्त्र, पुराण और प्रेमी सन्त, रसिकजन की वाणियों में आपके निर्मल, मृदुल, स्नेही स्वभाव का वर्णन सुना है कि आप दयालु, उदार, कृपामूर्ति, परम रसरसिक, रसविलासी होते हुए भी आपको दीन प्यारे हैं। दीन-अकिञ्चन-माने उनके बिना अपना कहाने के लिये जिसके पास कुछ भी नहीं हो, सर्वथा अहं-ममशून्य, अन्यगति-अन्यआश्रय रहित हो, ऐसे दीनजन ही निपट–एकमात्र आपको प्यारे हैं, आप ऐसे दीनजनों को ही एकमात्र निहारते-देखते हैं, अर्थात् अपनाते हैं।

रामायण में कहा है–

एक बान करुना निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥

उन करुणानिधान की एक बान-स्वभाव, आदत है, वह क्या? वही उन्हें प्रिय है, जिसकी अन्य गति, अन्य आश्रय, अन्य बल नहीं हो।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि ऐसे निरपेक्ष-माने अपने जन से साधन, वस्तु एवं क्रिया आदि किसीको भी न चाहनेवाले, केवल शरण लेनेमात्र से, अपना मान लेनेमात्र से अपने मान लेते हैं, अपना सर्वस्व दे देते हैं।

श्रीबिहारिनिदास भये सुख मानत एक गुन अर्पि सहस गुन लेवौ॥१५॥

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि वे इतने निरपेक्ष करुणामय स्वभाववाले हैं कि अपने जन से कुछ भी अपेक्षा–इच्छा करते नहीं हैं। बस, एक ही इच्छा करते हैं कि यह हमारा हो जाय। श्रीवृन्दावनेश्वरी कुंजविहारिणि का दास, युगलवर का दास बन जाय। ऐसे विहारिणिदास होनेमात्र से वे अत्यन्त सुख मानते हैं, परम सुखी हो जाते हैं।

श्रीगुरुदेव जी कहते हैं कि इस अहं-मम (जीवभाव) के अलावा तुम्हारे पास कुछ भी गुण नहीं है, इस गुण–बल को उन्हें तुम अर्पण कर दो-माने अपने को श्री विहारिणिदास मान लो। बस, इसी एक गुण के अर्पण करने से ही तुम सहस्र-माने अनन्त गुण–प्रेमसुख सम्पत्ति प्राप्त कर लोगे। वे सकल कल्याण गुणगणों के निधि हैं, तुम्हें अपने आपको सौंप देंगे। इससे बड़ा और क्या लाभ है?

श्रीगुरुदेव जी कहते हैं ऐसे निरपेक्ष-निष्काम, निर्हेतुक महाप्रभु–सब ईश्वरों के ईश्वर, सब ठाकुरों के ठाकुर, प्रभु श्रीविहारी जी के बिना काज–कार्य-माने मायामय जीवभावरूप मिथ्या स्वरूप से मुक्त होकर (छोड़कर) निभृत निकुंज महल की सेवारूप सहचरीस्वरूप प्राप्त कर सेवा (टहल) में पहुँच जाना-इस कार्य को और कौन सम्भाल सकता है-कर सकता है? अर्थात् एकमात्र आपही कर सकते हैं।

-: इति पञ्चम (५) पद का भावार्थ :-



अथ षष्ठ पद—अवतरण

मन एकत्र संयुजाज्जितश्वासो जितासनः।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः॥

भा. ११-९-११

राजन्! मैंने बाण बनानेवाले से यह सीखा है कि आसन और श्वास को जीतकर वैराग्य और अभ्यास के द्वारा अपने मन को वश में कर ले और फिर बड़ी सावधानी के साथ उसे लक्ष्य में लगा दे।

यस्मिन् मनो लब्धपदं यदेतच्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून्।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम्॥१२॥

जब परमानन्दस्वरूप परमात्मा में मन स्थिर हो जाता है, तब वह धीरे-धीरे कर्मवासनाओं की धूल को धो बहाता है। सत्त्वगुण की वृद्धि से रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों का त्याग करके मन वैसे ही शान्त हो जाता है, जैसे ईंधन के बिना अग्नि।

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो न वेद किञ्चिद् बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तमिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे॥१३॥

इस प्रकार जिसका चित्त अपने आत्मा में ही स्थिर—निरुद्ध हो जाता है, उसे बाहर-भीतर कहीं किसी पदार्थ का भान नहीं होता। मैंने देखा था कि एक बाण बनानेवाला कारीगर बाण बनाने में इतना तन्मय हो रहा था कि उसके पास से ही दलबल के साथ राजा की सवारी निकल गयी और उसे पता तक न चला।

यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरूपताम्॥२२॥

राजन्! मैंने भृंगी (बिलनी) कीड़े से यह शिक्षा ग्रहण की है, यदि प्राणी स्नेह से, द्वेष से अथवा भय से भी जान-बूझकर एकाग्ररूप से अपना मन किसीमें लगा दे तो उसे उसी वस्तु का स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजन्॥२३॥

राजन्! जैसे भृंगी एक कीड़े को ले जाकर दीवार पर अपने रहने की जगह बंद कर देता है और वह कीड़ा भय से उसीका चिन्तन करते-करते अपने पहले शरीर का त्याग किये बिना ही उसी शरीर से तद्रूप हो जाता है।

जब उसी शरीर से चिन्तन किये रूप की प्राप्ति हो जाती है, तब दूसरे शरीर से तो कहना ही क्या है? इसलिये मनुष्य को अन्य वस्तु का चिन्तन न करके केवल परमात्मा का ही चिन्तन करना चाहिये।

इसलिये कहा भी है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है। वह मन द्वारा विषयों के चिन्तन—सेवन से विषयों में लीन हो जाता है और अपने प्रभु का स्मरण करने से उनमें तन्मय हो जाता है। इत्यादि वचनों से मन का निरोध—स्थिर करना आवश्यक है। साधक मन के निरोध किये बिना हरि का भजन कैसे कर सकता है? इसलिये मन के निरोध करने का उपदेश करते हैं।

पद— राग आसावरी

बन्दे अखतियार भला, चित न डुला।
आव समाधि भीतर न होहु अगला॥
न फिर दर दर पिदर दर न होहु अँधला।
कहिं श्रीहरिदास कर्ता किया सो हुआ सुमेर अचल चला॥६॥

अर्थ—हे बन्दे—मनुष्यशरीरप्राप्तजन! तुमको अच्छा अधिकार—सत्-असत्, तत्त्व-अतत्त्व, धर्म-अधर्म आदि का निर्णय

करने, मन पसंद-इच्छानुसार ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त हुआ है। यह अधिकार प्रभु ने ही दिया है। इसलिये चित्त डुला मत--चंचल मत कर। चित्त को रोककर अन्तःस्थ-हृदय में स्थित होकर श्रीविहारी जी के ध्यान में, भावना में मग्न हो जा, अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोककर उनमें लगा-उनकी मधुर लीलाओं का अनुसंधान कर-चिन्तन कर। जिससे अगला-नाम पहले जैसे अनेक योनियों में भटकते हुए दुर्गति भोगी, वैसे ही फिर आगे भोगनी न पड़े।

दर-नाम द्वार, दरवाजा। सो द्वार-द्वार-माने अनेक देवी-देवताओं के दरवाजे-दरवाजे मत फिर, उनकी कामना मत कर। पिदर दर-नाम पिता के द्वार पर भी मत फिर, अर्थात् ऐसा उपाय कर जो माता-पिता का द्वार देखना न पड़े; अर्थात् जन्म-मरण से छूटने का उपाय कर। अन्धा मत बन, अर्थात् एक श्रीविहारी जी ही सबके माता-पिता, रक्षक, स्वामी, सर्वस्व हैं, वे सम्पूर्ण कामनाओं को पूरी करनेवाले और परम सुख को देनेवाले हैं, उनको पहचान और उनकी भक्ति कर-सेवन कर।

रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि श्रीविहारी जी सब कर्ताओं के कर्ता-प्रभु हैं, वे जो करते हैं, वही होता है। सुमेरु पर्वत अचल है, उसे भी वे चलायमान कर सकते हैं; क्योंकि वे सर्वसमर्थ हैं।

मूल— बन्दे अखतियार भला, चित न डुला।

अर्थ—हे बन्दे-मनुष्यतनधारीजन-सेवक-दास! तुम्हें भला-सुन्दर, श्रेष्ठ अधिकार मिला है। अख्तियार-इख्तियार-मन-पसंद-इच्छानुसार ग्रहण करने का सुन्दर, श्रेष्ठ अधिकार मिला है। इसलिये अपने चित्त-नाम मन को मत डुला-चलायमान मत कर, मन-वृत्तियों को रोक, स्थिर कर। क्योंकि करुणामय परमस्नेही प्रभु ने कृपा करके यह

देव-दुर्लभ मनुष्यशरीर तुझे दिया है। यह भला--श्रेष्ठ, सुन्दर, उत्तम अवसर है। इसमें भले--अच्छे-बुरे, धर्म-अधर्म, तत्त्व-अतत्त्व आदि का विचार कर सकता है। इतना भगवान् श्रीहरि ने मनुष्य तनधारी जीव को अख्तियार (अधिकार) दिया है कि शास्त्र-श्रवण और महत्पुरुषों का संग करके अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार करके अपना कल्याण कर सकता है।

भावार्थ--ऐसा अधिकार मनुष्यशरीर में ही है, देव आदि अन्य योनियों में नहीं हैं। वे तो केवल भोग-योनियाँ हैं। शास्त्रों में लिखा है--

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

भा. ११-२०-१७

यह मनुष्य-शरीर समस्त शुभ फलों की प्राप्ति का मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसारसागर से पार जाने के लिये यह एक सुदृढ़ नौका है। शरण ग्रहणमात्र से ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवार का संचालन करने लगते हैं और स्मरणमात्र से ही मैं अनुकूल वायु के रूप में इसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होने पर भी जो इस शरीर के द्वारा संसारसागर से पार नहीं हो जाता, वह तो अपने हाथों अपने आत्मा का हनन--अध:पतन कर रहा है।

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णः यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

भा. ११-९-२९

यद्यपि यह मनुष्यशरीर है तो अनित्य ही--मृत्यु सदा इसके पीछे लगती रहती है। परन्तु इससे परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो सकती है; इसलिये अनेक जन्मों के बाद यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यशरीर

पाकर बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि शीघ्र-से-शीघ्र, मृत्यु के पहले ही मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न कर ले। इस जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है। विषय-भोग तो सभी योनियों में प्राप्त हो सकते हैं, इसलिये उनके संग्रह में यह अमूल्य जीवन नहीं खोना चाहिये।

प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसम्भृताम्।
न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम्॥

भा. ५-१९-२५

जिन जीवों ने इस भारतवर्ष में ज्ञान (विवेक-बुद्धि), तदनुकूल कर्म तथा उस कर्म के उपयोगी द्रव्यादि सामग्री से सम्पन्न मनुष्य-जन्म पाया है, वे यदि आवागमन के चक्र से निकलने का प्रयत्न नहीं करते, तो व्याध की फाँसी से छूटकर भी फलादि के लोभ से उसी वृक्ष पर विहार करनेवाले वनवासी पक्षियों के समान् फिर बन्धन में पड़ जाते हैं।

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते॥

भा. ११-७-२०

समस्त प्राणियों का, विशेषकर मनुष्य का आत्मा अपने हित और अहित का उपदेशक गुरु है। क्योंकि मनुष्य अपने प्रत्यक्ष अनुभव और अनुमान के द्वारा अपने हित-अहित का निर्णय करने में पूर्णतः समर्थ है।

यदाऽऽरम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः॥

भा. ११-२०-१८

प्रिय उद्धव! जब पुरुष दोष-दर्शन के कारण कर्मों से उद्विग्न और विरक्त हो जाय, तब जितेन्द्रिय होकर वह योग में स्थित हो जाय और अभ्यास-आत्मानुसन्धान के द्वारा अपना मन मुझ परमात्मा में निश्चलरूप से धारण करे।

धार्यमाणं मनोयर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम्।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत्॥१९॥

जब स्थिर करते समय मन चञ्चल होकर इधर-उधर भटकने लगे, तब झटपट बड़ी सावधानी से उसे मनाकर, समझा-बुझाकर, फुसलाकर अपने वश में कर ले।

मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः।
सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत्॥२०॥

इन्द्रियों और प्राणों को अपने वश में रखे और मन को एकक्षण के लिये भी स्वतन्त्र न छोड़े। उसकी एक-एक चाल, एक-एक हरकत को देखता रहे। इस प्रकार सत्त्वसम्पन्न बुद्धि के द्वारा धीरे-धीरे मन को अपने वश में कर लेना चाहिये।

एष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन् दम्यसेवार्वतो मुहुः॥२१॥

जैसे सवार घोड़े को अपने वश में करते समय उसे अपने मनोभाव की पहचान कराना चाहता है—अपनी इच्छा के अनुसार उसे चलाना चाहता है और बार-बार फुसलाकर उसे अपने वश में कर लेता है, वैसे ही मन को फुसलाकर, उसे मीठी-मीठी बातें सुनाकर वश में कर लेना भी परम योग है।

बन्दे—सेवक, जन; इस सम्बोधन द्वारा श्रीस्वामी जी महाराज करुणा, स्नेह, वात्सल्यपूर्वक जीव को समझा रहे हैं कि तुम सदा—सर्वदा से ही प्रभु के नित्य दास, जन हो। प्रभु ने तुम्हें सुन्दर, उत्तम अधिकार दिया है। इसमें तुम शास्त्र, कथा-श्रवण और प्रेमी महापुरुषों का सत्संग करके अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय कर कल्याणमय मार्ग पर अग्रसर—आरूढ़ होकर, चित्त को लगाकर अपना कल्याण कर लो।

भाव यह है कि जीव कर्मानुसार अनेक योनियों में भटकता रहा है। चार खान के जीव होते हैं। एक तो उद्भिज—पृथ्वी को

फोड़कर ऊगने वाले-पेड़ आदि, दूसरे उष्मज–स्वेदज-खटमल, जूँ आदि, तीसरे अण्डज–अण्डा से उत्पन्न होनेवाले पक्षी आदि और चौथे-पिण्डज–जरायु से उत्पन्न होनेवाले पशु, मनुष्य आदि। इन्हींका अवान्तर भेद चौरासी लाख योनियाँ हैं। यथा–

स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलजन्नवलक्षकम्।
कूर्माश्चरुद्रलक्षं च दशलक्षं च पक्षिणः॥
त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं च वानराः।
ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि कारयेत्॥

स्थावर योनियाँ-माने पेड़, पत्थर आदि योनियाँ- २० लाख
जल से उत्पन्न योनियाँ माने-मछली, मगर आदि- ९ लाख
कूर्म योनियाँ- माने कछुवे आदि- ११ लाख
पक्षी योनियाँ - १० लाख
पशुओं की योनियाँ - ३० लाख
वानर की योनियाँ - ४ लाख
८४ लाख योनियाँ

इसके पश्चात् जीव मनुष्यता-माने मनुष्य-स्वरूप (शरीर) को प्राप्तकर शुभाशुभ कर्मों को करता है। इसलिये सदा उत्तम–भगवत्-सन्मुख कर्म ही करना चाहिये।

माया की प्रेरणा से काल, कर्म, गुण और स्वभाव से घिरा हुआ जीव इन्हीं ऊपर कही हुई योनियों में मर-मरकर जन्मता हुआ कर्मभोग भोगता रहता है। तो भी ये सब देह केवल कर्मभोग के लिये ही हैं। कर्म करने का अधिकार तो एकमात्र मनुष्यदेहधारी जीव को ही है। इसीलिये यह मनुष्य-शरीर देव-दुर्लभ कहा गया है। इसलिये इस अमूल्य जीवन का एक-एक क्षण भगवत् भजन-ध्यान आदि उत्तम भगवत्कर्म में ही लगाना चाहिये। क्योंकि विषयभोग तो प्राणिमात्र को

सर्वत्र, सब योनियों में स्वाभाविक ही प्राप्त होते हैं। सभी अपने-अपने उचित आहार-विहार द्वारा परितृप्त होते हैं। परन्तु कर्म करने, उत्तम धर्माचरण करने एवं श्रीहरि की आराधना-भक्ति करने का अधिकारी तो केवल मनुष्य-देहधारी है। यदि इस देव-दुर्लभ मनुष्य-जीवन को भी पशुओं की भाँति केवल आहार, निद्रा और मैथुन आदि में ही खो दिया, तो इससे बड़ा अनिष्ट और क्या हो सकता है?

प्राप्यापि दुर्लभतरं मानुष्यं बिबुधेप्सितम्।
यैराश्रितो न गोविन्दस्तैरात्मा वञ्चितश्चिरम्॥

ना.पु.

देवताओं द्वारा चाहना किया हुआ दुर्लभतर मनुष्य-देह पाकर भी जिन प्राणियों ने श्रीहरि का आश्रय नहीं लिया, उनने दीर्घकाल के लिये अपने आत्मा को ठग लिया।

श्रीबिहारीदास दुर्लभ लह्यौ, तन पुरवै सब काम।
नातरु जैहै रायगाँ, भजि लै स्यामा स्याम॥६८॥

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि तुम्हें यह अति दुर्लभ मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। यह मनुष्य-शरीर समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेवाला है। इसी देह से शुभाशुभ कर्म करके प्राणी स्वर्ग-नरक को जाता है और उत्तम-भक्ति-कर्म करके संसार से मुक्त होकर भगवत्सेवा को प्राप्त कर लेता है। इसलिये सदा-सर्वदा मन, वचन, कर्म से श्रद्धा-विश्वास-प्रेमपूर्वक श्यामा-श्याम का भजन कर ले, नहीं तो यह अमूल्य शरीर रायगाँ-सेंतमेंत, योंही, व्यर्थ चला जायगा।

चित्त न डुला-शरीर तो जड़, विकारी, अनित्य, नाशवान् है और आत्मा चेतनस्वरूप, निर्विकार, नित्य और अविनाशी है। यह संसार का क्लेश, ताप और दुःख-दरिद्रता आदि चित्त को लेकर ही

हैं। जबतक मनुष्य का चित्त सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के वश में रहता है, तबतक वह अपनी इच्छापूर्वक अपनी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय से शुभाशुभ कर्म करता रहता है। चित्त के द्वारा जीव सुख-दुःख का अनुभव करता है। भय, चिन्ता, क्रोध, लोभ, द्वेष आदि सबका करनेवाला चित्त ही है। चित्त ही नाना प्रकार की इच्छाओं को प्रकट करता है। यह मायामय चित्त सब संसार को छलनेवाला है। यही अपने देह के अभिमानी जीव से मिलकर उसको काल-कर्म से प्राप्त हुए हर्ष-शोक के कारणभूत इष्ट-अनिष्ट और इनके अतिरिक्त मोहरूप अवश्य होनेवाले फलों को प्रकट करता है। चित्त के सभी भावों का मिलना दो प्रकार का होता है—इच्छा में और घबड़ाने में। अर्थात् चित्त अपनी जगह को छोड़कर इधर-उधर भटकता है। सनकादिक परम महर्षियों ने अपने पिता श्रीब्रह्मा जी से पूछा—

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो।
कथमन्योन्संत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः॥

भा.११-१३-१७

पिताजी! चित्त गुणों अर्थात् विषयों में घुसा ही रहता है और गुण भी चित्त की एक-एक वृत्ति में प्रविष्ट रहते ही हैं। अर्थात् चित्त और गुण आपस में मिले-जुले ही रहते हैं। ऐसी स्थिति में जो पुरुष इस संसार-सागर से पार होकर मुक्तिपद प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनों को एक-दूसरे से अलग कैसे कर सकता है?

मनसा वाचा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥२४॥

भगवान् कहते हैं—मन से, वाणी से, दृष्टि से तथा अन्य इन्द्रियों से भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ,

मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है। यह सिद्धान्त आप लोग तत्त्वविचार के द्वारा समझ लीजिये।

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः॥२५॥

पुत्रो! यह चित्त चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्त में प्रविष्ट हो जाते हैं, यह बात सत्य है, तथापि विषय और चित्त ये दोनों ही मेरे स्वरूपभूत जीव के देह हैं—उपाधि हैं। अर्थात् आत्मा का चित्त और विषय के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्॥२६॥

इसलिये बार-बार विषयों का सेवन करते रहने से चित्त विषयों में आसक्त हो गया है और विषय भी चित्त में प्रविष्ट हो गये हैं, इन दोनों को अपने वास्तविकरूप से अभिन्न मुझ परमात्मा का साक्षात्कार करके त्याग देना चाहिये।

चित्त का आश्रय आत्मा है। आत्मा नित्य, अविकारी, अविनाशी, अनादि तथा आनन्दस्वरूप है। यदि चित्त शुद्धआत्मा के आश्रय में रहता है, तो उसको शान्त, सुखस्वरूप और आनन्दस्वरूप का अनुभव होता है। परन्तु उसमें कामना-वासना की चाहना, व्याकुलता जागृत होती रहती है, इसलिये यह आत्मा का आश्रय छोड़कर संसार की ओर दौड़-धूप करता है और इसीकारण अपार दुःखों का अनुभव करता है। इसीलिये श्रीस्वामी जी महाराज अपने अनुगतों को उपदेश करते हैं कि सुन्दर अधिकारी शरीर प्राप्त करके अब चित्त को चंचल मत होने दो। अर्थात् विषयभोगों की चिन्ता मत कर। क्योंकि मन जिस वस्तु की चिन्ता करेगा, उसीमें उसकी आसक्ति होगी, ऐसा नियम है। यथा—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

भा. ११-१४-२७

जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है, उसका चित्त विषयों में फँस जाता है और जो मेरा स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें तल्लीन हो जाता है।

इसलिये गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं–

रे चित चंचल अनत न जैयै।
जुगल किसोर चरन चिन्तन बिनु सुख संतोष न पैयै॥
कहुँ आदर कहुँ होत निरादर बिन विवेक विष खैयै।
मानुष कियें होत कित कूकर भंडिहाई न अघैयै॥
पाप पुण्य दोऊ सम सुनियत डहकाये डहकैयै।
कंचन लोह निगड़ दृढ़ मनसा हू न बँधैयै॥
परमारथ बिन जे स्वारथ की सबै जानि दुख दैयै।
श्रीबिहारीदास प्रभु कौ आनन्द नित नागर नेकु रिझैयै॥१०१॥

अरे चंचल चित्त! चंचल–माने सुख की आशा-तृष्णा से इधर-उधर भटकनेवाले, अनत–माने अन्य जगह–इधर-उधर मत जा। क्योंकि प्रभु-श्रीहरि के अलावा अन्यत्र त्रिताप-तापिनी भ्रमरूपा माया है, उधर मत भटक। सदा महामाधुर्य रस-विलासी युगलकिशोर श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि के चरणकमलों का ही चिन्तन-स्मरण, सेवन कर। उनके चिन्तन के बिना त्रिभुवन में स्वर्गादि कहीं भी चला जा, तुझे सुख-आनन्द और संतोष-तृप्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि सर्वत्र स्वप्नवत् मिथ्या सुख की भ्रान्ति है।

कहीं जाने से आदर–सन्मान मिलता है, कहीं निरादर–अपमान होता है, अर्थात् जो रागवाले-प्रेम करनेवाले या गुण देखनेवाले जन

हैं, वे सम्मान करते हैं और जो द्वेष करनेवाले, दोष देखनेवाले या अभिमानीजन हैं, वे अपमान करते हैं। परन्तु वास्तव में दोनों ही विष खाने के समान हैं। दोनों से ही काम, क्रोध आदि दोषों की वृद्धि होकर श्रद्धा-विश्वास, भक्तिरूप प्राण चले जाते हैं। प्रभु ने ज्ञानवान्, धर्म-प्राण मनुष्य बनाया है, फिर तुम जान-बूझकर कूकर–कुत्ते के समान टुक-टुक के लिये इधर-उधर भटकते रहने और विषय भोगों में लगे रहनेवाले क्यों बनते हो? भंडिहाई–निर्लज्ज, पाखंडी, चोर के समान तुम्हारी गिनती होगी और कभी भी अघावोगे नहीं, माने पेट नहीं भरेगा, तृष्णा-अशान्ति बढ़ती जायगी।

पाप-पुण्य दोनों समान हैं। पाप से दुःख और पुण्य से सुख मिलता है। पाप में पुण्य और पुण्य में पाप घुसा रहता है। कोई भी कर्म आग में धुँए की तरह दोषरहित नहीं होता। वेदों की पुष्पित वाणी में डहकाने-माने बहकाने में बहुत-से आ गये, बंधन में पड़ गये। पुण्य कंचन की निगड़–सोने की जंजीर (बेड़ी) और पाप लोहे की दृढ़–मजबूत–अपने बल से न टूटनेवाली बेड़ी है। प्रभु की शरण में आने पर वे टूट जाती हैं। तुम उससे छूट गये हो, फिर अब मनसा–मन की वृत्ति से भी उसमें न बँधो।

आगे और रहस्य की बात बता रहे हैं कि परमार्थ-माने प्रभु की भक्ति-प्रेम के बिना जो भी स्वार्थ-माने कर्म-धर्म, विधि-निषेध आदि की बातें हैं, वे सब दुःख देनेवाली-बंधन में डालनेवाली जानो अर्थात् उस ओर मन से भी न देखो। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि प्रभु–श्रीनित्यविहारी का आनन्द–प्रेमरस माधुर्यमय केलि-विहाररूप सेवामय, आनन्दसुख नित्य–नया, एकरस, वर्द्धमान है। तुम इधर-उधर क्यों भटकते हो? उन परम चतुर नटनागर–जिनका यह सब पसारा (खेल) है, उन्हें प्रेमभक्ति से नेक–तनिक रिझा

लो-प्रसन्न कर लो। वे भक्ति से सहज ही रीझ जाते हैं। फिर तो वह आनन्द-सुख तुम्हारा ही है; उसका मनमाना उपभोग करो।

श्रीस्वामी जी महाराज कहते हैं कि हे बन्दे-निजजन, सेवक! तुम्हें अपने को पहचानने और भक्ति करने का अति उत्तम, सुन्दर अधिकार मिला है, अर्थात् तुम मनुष्य-देहधारी जीव नहीं हो। तुम्हारा स्वरूप तो प्रेमरस माधुर्यमयस्वरूप दिव्य निकुंज-मन्दिर में श्रीयुगल की सेवा में सदा-सर्वदा तत्पर है। तुम्हें उस अपने स्वरूप को पहचानकर, सबसे मुख मोड़कर उस निज स्वरूपानन्द की प्राप्ति के लिये दृढ़ता से तत्पर, तल्लीन हो जाना चाहिये, अर्थात् तत्पर, तल्लीन हो जाओ।

श्रीस्वामी ललितकिशोरदेव जी कहते हैं-

जहाँ अखंडित एकरस, जुगल केलि रस रीति।
तहाँ सहचरी भाव करि, सेवत नित प्रति प्रीति॥७५१॥

जहाँ-महाप्रेममाधुर्य रसमय धाम श्रीवृन्दावन-निकुंज-भवन में युगलवर श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि की निरन्तर-सदा-सर्वदा, एकरस-अखण्डित, निरवधि केलि-रस की रीति-विहार-क्रीड़ा हो रही है, वहाँ महामधुर रसमयी सेवापरायण ललितादिक सहचारियों के मध्य सहचरीभाव करि-माने उनके मध्य (संग) तुम्हारा सेवापरायण सहचरीस्वरूप है ही, उसे अपना निजस्वरूप मान, स्वीकरकर-मनद्वारा अन्तश्चिन्तित भावस्वरूप (सहचरीस्वरूप) से वहाँ जाकर नित्यप्रति सदा-निरन्तर अति प्रेम-प्रीति से युगलवर-प्रिया-लाल का सेवन करते रहो।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं-

सिद्ध वस्तु घर ही सहज, साधन सुन्यौ न जाय।
सोऊ साधन सतनजा, श्रम करि को पछिताय॥२२१॥

घर ही में–श्रीगुरु–श्रीस्वामी जी की कृपा से हृदय ही में जो दिव्य भाव प्राप्त हुआ है–उस हृदयरूप श्रीवृन्दावन–निकुंज मन्दिर में ही महामाधुर्यरसमय केलि–विहार नित्य–निरन्तर हो रहा है, वह नित्य सिद्धवस्तु सहज ही है, अर्थात् बिना साधन के, साधन से भी पहले वह दिव्य रसमय–वस्तु सिद्ध है–प्राप्त है। फिर वस्तु–माने प्रेमरस–तत्त्व की प्राप्ति के लिये साधनों–माने ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि साधनों का वर्णन कौन सुने? अर्थात् वह सुनना भी सुहाता नहीं है। वह साधन भी एक नहीं, सतनजा–माने कई प्रकार का अनाज मिला हो, ऐसे ही कई प्रकार का मिश्रित है। फिर उसे करने से क्या लाभ? क्योंकि उसे करने के बाद भी यहीं आना पड़ेगा, इसी भाव से प्राप्ति होगी। तो फिर उन साधनों को करना केवल श्रममात्र ही है। ऐसा श्रम करके कौन पछताये? अर्थात् केवल पछताना–कलपना ही है। और भी कहते हैं–

घर घर वन वन बाहिर ढूँढ़ा। भूला फिरै बड़ा मति मूढ़ा॥
आरम्भी उद्यम आरूढ़ा। घर ही में पायौ गुन गूढ़ा॥१५॥

दिव्य सच्चिदानन्दमय प्रेमरसानन्दस्वरूप–भावमय श्रीहरि विहारी जी सदा–नित्य–एकरस भीतर–हृदय में ही विराजमान हैं। उन्हें पहचाने बिना भुला हुआ साधक (प्राणी) हृदय से बाहर घर–घर, वन–वन–माने ज्ञान, वैराग्य, योग, तपस्या, आदि साधन तथा अनेक आश्रम, सम्प्रदाय आदि में ढूँढ़ता फिरता है। वह बड़ा मतिमूढ़ है अर्थात् उसने रसिक–अनन्य महानुभावों के सत्संग से उज्ज्वल मति प्राप्त नहीं की। इसलिये आरम्भ–अनेक–कर्म–साधनों की इच्छा करनेवाला अनेक उद्यमों–साधनों में आरूढ़–तत्पर लगा हुआ है। इस प्रकार वह अपना अमूल्य समय नष्ट कर रहा है। जिनको भगवदीय अकारण कृपा से रसिक–अनन्य महानुभावों का

दिव्य संग मिल गया, उन्हें घर-माने श्रीसद्गुरु-उपदिष्ट भाव से भरपूर हृदय में ही वह गूढ़-माने अति रहस्ययुक्त गुप्त गुण–दिव्य महामाधुर्य प्रेम-रसमय नित्यविहार रस प्राप्त हो गया।

आगे श्रीस्वामी जी महाराज इसी बात का लक्ष्य कर समझाते हुए कर रहे हैं।

मूल- आव समाधि भीतर न होहु अगला ॥

अर्थ-समाधि-नाम भावना; बाह्य चित्तवृत्ति को रोकना और भीतर चित्तवृत्ति को लगाना। अर्थात् श्रीविहारी जी की रसमयी मधुर लीलाओं का अनुसंधान–चिन्तन, सेवन करना।

भावार्थ–ध्यान की घनी अवस्था ही समाधि है। समाधि विकाररहित चित्त ही से साध्य होती है। समाधि ही चित्त की स्वस्थता है। जो चित्त सदा नाना प्रकार की व्याधिओं से व्याकुल रहता है, वह स्वस्थ कैसे रह सकता है?

बिना मन की विमलता के समाधि में प्रविष्ट होना असम्भव है। यह बात नहीं बन सकती। मैल क्या है? संसार के पदार्थों में मैं-मेरेपन का भाव ही मन का मैल है। जबतक यह मैल सर्वथा ही न मिट जायगा, तबतक मन विमल नहीं होगा। बाहर जगत् के इन्द्रिय-सुखों के भोगने के अधिकारी तो सभी देहधारी है; परन्तु समाधि सुख का अधिकारी तो मनुष्य ही है। इसलिये श्रीस्वामी जी महाराज श्रीकुंजविहारी-कुंजवहारिणिसहित हृदय-निकुंज में विराजमान होते हुए अधिकार प्राप्त निजजनों को बुलाते हैं कि अरे देवदुर्लभ शरीरप्राप्तजनो। बाहर जगत् से सम्बन्ध तोड़कर उर–अन्तर में आवो। अर्थात् सदा भावना में लगे रहो। युगलमाधुरी क्रीड़ा-विनोद का आस्वादन करो। क्षणमात्र के लिये भी पृथक् न होओ।

ऐसेई देखत रहौं जनम सुफल करि मानौं।
प्यारे की भाँवती भाँवती के प्यारे जुगल किसोरहि जानौं॥
छिन न टरौ पल होहु न इत उत रहौ एक तानौं।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी मन रानौं॥३॥

श्रीस्वामी जी महाराज परम माधुर्य रसस्वरूपा–केलि विहार रसस्वरूपा श्रीललितास्वरूप सों कहते हैं–जैसे तुम महामाधुर्य प्रेमरस विहाररस में तत्सुख-सुख में तन-मन-प्राणों से एक होकर क्रीड़ा कर रहे हो, ऐसे ही–इसी प्रकार तुम्हें सदा देखती रहूँ, तभी अपना जन्म–जीवन सफल करके मानती हूँ। अथवा प्रतिक्षण का मनोरथ रूप जीवन तभी सफल कर मानती हूँ। अथवा श्रीस्वामी जी श्रीयुगलवर से कहते हैं–तुम भी अपना जीवन या प्रतिक्षण का मनोरथरूप जीवन तभी सफल करके मानो; जब ऐसे ही परस्पर में देखते रहो। और आगे कहते हैं-

प्यारे–प्राणों से भी अति प्रिय-कुंजविहारी की भाँवती–अत्यन्त प्रिय लगनेवाली प्यारी, अथवा रुचि के अनुकूल समस्त क्रियायें–केलि-विहार करनेवाली प्यारी और ऐसे ही भाँवती–प्राण प्रियतमा कुंजविहारिणी के प्राणों से भी अत्यन्त प्रिय लगनेवाले प्रियतम, अथवा प्राणप्यारी की प्रत्येक रुचि के अनुरूप ही केलि-विहार–क्रीड़ा करनेवाले प्रियतम, ऐसे ये युगलकिशोर–दोनों एक-प्राण दो देहरूप नवकिशोर-यौवन के जोर में विभोर-उन्मत्त, छके हुए रस-विलासी-इसी रूप में तुम्हें जानती हूँ, इसी रूप में तुम्हें सदा क्रीड़ा-विहार करते हुए देखती हूँ।

और आगे रस की गम्भीरता की बातें प्रकट करते हुए कहती हैं–

इस महामधुर प्रेम रस के विहार के गूढ़ रस-आवर्त में क्रीड़ा करते हुए उससे एकक्षण भी टलो नहीं, अर्थात् उस रसभावपूर्ण

गूढ़-गम्भीर स्थिति से टलो नहीं, बल्कि उत्तरोत्तर बढ़ती रहे और एक पल भी इधर-उधर न होवो, अर्थात् एक निमिषमात्र भी इधर-उधर किसी अंगों के विलास में भी न प्रवृत्त होओ। एक तानौ-ताने की तरह तन-मन-प्राणों से इसी रस गाम्भीर्य में तन्मय रहो, तत्पर रहो, तने रहो।

रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि हमारे स्वामी-इष्ट, प्रभु, पति सर्वस्व श्यामा-निकुंज रस-विलासिनी प्रिया श्रीश्यामा और उनके संग सदा कुंज में विहार-विलास करनेवाले श्याम-श्रीकुंजविहारी मन रानो-इनका मन सदा ऐसे ही प्रेम रस विहार में रँगा रहे। अथवा हमारा मन सदा ऐसे ही रँगा रहे। अथवा श्रीप्रिया जी का मनरूप राजा, ऐसे ही सुख देता रहे, रँगा रहे। अथवा दोनों का मनरूप राजा ऐसे ही रँगा रहे-रस रत्त-मत्त रहे।

श्रीस्वामी महाराज कहते हैं कि यदि मन को स्थिर करके श्रीहरि के चिन्तन में न लगायेगा, तो क्या दशा होयगी कि **न होहु अगला**-माने पहले जैसे अनेक योनियों में भटकता रहा, ऐसे ही फिर भी उन योनियों में भटकता हुआ दुर्गति को भोगेगा। इसलिये श्रेय (कल्याण) का साधन यह मनुष्यजन्म मिला है, उसे मत खो, प्रिया-प्रियतम के चरणों में लगा। समाधि में जैसे योगी लोक-परलोक और स्वर्ग आदि को भूलकर ध्यान में तन्मय हो जाते हैं, ऐसे तू भी श्रीविहारी-विहारिणि के विहार के ध्यान में तन्मय हो जा। श्रीस्वामी जी महाराज और उनके रसिक-अनन्यजनों की सदा ऐसी ही रसमय समाधि लगी रहती है।

लगी समाधि बिहार की, छूटै नहिं दिन रैन।
गौर स्याम विलसैं सदा, श्रीहरिदासी ऐन1।

नित्यविहार रस की समाधि लगी हुई है। यह रात-दिन लगी रहती है, एकक्षण के लये भी छूटती नहीं है। अर्थात् नित्य-निरन्तर एकरस नित्यविहार-रस समुद्र उमड़ता हुआ लहरायमान रहता है। उसमें गौर-श्याम युगल-दम्पति नित्य विलास रस के आवर्त में रस-विह्वल-रसोन्मत्त लहराते रहते हैं। यह रस समाधि ललितास्वरूप श्रीहरिदासी के उर-भवन में—दिव्य वृन्दावन निकुंज भवन में सदा-सर्वदा लगी रहती है।

मूल- न फिर दर दर पिदर दर न होहु अंधला।

अर्थ—दर-नाम द्वार, दरवाजे का है। सो द्वार-द्वार मत फिर। अर्थात् अमुक कामना के लिये अमुक देव का सेवन किया, दूसरी कामना के लिये दूसरे देव का सेवन किया। इस प्रकार देवताओं के द्वार-द्वार मत फिर, मत भटक। एक श्रीविहारी जी ही सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं। अथवा ब्रह्मादिक के भी द्वार पर मत फिर, अर्थात इनकी भी कामना मत कर। क्योंकि ये सभी भगवद्भक्ति के विरोधी हैं। इसलिये सबका परित्याग कर और भगवच्चरणारविन्द की भक्ति कर।

भावार्थ—भाव यह है कि यह जीव अपने सहज स्वरूपानन्द से विमुख रहने के कारण ही संसार की मिथ्या आशा-तृष्णा के वश में होकर द्वार-द्वार भटकता फिरता है। श्रीहरि का विश्वास न होने के कारण धन, मान आदि कामनाओं से व्याकुलचित्त मनुष्य अपने अमूल्य समय को हरि-विमुख, पाप में लगे हुए देहाभिमानी पुरुषों की सेवा-शुश्रूषा में खो देता है। किन्तु यह जीव सुख की चाहनाओं से जिस-जिस वस्तु को बड़े कष्ट—श्रम से प्राप्त करता है, उसी-उसीको काल किसी-न-किसी दिन उससे छुड़ा लेता है। जिसके कारण यह अत्यन्त दु:खी होता है।

यह मन्दमति जीव अपने इस नाशवान् देह तथा उसके सम्बन्धी पिता, पितामह आदि के घर, खेत, पशु, धन और बन्धु-बान्धवों में अत्यन्त आसक्त होकर उनके सम्बन्ध में नाना प्रकार के मनोरथ करता रहता है। यद्यपि यह मतवाला अपने झूठे सम्बन्धियों को काल के गाल में जाते हुए देखता है, फिर भी इसकी आँखें नहीं खुलतीं, अर्थात् संसार की असारता का अनुभवकर अपने वास्तविक प्रेम के स्थान सर्वसुहृद् श्रीहरि–श्रीविहारी जी के सन्मुख नहीं होता।

देहापत्यकलत्रादिष्वात्म सैन्येष्वसत्स्वपि।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति॥

देह, पुत्र, स्त्री आदि तथा अपने राज्य, सेना आदि जो असत्–नाशवान्, मिथ्या होने पर भी उनमें अत्यन्त आसक्त, मतवाला जीव उनका मरण–नाश देखते हुए भी नहीं देखता है।

त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्मभिः प्रभो।
उच्चावचान् यथा देहान् गृह्णन्ति विसृजन्ति च॥

भा.११-२२-३४

उद्धव जी ने पूछा–भगवन्! आपसे विमुख जीव अपने किये हुए पुण्य-पापों के फलस्वरूप ऊँची-नीची योनियों में जाते-आते रहते हैं। अब प्रश्न यह है कि व्यापक आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना, अकर्ता का कर्म करना और नित्यवस्तु का जन्म-मरण कैसे सम्भव है?

मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियै पञ्चभिर्युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते॥३६॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा–प्रिय उद्धव! मनुष्यों का मन कर्म संस्कारों का पुञ्ज है। उन संस्कारों के अनुसार भोग प्राप्त करने के लिये उसके साथ पाँच इन्द्रियाँ भी लगी हुई हैं। इसीका नाम है

लिङ्गशरीर। वही कर्मों के अनुसार एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक लोक से दूसरे लोक में आता-जाता रहता है। आत्मा इस लिङ्गशरीर से सर्वथा पृथक् है। उसका आना-जाना नहीं होता, परन्तु जब वह अपने को लिङ्गशरीर ही समझ बैठता है, उसीमें अहङ्कार कर लेता है, तब उसे भी अपना आना-जाना प्रतीत होने लगता है।

ध्यायन् मनोऽनु विषयान् दृष्टान् वानुश्रुतानथ।
उद्यत् सीदत् कर्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनु शाम्यति॥३७॥

मन कर्मों के अधीन है। वह देखे हुए या सुने हुए विषयों का चिन्तन करने लगता है और क्षणभर में ही उनमें तदाकार हो जाता है तथा उन्हीं पूर्वचिन्तित विषयों में लीन हो जाता है। धीरे-धीरे उसकी स्मृति, पूर्वापर का अनुसंधान भी नष्ट हो जाता है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानथ स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥५५॥

विषयों के सत्य न होने पर भी जो जीव विषयों का ही चिन्तन करता रहता है, उसका यह जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्र कभी निवृत्त नहीं होता, जैसे स्वप्न में प्राप्त अनर्थ-परम्परा जागे बिना निवृत्त नहीं होती।

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम्॥५६॥

प्रिय उद्धव! इसलिये इन दुष्ट (कभी तृप्त न होनेवाली) इन्द्रियों से विषयों को मत भोगो। आत्मविषयक अज्ञान से प्रतीत होनेवाला सांसारिक भेदभाव भ्रममूलक ही है, ऐसा समझो।

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान्॥

भा. ३-३१-४३

भगवान् कपिलदेव जी कहते हैं—देवि! जीव के उपाधिभूत लिङ्गदेह के द्वारा पुरुष एक लोक से दूसरे लोक में जाता है और अपने प्रारब्धकर्मों को भोगता हुआ निरन्तर अन्य देहों की प्राप्ति के लिये दूसरे कर्म करता रहता है।

अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनादयः।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः॥

भा. ३-३०-३४

मनुष्य-जन्म मिलने के पूर्व नरकादि की जितनी भी यातनायें हैं तथा शूकर-कूकरादि योनियों के जितने कष्ट हैं, उन सबको क्रम से भोगकर शुद्ध हो जाने पर वह फिर मनुष्ययोनि में जन्म लेता है।

ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं च तेऽपि धर्मविनिर्मितम्।
निषेव्य पुनरायान्ति गुणव्यतिकरे सति॥

भा. ३-३२-१५

इस प्रकार पूर्वोक्त ऋषिगण भी अपने-अपने कर्मानुसार ब्रह्मलोक के ऐश्वर्य को भोगकर भगवदिच्छा से गुणों में क्षोभ होने पर पुनः इस लोक में आ जाते हैं।

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥

भा. ११-७-७४

यह मनुष्य-शरीर मुक्ति का खुला हुआ द्वार है। इसे पाकर भी जो कबूतर की तरह अपनी घर-गृहस्थी में ही फँसा हुआ है, वह बहुत ऊँचेतक चढ़कर गिर रहा है। शास्त्र की भाषा में वह आरूढ़च्युत है।

अन्तरायैरविहतो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः।
तेनापि निर्जित स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु॥

भा. ११-१०-२२

यदि यज्ञ-यागादि धर्म बिना किसी विघ्न के पूरा हो जाय, तो उसके द्वारा जो स्वर्गादि लोक मिलते हैं, उनकी प्राप्ति का प्रकार मैं बतलाता हूँ, सुनो।

इष्ट्वेह देवता यज्ञैःस्वर्लोकं याति याज्ञिकः।
भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान् दिव्यान् निजार्जितान्॥ २३॥

यज्ञ करनेवाला पुरुष यज्ञों के द्वारा देवताओं की आराधना करके स्वर्ग में जाता है और वहाँ अपने पुण्यकर्मों के द्वारा उपार्जित दिव्य भोगों को देवताओं के समान भोगता है।

स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते।
गन्धर्वैर्विहरन् मध्ये देवीनां हृद्यवेषधृक्॥ २४॥

उसे अपने पुण्यों के अनुसार एक चमकीला विमान मिलता है और वह उस पर सवार होकर सुर-सुन्दरियों के साथ विहार करता है। गन्धर्वगण उसके गुणों का गान करते हैं और उसके रूप-लावण्य को देखकर दूसरों का मन लुभा जाता है।

स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किणीजालमालिना।
क्रीडन् न वेदात्मपातं सुराक्रीड़ेषु निर्वृतः॥ २५॥

उसका विमान वह जहाँ ले जाना चाहता है, वहीं चला जाता है और घंटियाँ घनघनाकर दिशाओं को गुञ्जारित करती हैं। वह अप्सराओं के साथ नन्दनवन आदि देवताओं की विहार-स्थलियों में क्रीड़ाएँ करते-करते इतना बेसुध हो जाता है कि उसे इस बात का पता ही नहीं चलता कि अब मेरे पुण्य समाप्त हो जायँगे और मैं यहाँ से ढकेल दिया जाऊँगा।

तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः॥ २६॥

जबतक उसके पुण्य शेष रहते हैं, तबतक वह स्वर्ग में चैन की वंशी बजाता रहता है; परन्तु पुण्य क्षीण होते ही इच्छा न रहने पर भी उसे नीचे गिरना पड़ता है, क्योंकि काल की चाल ही ऐसी है।

यद्यधर्मरतः सङ्गदसतां वाजितेन्द्रियः।
कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः॥ २७॥
पशूनविधिनाऽऽलभ्य प्रेतभूतगणान् यजन्।
नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः॥ २८॥

यदि कोई मनुष्य दुष्टों की संगति में पड़कर अधर्मपरायण हो जाय, अपनी इन्द्रियों के वश में होकर मनमानी करने लगे, लोभवश दाने-दाने में कृपणता करने लगे, लम्पट हो जाय, अथवा प्राणियों को सताने लगे और विधि विरुद्ध पशुओं की बलि देकर भूत और प्रेतों की उपासना में लग जाय, तब तो वह पशुओं से भी गया-बीता हो जाता है और अवश्य ही नरक में जाता है। उसे अन्त में घोर अन्धकार, स्वार्थ और परमार्थ से रहित अज्ञान में ही भटकना पड़ता है।

कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः॥ २९॥

जितने भी सकाम और बहिर्मुख करनेवाले कर्म हैं, उनका फल दुःख ही है। जो जीव शरीर में अहंता-ममता करके उन्हीं में लग जाता है, उसे बार-बार जन्म-पर-जन्म और मृत्यु-पर-मृत्यु प्राप्त होती रहती है। ऐसी स्थिति में मृत्युधर्मा जीव को सुख हो सकता है?

लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम्।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्धपरायुषः॥ ३०॥

सारे लोक और लोकपालों की आयु भी केवल एक कल्प है, इसलिये मुझसे भयभीत रहते हैं। औरों की तो बात ही क्या, स्वयं ब्रह्मा भी मुझसे भयभीत रहते हैं; क्योंकि उनकी आयु भी काल से सीमित-केवल दो परार्द्ध की है।

मूल में जो **पिदर दर** पाठ है, सो पिदर-माने पिता के द्वार पर मत फिर। अर्थात् ऐसा कर, जो माता-पिता का द्वार न देखना पड़े; अर्थात् जन्म-मरण से छूटने का उपाय कर। देवलोक, स्वर्ग, ब्रह्म-लोकादि को तो प्राप्त होकर, वहाँ के भोग भोग करके फिर जन्म लेना पड़ता है; केवल भगवच्चरणारविन्द की भक्ति से ही आवागमन मिटता है। सो सच्छास्त्रों में स्पष्ट लिखा है; वह देख। इसके लिये कहते हैं—**न होहु अंधला**-अर्थात् अंधा मत हो। श्रुति, स्मृति, शास्त्र मनुष्यों के नेत्र कहे हैं। इसके बिना अंधा है। इसलिये इनका विचार कर।

श्रुतिस्मृतिममैव आज्ञा यः उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाछेदी मम द्वेषी मम भक्तो न वैष्णवः॥

श्रुति-स्मृति मेरी ही आज्ञा है, अर्थात् वेद, स्मृति, शास्त्र, पुराणों में जो कुछ लिखा है, वह प्रभु की ही आज्ञा है। भगवान् कहते हैं—आज्ञा को न माननेवाला मेरा शत्रु है, वह न मेरा भक्त है न वैष्णव—साधु। अर्थात् मेरा भक्त, वैष्णव तो मेरी आज्ञा को मानेगा ही, मेरी आज्ञा को मानना ही उसका प्राण है। किन्तु नहीं मानता है, तो उसकी भक्त, वैष्णव में गिनती नहीं है।

श्रुति स्मृति उभे नेत्रे विप्राणां परिकीर्तिते।
एकेन विकलः क्वाणो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः॥

विप्रों—ब्राह्मणों, विद्वानों, तत्त्वज्ञानियों, भक्त-वैष्णवों के दो नेत्र कहे गये हैं। यदि एक को मानता है, तो एक आँख बिना वह काणा है और दोनों को ही नहीं मानता, तो अन्धा है, अर्थात् ज्ञान शक्ति, विवेकशक्ति से रहित है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

गीता १६-२३

जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़कर अपनी इच्छा से आचरण करता है, वह न सिद्धि (अन्तःकरण की शुद्धि) को, न सुख (शान्ति) को और न परम गति को ही प्राप्त होता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

अतः तेरे लिये कर्तव्य-अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है ऐसा जानकर तू इस लोक में शास्त्रविधि से नियत कर्तव्य-कर्म करनेयोग्य है अर्थात् तुझे शास्त्रविधि के अनुसार कर्तव्यकर्म करने चाहिये।

नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये।
तपो दिव्यं पुत्रका ये सत्त्वं शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्॥

भा. ५-५-१

श्रीऋषभदेव जी ने कहा—पुत्रो! इस मर्त्यलोक में यह मनुष्य-शरीर दुःखमय विषयभोग प्राप्त करने के लिये ही नहीं है। ये भोग तो विष्ठाभोजी सूकर-कूकरादि को भी मिलते ही हैं। इस शरीर से दिव्य तप ही करना चाहिये, जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो; क्योंकि इसीसे अनन्त ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है।

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये॥ २॥

शास्त्रों ने महापुरुषों की सेवा को मुक्ति का और स्त्रीसंगी कामियों के संग को नरक का द्वार बताया है। महापुरुष वे ही हैं जो समानचित्त, परमशान्त, क्रोधहीन, सबके हितचिन्तक और सदाचार सम्पन्न हों।

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात् पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥ १८॥

जो अपने प्रिय सम्बन्धी को भगवद्भक्ति का उपदेश देकर मृत्यु की फाँसी से नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

गीता २-४५

वेद तीनों गुणों के कार्य का ही वर्णन करनेवाले हैं, हे अर्जुन! तू तीनों गुणों से रहित हो जा, अर्थात् निष्कामी हो जा, राग-द्वेषादि द्वन्दों से रहित हो जा, निरन्तर नित्य वस्तु-परमात्मा में स्थित हो जा, योग-क्षेम-अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु का रक्षण की चाहना मत कर, अर्थात् मेरे पर ही निर्भर, निश्चिन्त हो जा और परमात्मपरायण हो जा।

मूल-कहिं श्रीहरिदास कर्ता किया सो हुआ सुमेरु अचल चला॥६॥

अर्थ-रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि सब कर्ताओं के कर्ता कर्तामणि ठाकुर-प्रभु श्रीविहारी जी ही हैं। वे जो करते हैं, वही होता है। वही होगा, जो उनकी इच्छा होगी। वे प्रभु-श्रीहरि करने, न करने और करे हुए को भी मेटने में समर्थ है। सदा असम्भव को सम्भव और सम्भव को असम्भव कर देना, उनका सहज खेल है। जो उन्होंने किया वही हुआ। वे जो चाहते हैं, वही कर सकते हैं और करते ही हैं। प्रकृति, काल, कर्म, मन, प्रारब्ध, सब लोक और लोकपाल आदि ईश्वर सब उनके अधीन अनुशासन में रहकर अपने-अपने कार्य में रत हैं। वे सर्व समर्थ प्रभु हैं। जो चाहते हैं, वही कर सकते हैं। सुमेरु पर्वत अचल है, उसको भी चलायमान कर सकते हैं।

भावार्थ—क्योंकि **कर्ता कारयिता च सः।**

कर्ता जो कराते हैं, वही होता है।

कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः।

वे करने, न करने और अन्यथा करने अर्थात् इन दोनों को मेटने में भी समर्थ—स्वतन्त्र शक्तिमान् हैं। किसी कवि ने भी कहा है—

अम्भोधिः स्थलतां स्थलं जलधितां धूलिलवः शैलतां मेरुर्मत्कुणताम्।
तृणं कुलिशतां वज्रं तृणप्रायतां वह्निः शीतलतां हिम दहनतां
मायावि यस्येच्छया लीलादुर्ललिताद्भुतव्यसनिने देवाय तस्मै नमः॥

समुद्र को स्थल—बराबर भूमि बना देना, स्थल—भूमि को समुद्ररूप में परिवर्तन कर देना, धूल के कण को विशाल पहाड़ के रूप में बदल देना, सब पहाड़ों में श्रेष्ठ—ऊँचे सुमेरु पर्वत को खटमल के समान अति अल्प बना देना, तृण—घास के तिनके को वज्र के समान कठोर—तिक्ष्ण बना देना, वज्र को तिनके के समान शक्तिहीन कर देना, प्रचण्ड आग को बर्फ के समान शीतल बना देना और हिम—बर्फ को प्रचण्ड अग्नि के रूप में परिवर्तित कर देना उन मायावी—नटनागर श्रीहरि का बालवत् खेल है। जिनकी लीला सुन्दर, मनोहर एवं जानने में अति कठिन, दुर्लभ है, जो अद्भुत—विचित्र व्यसन—स्वभाव, टेव, आदतवाले हैं एवं जो अपनी इच्छामात्र से ऐसे अद्भुत कार्यों को खेल-खेल में सहज कर देते हैं, उन अद्भुतकर्मा, सर्वसमर्थ, विचित्र लीलाविहारी के श्रीचरणों में बारम्बार नमस्कार है, अर्थात् हम उनकी शरण ग्रहणकर उनका भजन-सेवन करते हैं।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं—

खसमे भावै तित लै धावै।
एकहि सूत्र जगत मनिगन लौं सहज पर्‌यौ चलि आवै॥

प्रभु को जो अच्छा लगता है, जिसको जैसे रखना या चलाना चाहते हैं, उसको वैसे ही ले जाते हैं, वैसे ही चलाते हैं, रखते हैं। जैसे एक सूत्र—धागे में मणिगण—मोतीसमूह पोये रहते हैं और एक क्रम से ही घूमते हैं, इसी प्रकार सम्पूर्ण संसार उनके इच्छासूत्र की धार में—प्रवाह में पड़ा हुआ सहज चला जाता है—चलता रहता है।

जल थल घर बाहिर वन बेहड़ गहि गिरि शिखर चढ़ावै।
सूर स्वतंत्र सुघर यहि मौसर इनहीं पै बनि आवै॥

उनकी अद्भुत कर्म करनेवाली इच्छा ही जीव को अपने कर्मानुसार जल में, थल में, माने भूमि पर, घर में—गृहस्थ में, उससे बाहर बेहड़—भयंकर वन में और पकड़कर पर्वत के शिखर पर चढ़ाती है—भ्रमाती है। वे शूर—माने सर्वसमर्थ महान् शूरवीर और परम स्वतंत्र तथा सुघर-माने अति कुशल-चतुर हैं। यह मौसर—ऐसा सहज प्राप्त अधिकार आप ही में है। आप ही पर ऐसा कार्य बन आता है, अर्थात् आप ही कर सकते हैं।

को माया मन कर्म काल प्रारब्ध न पहुँचन पावै।
सब दिन सब पर सबकौ नियन्ता सबकी नारि नवावैं॥

त्रिगुणात्मिका प्रकृति—माया, मन, कर्म, काल और प्रारब्ध आदि कौन हैं? इनकी क्या! गिनती है? इनकी तो वहाँतक पहुँच ही नहीं है। वे श्रीहरि सब दिन—सदा, नित्य, निरन्तर सबके ऊपर हैं--सबसे श्रेष्ठ हैं और सबके नियन्ता—शासक, स्वामी हैं तथा सबके गर्व को चूर्ण करते हुए सबकी नार—गर्दन को झुकाते हैं, अर्थात् सभी आपके चरणों में शिर झुकाते हैं।

अनजानत मानत नाना मत संसारै भरमावै।
लीला सागर नट नागर अपनी रुचि रमैं रमावैं॥

उनके प्रताप से, उनकी महिमा से जो अनजान हैं—जानते नहीं हैं, वे ही उनसे विमुख अनेक मतों को मानते हैं, अनेक प्रकार

की कल्पना करके संसार को भरमाते हैं—भटकाते रहते हैं। यह सब आपकी लीला ही है। आप लीला के सागर हैं और सकल विद्याओं-कलाओं में परम चतुर नटों में भी श्रेष्ठ नागर—चतुर शिरोमणि हैं। आपकी चेष्टा को कौन जान सकता है? आप अपनी रुचि—इच्छा से ही और अपने से ही लीला—खेल रचते हैं तथा उसमें प्रवेश करके रमण करते हैं और सबको रमण कराते हैं, अर्थात् लीला करते हैं एवं कराते हैं।

भक्तन कौं परकासत यह मत सहै जु स्याम सहावैं।
श्रीबिहारीदास प्रभु कौ रुख लिये सुख दै नाचै गावै॥

जो अपने तन, मन, प्राण सर्वस्व को उन पर निछावरकर, अर्पणकर उनके सुख के लिये सुखपूर्वक भक्ति-भजन-सेवन में तत्पर हैं, ऐसे भक्तों को प्रभु अपना सर्वस्व मानकर उनसे बहुत प्रेम करते हैं। वे भक्तों के सब संकट—विपत्ति दूरकर उन्हें सब प्रकार के सुख देते हैं, उनके प्रेम को पुष्ट करते हैं तथा उनका प्रकाश करते हैं, अर्थात् उनकी कीर्ति को, यश को बढ़ाते हैं, प्रकाश करते हैं। यह उनका मत—विचार, सिद्धान्त, धर्म है, निज सुख है, प्राण है, इष्ट है। ऐसा तो प्रभु का मृदुल, स्नेही, सरस स्वभाव है और भक्तों का सर्वस्व समर्पित, परम निष्काम, तत्सुखभावमय परम प्रेमयुक्त स्वभाव है कि अपने प्रभु का सुख, उनकी इच्छा ही उनका जीवन, सर्वस्व सुख है। अपने इष्ट की इच्छा में ही परम सुख की प्राप्ति है। उनके प्रभु श्यामसुन्दर जैसी भी सुख-दुःखमयी परिस्थिति उत्पन्न करते हैं, उसे कर वे सहर्ष, आनन्दपूर्वक सहजभाव से स्वीकारकर सहन करते हैं। इसमें वे अपने पर अपने प्रभु का बहुत स्नेह, प्रेम का अनुभव करते हैं।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि ऐसे निस्प्रेही, अनुरागी भक्त तो लोक-परलोक की ओर दृष्टि न करते

हुए, लोक-परलोक की परवा न करते हुए अपने प्रभु की रुख-माने रुचि, सुख को लिये हुए उनको सुख देते हुए प्रेम में सबकुछ भूलकर, उन्मत्त होकर नाचते-गाते हैं। भक्त प्रेम में उन्मत्त होकर अपने प्रभु के नाम-गुण को गाता है और प्रेम के आवेश में नाचता है, तो प्रभु को परम सुख होता है। इस प्रकार प्रभु को सुखी देखकर भक्त का प्रेमावेश और भी बढ़ जाता है।

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी कहते हैं-

करता मनि करता सही, करता श्रीहरिदास।
करता सुख इनसौं लहै, महा प्रेम रस रास॥१२॥

वे कर्ताओं-ईश्वरों के मणि-माने श्रेष्ठ हैं और सच पूछो तो सही-माने वास्तविक कर्ता वे ही हैं। क्योंकि सभी उनके अंश-कलामात्र हैं। वे कर्ता कौन हैं? तो कहते हैं-श्रीहरिदास-श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि और उनके हृदय के प्रेम रस की मूर्ति श्रीललितास्वरूप श्रीस्वामी हरिदास हैं। श्रीस्वामी हरिदास जी ऐसे कर्ता है कि सब कर्ताओं के कर्ता भी इनसे नित्यकेलि सुख को प्राप्त करते हैं। वह सुख कैसा है? तो कहते हैं-महाप्रेम रसरासमय-अर्थात् महामाधुर्य प्रेम रसरास-नित्यविहार रसमय सुख है। अथवा वे कर्ता ही महामधुर प्रेम रसरास सुखमय हैं।

इस विषय मे श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी की श्री वचनिका सिद्धान्त का उपदेश है-

सब कर्ता सब संसार के, सब ब्रह्माण्डन के इकठे होयकै शाप दें, पर श्रीविहारी जी सब कर्तान के कर्ता हैं, जो काहू कौं हरि कृपा करैं, ताकौं शाप न लगै।१९।।

हरि ने पालन की टहल विष्णु कौं दई, उत्पत्ति की ब्रह्मा कौं, प्रलय की महादेव कौं, करुणा की सनकादिक कौं। सो सनकादिक करुणा-अवतार हैं। जीवन कौं हरि सौं सन्मुख करि देत हैं।१०१।।

ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, वरुण, कुबेर आदि सबकौं हरि ने एक-एक टहल दई है। ताही पर सब वर्तमान हैं। या जीव कौं एक यही टहल दई है, आप भजन करै, और न करै, (औरन करावै)।१०७॥

उन्हीं सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार श्रीहरि ने नर-शरीरप्राप्त जीव को केवल भजन-ध्यान का कार्य सौंपा है। यही उसके अधिकार की वस्तु है। इसलिये श्रीहरि की शरण में आये हुए जन को अपने प्रियतम श्रीविहारी जी के अतिरिक्त अन्य किसी भी सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। क्योंकि सब दुःखों को दूर करनेवाले, सब सुखों को देनेवाले तथा ज्ञान-वैराग्य-भक्ति देकर परम कल्याण भी वे ही करनेवाले हैं एवं अपने जन का सर्व प्रकार से योग-क्षेम का भार वे ही वहन करनेवाले (ढोनेवाले) हैं। इसलिये शरणागत जन को संसार के पदार्थ रहें या जायँ, इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये, उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये।

श्रीमुनीन्द्रवर्य श्रीनारद जी भक्तिसूत्र में कहते हैं–

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्॥६१॥

शरणागत भक्तजन को लोकहानि-माने संसार के सुख-दुःख आदि की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वह सर्वेश, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, परम करुणामय स्नेही प्रभु के चरणों में अपने आपको तथा लोक (संसार), वेद (परमार्थ) अथवा लोकरीति और वेदरीति सबको अर्पण कर चुका है। उसको तो केवल–

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तैर्भगवानेव भजनीयः॥७९॥

सदा–सब समय सर्व भाव से लोक-परलोक से निश्चिन्त होकर केवल श्रीहरि का भजन ही करना चाहिये। नर-शरीर धारण करने की एकमात्र सार्थकता इसीमें है कि मन, वाणी, कर्म से केवल श्रीहरि का सेवन किया जाय। यही परम पुरुषार्थ है और यह

मनुष्य-देहधारी जीव के अधिकार की बात है। इसीलिये इस अमूल्य जीवन का एकक्षण भी श्रीहरि की सेवा-भजन के अतिरिक्त संसार के कामों में न लगाना चाहिये। क्योंकि संसार के सुख-दुःखादि तो जीव के पूर्वकर्मों के फल हैं। जिनको भोग करने में वह सदा परतन्त्र है। इनकी प्राप्ति या निवृत्ति के लिये प्रयास करना तो अनधिकार चेष्टा ही है। श्रीहरि ने गीता में कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन॥२-४७॥

तेरा कर्तव्य-कर्म करने में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं। कर्म भी फल देने में स्वतन्त्र नहीं हैं। इसमें भी ईश्वर की इच्छा की प्रधानता है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं—

करै जो सकतै के मन मानें।
जब जाकी जैसी तब ताकी तैसिय बरु कै बानें॥

शक्तिवान्—कर्ता, प्रभु के मन में जो अच्छा लगता है, जैसे मन मानता है, जैसी इच्छा होती है, वही करते हैं। जब जिस समय जिसकी जैसी करनी होती है, तब उसकी वैसी व्यवस्था करते हैं। इसमें किसीका बल चलता नहीं है। वे स्वयं बलपूर्वक उस कार्य को बनाते हैं। वे करुणामय हैं। उनके प्रत्येक विधान में—प्रत्येक कार्य में जीव का मंगल ही निहित रहता है।

तऊ न उपजत ज्ञान कथा सुनि वृथा उलटि हठ ठानें।
पावत नहिं विश्राम स्याम कौ बिन प्रताप पहिचानें॥

प्रभु सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। वे सब ईश्वरों के ईश्वर और कालों के काल हैं, इत्यादि उनके अनेक गुण, लीला की कथा सुनकर भी ज्ञान नहीं उपजता, अर्थात् उन्हींको कर्ता, भर्ता, नियन्ता, स्वामी मानकर उनकी शरण होकर भक्ति करना चाहिये, यह तो होता नहीं,

बल्कि अपने अज्ञान से उलटे अनेक प्रकार के कर्म-साधनादि करने का हठ ठानते हैं। कितने ही साधन-बल करते रहो, जबतक श्याम-श्रीहरि-विहारी जी के प्रताप-(सब उन्हींका पसारा है। उनके बिना किसीका अस्तित्व ही नहीं है आदि) को पहिचाने बिना विश्राम-सुख-शान्ति-परम गति नहीं प्राप्त कर सकते।

जाहि निषेधत निन्दत फिर आचरत न लोग लजानें।
अहमक अविवेकी अभिमानी कहि सुनि सबै खिस्यानें॥

अपने ज्ञान-बुद्धि-बल से जिस माया की (असत्, दुःख-दोषमय है आदि) निन्दा करते हैं, फिर अज्ञान से मोहाधीन होकर माया के विकारी कार्यों का आचरण करने में वे लोग लजाते नहीं हैं। वे जड़मति, मूर्ख, नासमझ, विवेकहीन एवं अभिमानी-माने अपने को बहुत समझदार मानते हैं। वे अपने अज्ञान से कहते-सुनते हुए भी वही कर्म करते हैं, जिससे लज्जित होकर खिसियाते-कूढ़ते, खीजते हैं।

मरिवौ रोग वियोग निवारै ताकौ कह्यौ प्रवानें।
ऐसौ सूर श्रीबिहारीदास प्रभु जो भानें गढ़ि जानें॥

उन श्रीहरि की महिमा कैसी है कि जो जन्म-मरणरूप चक्र को, भव-रोग को और अनन्त जन्म से अपने प्रिय-श्रीहरि बिछुड़े हैं, इस वियोग को दूर करते हैं। सब वेद-शास्त्र-पुराण आदि उनका यश गाते हैं, उसका प्रमाण उनमें भरा हुआ है। ये अज्ञ प्राणी उनका यश सुनकर भी उनके श्रीचरणों में नहीं लगते हैं। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं-हमारे प्रभु ऐसे शूर-धीर समर्थ हैं कि जो भानना-माने अपनी समस्त रचनाओ-सृष्टि को नष्ट करना, तोड़ना, प्रलय करना और गढ़ना-माने बनाना, रचना, सजाना जानते हैं। ऐसा और कौन कर सकता है? उन्हीं परम दयालु, परम स्नेही प्रभु की शरण लेकर उनका सेवन-भजन करना चाहिये।

कहैं सुनैं सब कौन हू, करत न देख्यौ कोय।
श्रीबिहारीदास निधरक भयौ, करता करै सो होय॥६८९॥

सब कोई वेद, शास्त्र, पुराण आदि के ज्ञान को समझकर, वक्ता बनकर कहते हैं—सुनाते हैं, समझाते भी हैं और श्रोता बनकर सुनते हैं, समझते भी हैं, किन्तु करते किसीको नहीं देखा। क्योंकि सभी यन्त्रवत् श्रीहरि के अधीन हैं। उनकी कृपा बिना ये कुछ भी नहीं कर सकते। इसलिये गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि मैं उनकी शरण में आकर, उन्हें अपने को सौंपकर निर्भय, निश्चिन्त हो गया। क्योंकि वे सब कर्ताओं के कर्ता हैं। वे जो करेंगे, वही होगा। वे परम कल्याणमय, परम वात्सल्यमय, परम स्नेहमय कर्ता हैं, इससे जो कुछ भी करेंगे, वह कल्याणमय ही होगा।

जाकौं राखै साँवरौ, मारि सकै नहिं कोय।
बार न बाँकौ करि सकै, जो जग बैरी होय॥

जिसकी श्रीहरि—श्यामसुन्दर रक्षा—सम्भाल करते हैं, उसे कोई भी चाहे वह काल ही क्यों न हो, मार नहीं सकता है, तनिक भी कष्ट नहीं दे सकता है। मारने की बात तो दूर रही, उसका एक बाल भी बाँका नहीं कर सकता है, चाहे सारा संसार वैरी क्यों न हो जाय।

क्योंकि वे प्रभु श्रीनित्यविहारी सब कालों के काल, ईश्वरों के ईश्वर हैं। उनके भक्त की ओर कोई कैसे देख सकता है? सिंह के बालक का स्यार—गीदड़ आदि क्या बिगाड़ सकते हैं?

वे सब कालों के काल हैं।

सब कालन कौ काल लोकपालन कौं पालै।
आपुन सदा स्वतन्त्र नियन्ता बुद्धि विसालै॥

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि पहले—**बन्दे अखतियार भला,** इस प्रकार कहकर जीव की स्वतन्त्रता दिखाई, अब—**कर्ता किया सो हुआ,** ऐसे कहकर परतन्त्रता कही, इससे यहाँ विरोधाभास होता है?

इसका परिहार इस प्रकार है कि जो हरिदास (हरि के दास, जन) हैं, वे तो ऐसे ही कहते हैं कि प्रभु ही कर्ता हैं और भगवदीयों के प्रति ही यह वचन है तथा जो बहिर्मुख जीव–स्वतन्त्राभिमानी हैं, उनके प्रति-**अखतियार भला,** यह उपदेश है कि मनुष्य जन्म में जीव को ज्ञान–शक्ति दी है, उससे कर्तव्य–अकर्तव्य के विचार का अख्तियार (अधिकार) है, तो मुक्त होने का उपाय करना चाहिये। इस प्रकार दोनों वचनों का परिहार (निराकरण) हो जाता है।

इसलिये यह जानना चाहिये कि बहिर्मुख जीव की अहंता, ममता, वासना आदि अविद्या के हेतु हैं और हरि–सन्मुख होते ही इन सब दोष–दुर्गुणों की निवृत्ति होकर सद्गुण, सदाचार और प्रेम–भक्ति की प्राप्ति हो जाती है, यही जीव का नित्य, वास्तविक सहजस्वरूप है।

कर्ता कृत जानें नहीं मानें निज करतूत।
ते प्रानी दुख पावहीं लग्यौ अविद्या भूत॥
लग्यौ अविद्या भूत कहै द्विज रक्षा करिहौं।
अर्जुन मेरौ नाम नहीं पावक में जरिहौं॥
कर गहि स्याम बचाय बतायौ जो सिसु हर्ता।
भगवत रसिक नरेस सकल कर्तन कौ कर्ता॥१०॥

संसार की उत्पत्ति, पालन और प्रलय ये सब कर्म सर्वसमर्थ प्रभु के ही हैं। वे ही कर सकते हैं। सभी जीवमात्र यन्त्रवत् श्रीहरि के अधीन हैं। जिसमें कुछ भी रूप, गुण, बल और बुद्धि आदि की विशेषता दिखती है, वह श्रीहरि से ही है, उन्हीं की दी हुई है और वे ही करा रहे हैं। उनकी करतूत–क्रिया, कर्म को जो अपना लेता है, वे ही कर्तापन के अभिमान में आकर दुःख पाते हैं। क्योंकि उन्हें अविद्या (अज्ञान) रूप भूत ने ग्रस लिया है।

इसी अविद्यारूप भूत ने एक बार भगवान् की लीला से भगवान् के परम प्रिय भक्तराज अर्जुन को ग्रस लिया। वे इसी अविद्या-भूत के आवेश में आकर कहने लगे—इस ब्राह्मण के बालक की मैं रक्षा करूँगा। मेरा नाम वीर शिरोमणि अर्जुन है। यदि ऐसा नहीं कर पाऊँ तो अग्नि में जलकर भस्म हो जाऊँगा। तब भक्तवत्सल, करुणा-स्नेह के धाम श्रीहरि ने ही उनकी रक्षा की और हाथ पकड़कर ले गये और बताया कि शिशुओं को हरनेवाले ये हैं।

श्रीभगवतरसिक जी कहते हैं कि रसिक-अनन्यों के नृपति श्रीललितास्वरूप श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज या रसिक-अनन्यों के जीवन-सर्वस्व प्राणेश्वर श्रीकुंजविहारी और कुंजविहारिणी ही समस्त कर्ताओं के कर्ता—शासक, स्वामी, सर्वस्व हैं। उन्हीं की सर्वात्मा से शरण लेकर भक्ति करनी चाहिये। उन्हीं को सुख पहुँचाने में ही जीवन की सफलता है।

-: इति षष्ठ (६) पद का भावार्थ :-



अथ सप्तम पद—अवतरण

भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥

भा. २-२-३४

भगवान् ब्रह्मा ने एकाग्र चित्त से सारे वेदों का तीन बार अनुशीलन करके अपनी बुद्धि से यही निश्चय किया कि जिससे सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम प्राप्त हो, वह सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः॥३५॥

समस्त चर-अचर प्राणियों में उनके आत्मारूप से भगवान् श्रीकृष्ण ही लक्षित होते हैं, क्योंकि ये बुद्धि आदि दृश्य पदार्थ उनका अनुमान करानेवाले लक्षण हैं, वे इन सबके साक्षी—एकमात्र द्रष्टा हैं।

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम्॥३६॥

परीक्षित्! इसलिये मनुष्यों को चाहिये कि सब समय और सभी स्थितियों में अपनी सम्पूर्ण शक्ति से भगवान् श्रीहरि का ही श्रवण, कीर्तन और स्मरण करें।

शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या॥

भा. ४-२२-२१

शास्त्र जीवों के कल्याण के लिये भलीभाँति विचार करनेवाले हैं; उनमें आत्मा से भिन्न देहादि के प्रति वैराग्य तथा अपने आत्मस्वरूप निर्गुण ब्रह्म में सुदृढ़ अनुराग होना—यही कल्याण का साधन निश्चित किया गया है।

सा श्रद्धया भगवद्धर्मचर्यया जिज्ञासयाऽऽध्यात्मिकयोगनिष्ठया।
योगेश्वरोपासनया च नित्यं पुण्यश्रवःकथया पुण्यया च॥२२॥

शास्त्रों का यह भी कहना है कि गुरु और शास्त्र के वचनों में विश्वास रखने से, भागवतधर्मों का आचरण करने से, तत्त्वजिज्ञासा, से, ज्ञानयोग की निष्ठा से, योगेश्वर श्रीहरि की उपासना से, नित्यप्रति पुण्यकीर्ति श्रीभगवान् की पावन कथाओं को सुनने से।

अर्थेन्द्रियारामगोष्ठ्यतृष्णया तत्सम्मतानामपरिग्रहेण च।
विविक्तरुच्या परितोष आत्मन् विना हरेर्गुणपीयूषपानात्॥

जो लोग धन और इन्द्रियों के भोगों में ही रत हैं, उनकी गोष्ठी में प्रेम न रखने से, उन्हें प्रिय लगनेवाले पदार्थों का आसक्तिपूर्वक संग्रह न करने से, भगवद्गुणामृत का पान करने के सिवा अन्य समय आत्मा में ही सन्तुष्ट रहते हुए एकान्त सेवन में प्रेम रखने से।

अहिंसया पारमहंस्यचर्यया स्मृत्या मुकुन्दाचरिताग्र्यसीधुना।
यमैरकामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया निरीहया द्वन्दतितिक्षया च॥२४॥

किसी भी जीव को कष्ट न देने से, निवृत्तिनिष्ठा से, आत्महित का अनुसन्धान करते रहने से, श्रीहरि के पवित्र चरित्ररूप श्रेष्ठ अमृत का आस्वादन करने से, निष्काम भाव से यम-नियमों का पालन करने से, कभी किसीकी निन्दा न करने से, योगक्षेम के लिये प्रयत्न न करने से, शीतोष्णादि द्वन्दों का सहन करने से।

हरेर्मुहुस्तत्परकर्णपूरगुणाभिधानेन विजृम्भमाणया।
भक्त्या ह्यसङ्गः सदसत्यात्मनि स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाञ्जसा रतिः॥२५॥

भक्तजनों के कानों को सुख देनेवाले श्रीहरि के गुणों का बार-बार वर्णन करने से और बढ़ते हुए भक्तिभाव से मुनष्य का कार्य-कारणरूप सम्पूर्ण जड़ प्रपंच से वैराग्य हो जाता है और आत्मस्वरूप निर्गुण परब्रह्म में अनायास ही उसकी प्रीति हो जाती है।

प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्॥

भा. ५-५-६

अत: जबतक उसकी मुझ वासुदेव में प्रीति नहीं होती, तबतक वह देह-बन्धन से छूट नहीं सकता।

इन वचनों से प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, वही श्रीस्वामी जी महाराज उपदेश कर रहे हैं।

पद- राग-आसावरी

हित तौ कीजै कमलनैन सौं जा हित के आगे
और हित लागै सब फीकौ।
कै हित कीजै साधु संगति सौं ज्यौं कल्मष जाइ सब जी कौ॥
हरि कौ हित ऐसौ जैसौ रंग मजीठ
संसार हित रंग कसूँभ दिन दुती कौ।
कहिं श्रीहरिदास हित कीजै श्रीबिहारी जू सौं
ओर निबाहु जानि जीकौ॥७॥

अर्थ–कमल के समान हैं नेत्र जिनके, ऐसे कमलनयन श्रीविहारी जी, उन्हींसे ही हित–प्रेम–सम्बन्ध करना चाहिये। जा हित–श्रीविहारी जी की जिस प्रीति के आगे और हित–माने और समस्त सांसारिक प्रीति फीकी–तुच्छ, नीरस, अनिष्ट को देनेवाली होती हैं। श्रीहरि से जो हित–प्रेम है, वह परम पुरुषार्थ का दाता है।

कै–माने या, अथवा उन्हींके स्वरूपभूत प्रेम में रंगे हुए साधु-संतों की संगति से प्रेम करना चाहिये। ज्यौं–माने जिससे-अर्थात् महात्माओं के संग प्रेम करने से जिय–हृदय का कल्मष–सब पाप-ताप दूर होते हैं।

श्रीहरि–श्रीविहारीजी में किया हुआ हित-नाम प्रेम है, वह मजीठ के रंग के समान टिकाऊ-नाम सदा स्थायी है, अर्थात् कभी छूटता नहीं है और संसार सम्बन्धी जो हित–प्रेम है, सो कुसुंभ के

रंग के समान अस्थिर है, क्षणिक है, अर्थात् धूप लगने से ही दो दिन में उड़ जाता है।

रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं के हित-प्रेम तो एकमात्र श्रीविहारी जी से ही करना चाहिये। वही परम कल्याणकारी है। उन्हीं को ओर-नाम अन्ततक जीव का निबाहु-नाम निबाहनेवाले (निर्वाह करनेवाले) जान। अर्थात् उन्हीं से प्रेम करने से जीव का निर्वाह है। संसारी जीव अन्ततक निर्वाह नहीं कर सकते हैं। उनकी तो स्वल्पकाल की मित्रता होती है। इसलिये संसार से सम्बन्ध छोड़ और श्रीविहारी जी से हित कर।

मूल-हित तौ कीजै कमलनैन सौं जा हित के आगे
और हित लागै सब फीकौ।

अर्थ-यदि हित-माने प्रेम करना है तो एकमात्र कमल के समान नेत्र हैं जिनके, उन्हीं कमलनयन-श्रीविहारी जी से ही करना चाहिये। जिनके (श्रीविहारी जी के) हित-प्रेम के आगे और सब हित फीका-तुच्छ, नीरस और अनिष्ट को देनेवाला है।

भावार्थ-हित-शब्द से दास्य, वात्सल्य, सख्य, मधुर और महामधुरादि भाव भी वर्णन किये हैं। इसलिये किसी भी प्रकार से प्रभु-श्रीहरि से ही हित-प्रेम करना चाहिये। कहा है-

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषे लेढि हेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्॥

भा. ३-२५-३८

जिनका एकमात्र मैं ही प्रिय, आत्मा, पुत्र, गुरु, सुहृद् और इष्टदेव हूँ, वे मेरे ही आश्रय में रहनेवाले भक्तजन शान्तिमय वैकुण्ठ धाम में पहुँचकर किसी प्रकार भी इन दिव्य भोगों से रहित नहीं होते और न उन्हें मेरा कालचक्र ही ग्रस सकता है।

इमं लोकं तथैवामुमात्मानमुभयायिनम्।
आत्मानमनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः॥३९॥
विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम्।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये॥४०॥

माता जी! जो लोग इहलोक, परलोक और इन दोनों लोकों में साथ जानेवाले वासनामय लिङ्गदेह को तथा शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले जो धन, पशु एवं गृह आदि पदार्थ हैं, उन सबको और अन्यान्य संग्रहों को भी छोड़कर अनन्य भक्ति से सब प्रकार मेरा ही भजन करते हैं, उन्हें मैं मृत्युरूप संसारसागर से पार कर देता हूँ।

हित अर्थात् प्रेम करनेयोग्य तो श्रीविहारी जी ही हैं। कारण कि जिन-जिन मनोरम विषयों या गुणों की ओर जीव का खिंचाव होता है, वह समग्र (सम्पूर्ण) रूप से श्रीविहारी जी में ही विद्यमान है। यदि नेत्र सुन्दर रूप को चाहते हैं तो श्रीविहारी जी निखिल सौन्दर्य-माधुर्य रसामृतसिन्धु हैं। उस रूपसिन्धु की छोटी-सी बूँद के कण से अगणित कामदेवों की सृष्टि होती है। उस रूपराशि की थोड़ी (तनिक) झलक मिल जाय तो फिर नेत्र दूसरी ओर नहीं जा सकते। यदि नासिका सौरभानन्द के लिये लालायित है तो श्रीविहारी जी का श्रीअंग ही सम्पूर्ण परिमल सार की अनन्त राशि है। उसी दिव्य सुगन्धराशि की एक छोटी-सी कणिकामात्र से समस्त पुष्प तथा कुमकुम (केशर), मृगमद (कस्तूरी), घनसार (कपूर) आदि में सुगन्ध की अभिव्यक्ति होती है। यदि एकबार उन श्रीअगों की सुवास नासिका को मिल जाय तो फिर किसी सुगन्धित द्रव्य की ओर उसका कोई आकर्षण नहीं रह सकता।

यदि मधुर शब्दलिप्सु श्रवण श्रीविहारी जी की मधुरतम स्नेहगर्भित वाणी तथा परम मोहिनी सुधामयी मुरली की तान,

अथवा आभूषणों की मधुर झंकार–ध्वनि सुन पायें तो फिर संसार की कोई भी स्वरलहरी उसके लिये रुचिकारी नहीं हो सकती। यदि मधुररसलुब्ध रसना को श्रीमुख की जूठन–प्रसादी का आस्वाद मिल जाय तो फिर संसार के सभी स्वाद सीठे–नीरस तथा हेय (तुच्छ) प्रतीत हो जायँ। स्पर्शइन्द्री–त्वचा श्रीविहारी जी के परम कमनीय, मनोहर तथा परम मृदुल श्रीअंगों के स्पर्शसुख का अनुभव कर ले तो फिर किसी अन्य स्पर्श के लिये कभी चंचल न होगी।

रसिक-अनन्य मुकुटमणि गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज निकुंजरहस्यरस अनुभवप्राप्त अपनी मत्तदशा का वर्णन करते हुए अपने अनुगत रसिक-अनन्यजनों को उस विचित्र रसमत्त दशा का स्वरूप समझा रहे हैं।

यातें सीस नवै नहीं, होत दरस बिच हानि।
श्री बिहारीदास सौं जिनि कहौ, कोऊ कुमति कुबानि॥६३५॥

उनके महामाधुर्यमय रूप-सौन्दर्य के दर्शन करने में हमारे नेत्र अटके हैं। एक निमिष (पल) मात्र का भी अन्तर सह नहीं सकते। फिर शिर झुकाने में तो रूप-दर्शन की बहुत हानि है। इसलिये रसमत्तदशा में शिर झुकता नहीं है, प्रणाम नहीं कर पाते हैं। इसलिये श्रीबिहारीदास सों (हमसों) कोई कुमति–खोटी बुद्धि या कुबानि–खोटी आदतवाले मत कहो।

श्रवन सुजस रस रमि रह्यौ, इनहिं न और सुहाय।
परम नरम रस रीति पद, प्रीति प्रतीति हिताय॥६३६॥

हमारे कानों में श्रीयुगलकिशोर के महामधुर नित्यविहार के रस का परम मधुर सुयश रसामृत रम रहा है। अब इन्हें और कुछ भी सुनना सुहाता नहीं है। इनकी तो मान, विरह, भ्रम, तम, श्रम और मिलन-बिछुड़न आदि भावों से रहित अति शुद्ध, अति मृदु-परम

नरम रसरीति–केलि विहारमय जो पद हैं–श्रीस्वामी जी महाराज एवं श्रीगुरुदेव के, उन्हीं में प्रीति–सुदृढ़ प्रेम और प्रतीति–सुदृढ़ निष्ठा है तथा हमें वे ही हितकर–सुखकर और प्रिय लगते हैं।

गौर स्याम अंजन अँजीं, अँखियाँ आनन्द रूप।
पलकनि में झलकत रहैं, दोऊ सुखद स्वरूप॥६३७॥

हमारी आँखों में गौर-श्याम–प्रिया-लालरूप अंजन अँजा हुआ है। उसी गौर-श्याम के रस माधुर्यरूप अंजन से सनी होने से अँखियाँ दिव्य-चिन्मय नित्य केलिमय प्रेमरसानन्दरूप बन गई हैं। जैसे आँखों में अंजन लगाने से वह नेत्रों के भीतर भी रम जाता है और बाहर भी दिखता है। इसी प्रकार महामधुर रस विहारस्वरूप युगलकिशोर का परम मधुररसमय सुखदायी स्वरूप आँखों के भीतर भी रमा हुआ ही है और पलकों में भी वही झलकता रहता है। उनके अलावा कुछ भी दृष्टि में नहीं आता। अथवा हमारी अँखियाँ ऐसी सुखद स्वरूपवाली बन गईं कि पलकों की झलकद्वारा एवं संकेत से परम रसविलासी गौर-श्याम को भी सुख देती हैं-विहार रस प्रदान करती हैं।

नासा यहि सौरभ सुखी, अंग संग (अंग) कौ उद्‌गार।
याहि यहै याही ग्रहै, याकौ यहै आहार॥६३८॥

हमारी नासिका यही सौरभ (सुगन्ध) जो प्रिया-लाल श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि के अंग-अंग अथवा अंग-अंग के संग से प्रकट हो रही है, उसीमें परम सुखी है। यह सुगन्ध इसी नासिका (ऐसे भाववाली नासिका) के लिये ही है तथा ऐसी नासिका ही ऐसी सुगन्ध को ग्रहण करती है, कर सकती है। इसका यही विषय है एवं इसका आहार भी यही है, अर्थात् यही जीवन-सर्वस्व है।

रसना रस परसाद बस, हरि जस प्रेम प्रवीन।
स्वाद बाद नीरस किये, रसिक किये आधीन॥६३९॥

रसना–जीभ–इन्द्री के दो गुण हैं, एक, स्वाद लेना ज्ञान–इन्द्री का गुण है और दूसरा, कर्म–इन्द्री का गुण बोलना है। सो श्रीहरि के प्रसाद-रस को प्राप्तकर यह उसी रस के वश हो गई, उसे और कुछ भी सुहाता नहीं है और वाक्-इन्द्री श्रीहरि-युगलवर के महामधुर प्रेमरस के यश वर्णन करने में प्रेम में अति प्रवीण हो गई। अर्थात् रसयश के वर्णन में अति प्रवीणतापूर्वक प्रेम में मग्न हो गई। इसीलिये इसी रस के बल पर उसने जितने भी स्वाद हैं, उनको घट–तुच्छ, नीरस कर दिये और जितने वाद-विवाद-माने चर्चाएँ हैं, उन्हें रस चर्चा के आगे तुच्छ, नीरस–सारहीन कर दीं। तथा इसी श्रीहरि के रस-यश के वर्णन के प्रेम ने चतुरशिरोमणि रसिक–रसिक-अनन्यजनों को अपने अधीन (वश में) कर लिया, अथवा रसिक–रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदासजी महाराज को वश कर लिया। या रसिक-अनन्यजनों के जीवन-प्राण-सर्वस्व युगल–रस-विलासी किशोरी-किशोर को वश कर लिया।

भूलि तुचा परसै नहीं, जाके देह न गेह।
श्रीबिहारीदास हरिदास सौं, हियै सु सहज सनेह॥६४०॥

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि त्वचा-इन्द्री का धर्म स्पर्श करने का है। परन्तु मेरे तन की त्वचा किसीको स्पर्श नहीं करती, अर्थात् किसीके देह का स्पर्श नहीं करती। क्योंकि उसकी देह सों गेह–गहावट-ग्रहण करने का स्नेह है ही नहीं। अथवा देह और गेह–घर आदि सब नाशवान्, क्षणभंगुर और असत्य हैं; उसे इनको ग्रहण करने का, स्पर्श करने का स्नेह ही नहीं है। उसके हृदय में तो सहज–स्वाभाविक, नित्य स्नेह तो परम गुरु रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज और प्रिया-लाल तथा हरिदास–रसिक-अनन्य महानुभावों से और उनकी चरण-रज

के स्पर्श–सेवन करने से ही है। उसे अन्य किसीके देह को स्पर्श करने का काम ही नहीं है।

इस प्रकार गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणदेव जी महाराज ने अपनी सब इन्द्रियों की रसमत्त–दशा का अनन्य व्रत वर्णन करते हुए जिज्ञासुओं को अपनी इन्द्रियगण और मन को वश करके दृढ़निष्ठा और विश्वासपूर्वक भजन करने का उपदेश आगे कर रहे हैं।

पाँच दुगुन दस बस करै, मन सु बिहारिनिदास।
मिलै अनन्य सतसंग सौं, भजन बढ़ै बिस्वास ॥६४१ ॥

पाँच के दुगुण–दस–पाँच ज्ञान–इन्द्रीं और पाँच कर्म–इन्द्रीं तथा इन सबका सरदार, मुखिया ग्यारहवाँ मन, इन सबको जो वश करे, वही श्रीविहारी–विहारिणि का दास है। जबतक इनको वश में नहीं कर सके, तबतक विहारिणिदास होने में कमी–कसर जानना चाहिये। जिस समय मन–इन्द्रियों को वश में करके अनन्य–सत्संग में मिलकर बैठेगा, तभी इसका भजन तथा विश्वास बढ़ेगा। अथवा बड़ा भजन विश्वास ही है, वह तभी वृद्धि पायेगा, जब यह अनन्यजनों (महानुभावों) का सत्संग करेगा। वह अनन्यों का सत्संग तभी बनेगा, जब इसके मन–इन्द्रीं वश में हों और अनन्य धर्म में विश्वास करे।

आगे श्रीगुरुदेव जी कह रहे हैं कि दृढ निष्ठा और विश्वास सहित प्रेमपूर्वक भजन में लग जाय, तो करुणामय, परम स्नेही श्रीहरि कृपा करके प्रेमरस प्रदान कर उसका निर्वाह कर लेते हैं। इसी भाव को अपनी रसमत्तदशा के वर्णन द्वारा दर्शा रहे हैं।

अँखियाँ भूलीं कौतुक स्याम।
नव निकुंज बिहरत वृन्दावन गुन निधान वर बाम॥
श्रवननि सुजस सुन्यौ भावत रसना गावत गुन नाम।
मनहू कौ मन मोद बढ़ायौ अंग अंग अभिराम॥

विवस भये रस परस परायन सबनि बिसारे धाम।
काहू कछू सँभार न तन की जात न जानत जाम॥
निडर भये संग डोलत मेटत लोक वेद की माम।
श्रीबिहारीदास देखत हू तृपति न इहि सुख सदा सकाम॥४५॥

परम गुरु श्रीस्वामी जी, श्रीगुरु और श्रीप्रिया-लाल ने कृपा करके निकुंज महल में निकट वास दे दिया। अब हम दिव्य परम माधुर्य रस का सेवन करके रसोन्मत्त रहते हैं। अब हमारी अँखियाँ श्याम–रसविलासी श्रीकुंजविहारी के अद्भुत, विचित्र क्रीड़ा–कौतुक (खेल) को देखने में निमग्न हो गईं। उन्हें अन्य कुछ भी सुध ही नहीं रहती। वे श्यामसुन्दर अद्भुत शोभा-माधुरी के धाम श्रीवृन्दावन-नव निकुंज में सौन्दर्य, माधुर्य, केलि-कला आदि दिव्य अद्भुत गुणों की निधि वर–अति श्रेष्ठ वाम–नित्य नव किशोरी नव दुलहिनि श्रीकुंजविहारिणि लाड़िली के संग अद्भुत क्रीड़ा-विहार करते हैं।

तथा हमारे श्रवण तो उनके मृदु मधुर रसमय सुयश को सुनने में विभोर-उन्मत्त हैं। उन्हें नित्य यही सुनना सुहाता है और कुछ भी प्रिय नहीं लगता। हमारी रसना उनके मधुर, मृदु पीयूषवर्षी गुण और नाम के गान में निमग्न, तल्लीन है। उनके अंग-अंग की अभिरामता–रमणीय सौन्दर्य-माधुर्य ने मन के मन में–वृत्तियों में दिव्य प्रेम-रसानन्द माधुर्यमय मोद-आनन्दामृत की वर्षा करके सराबोर–रसविभोर, उन्मत्त कर दिया। अब तन, मन, प्राण, सर्वस्व उस मधुर रसविवश–अधीन और रस–प्रेमरसानन्द का स्पर्श–आस्वादन करके तो परायण–तत्पर, आरूढ़, तल्लीन हो गये। जिन-जिनको यह दशा प्राप्त हुई, वे सभी रस विवश, मुग्ध, तन्मय होकर अपने धाम–घर, निवासस्थान को ही भूल गये।

इस प्रकार रस की मादकता में किसीको भी अपने तन–शरीर की कुछ भी सम्भाल रही नहीं है। वे तन के निर्वाह की स्वाभाविक

क्रियाओं को भी भूल गये और दिन के याम--पहर, घड़ी, पल कब बीत गये, वे यह सब जाते–बीतते जान भी न पाये। श्रीनवलकिशोरी लाड़िली जी के कृपा-रस ने उन्हें ऐसे उन्मत्त, विवश, असावधान कर दिया। परन्तु शरीर-संसार से असावधान–बेसुध होने पर भी अपने निज इष्ट के सेवा-सुख को नहीं भूले। उसे कैसे भूलते? उसी रस का तो नशा, मद है, वही उनके प्राणों का प्राण है। उसी रस की आसक्ति में माया-काल से निडर होकर अपने प्राण-प्रियतम जीवन-सर्वस्व प्रिया-लाल श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि एवं अंगसंगिनी सखियों के संग--वन-वन में डोलते--विचरण करते हैं।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि सदा नित्य उनके संग सेवा-सुख में रहकर रूप-माधुरी-केलि-माधुरी को देखते--पान करते हुए और लोक तथा वेद की माम--आसक्ति, ममता, बल, मर्यादा को मेटकर भी तृप्ति नहीं होती, वह दिन-दिन, क्षण-क्षण बढ़ती ही जाती है। इसलिये हम सदा--नित्य इस अद्भुत मधुर सुख के सकाम--अत्यन्त आतुरतापूर्वक चाहनेवाले परम प्रेमी बने रहते हैं।

आगे और भी समझाते हुए कह रहे हैं कि संसार में जो कुछ भी सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम, स्नेह, ऐश्वर्य, धन, भोग, सुख आदि देखे-सुने जाते हैं या उनके सम्बन्ध में ऊँची से ऊँची कल्पना की जाय, तो वह भी सब उन समस्त सद्गुणगणाकर श्रीहरि के एक छुद्र अंश की भी समानता को प्राप्त नहीं हो सकती। इसी कारण श्रीस्वामी जी महाराज अपने अनुगतजनों को उपदेश करते हैं कि श्रीविहारी जी सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, अचिन्त्य, अनन्त गुणसम्पन्न भक्तवांछाकल्पतरु, सच्चिदानन्द घन हैं। इसलिये उन्हीं अपने हितू श्रीविहारी जी में ही प्रीति होनी चाहिये।

प्रीति अपनत्व ही में होती है। एकमात्र श्रीविहारी जी ही अपने हैं। उन्हीं से हमारी जाति की एकता है। वे सच्चिदानन्द घन हैं तो हम

सच्चिदानन्द कण हैं। वे सिन्धु हैं तो हम बिन्दु हैं। संसार में तो भ्रमवश मानी हुई एकता है। वास्तव में उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रीति वही सार्थक होती है जो दिन-प्रतिदिन बढ़ती रहती है। दिन-प्रतिदिन प्रीति उसीसे बढ़ सकती है जो सम्बन्धी स्वाधीन, स्वतन्त्र और विभु (व्यापक, महान्, सर्वसमर्थ, सर्वस्वामी और परम प्रेमपूर्ण) हो। संसार की प्रत्येक वस्तु—धन, जन, मान, सन्तान, मित्र, कलत्र (स्त्री), सत्ता आदि नाशवान् और कालाधीन हैं। इनसे प्रीति करनेवाले तो सदा से ही विलाप ही करते चले आये हैं। इसलिये प्रीति करनेयोग्य केवल श्रीविहारी जी हैं। उन्हीं से सुदृढ़ अनन्य प्रीति करनी चाहिये।

अपने हरि भजि प्रान पियारे।
ममता काल ब्याल भूल्यौ तू बड़ौ निलज मतवारे॥
अपने जाये जारे जीवत जिन जायौ ते जारे।
डार चढ़्यौ पेंडे काटत तू क्यौं जीहै दई मारे॥
मोह करत जे द्रोह करत हैं ते सत्रु मित्र विचारे।
तिनकौ संग करि करि न तज्यौ तैं जन्म अनेक बिगारे॥
जम कौ श्रम जागत नहिं सोवत राखत नर्क उघारे।
श्रीबिहारीदास ह्वै सक्यौ न सठ हम कहि कहि हित हठि हारे॥९४॥

श्रीआचार्यचरण समझा रहे हैं—अरे प्राणी! अरे जन! अपने प्राण प्यारे हरि—श्रीविहारी जी, जो सदा-सर्वदा संग रहते हैं, हृदय में ही निवास करते हैं, ऐसे प्राणप्रियतम प्रभु को भज, उनका प्रेमपूर्वक भजन-सेवन कर। शरीर, घर, परिवार और पुत्र-कलत्रादि में तू ममता करके मोह में विवश हो रहा है, कालरूप ब्याल—महासर्प (अजगर) को भूल गया, वह मुँह फैलाये हुए निगलने को तैयार है। तू बड़ा निर्लज्ज है। शास्त्र और संत पुकार-पुकारकर बार-बार चेतावनी दे रहे

हैं, समझा रहे हैं, फिर भी तू चेतता—सावधान होता नहीं है। तू मतवाला हो रहा है। मोह—मदिरा ने तुझे मतवाला कर दिया है, जिससे अपनी सुध भूल गया, हित—अहित का कुछ भी ज्ञान रहा नहीं।

तू देखता नहीं है, तूने अपने जीते हुए ही अपने जाये—पैदा किये हुए को जला दिये और जिन—माता-पिता ने जायो—पैदा किया, उन्हें भी जला आया। काल-बली सबको खा गया। अबभी तू अपने को स्थिर—अमर मानता है। यह तेरा मनोरथ ऐसा है, जैसे तू पेड़ की डाल पर चढ़कर पेंड़—माने तने को ही काट रहा हो। तू कैसे जीवेगा? तू तो मर जायेगा। अरे दईमारे! यह गाली है, माने विधाता का मारा हुआ। अर्थात् विधाता ने तेरे भाग्य में यही लिख रखा है, उसने तूझे पहले ही मार रखा है। अब सावधान हो! चेत! अपने प्राणप्रियतम प्रभु को पहचानकर सुदृढ़ अनन्यभाव से भक्ति कर।

तू जानता नहीं है! जो मोह—माने प्रेम करते हैं, अपना मानकर प्यार करते हैं, प्रेम का व्यवहार करते हैं, वे वास्तव में तुझसे प्रेम नहीं करते, वे तो शत्रुता करते हैं। शत्रु किसे कहते हैं, जो हानि पहुँचाये, घात करे, वैर करे, वह शत्रु होता है। सो संसार के जन हमसे मोह—प्रेम करके प्रभु से विमुखकर माया-मोह-आसक्ति में फँसाकर नरक का अधिकारी बनाते हैं, तो प्रेम करते हैं कि वैर करते हैं? प्रेम का स्वरूप है—अपने प्रेमी को सुख पहुँचाना, उसका हित करना। सो सुख और हित तो प्रभु की सन्मुखता में है। वे यह तो करते नहीं हैं। इसलिये उनका मोह—प्रेम करना द्रोह के समान है। इसी प्रकार संसार में जो तुमसे शत्रुता करते हैं, बुरा व्यवहार करते हैं, हानि पहुँचाते हैं, वे तुम्हारे सच्चे मित्र हैं। क्योंकि प्रतिकूलता से मन दुःखी होकर प्रभु की शरण लेता है, उनकी याद करता है, यह तो उन्होंने बहुत भला किया। मित्र वही जो मित्र को सुख पहुँचाये,

मित्र का हित करे। इस प्रकार वे शत्रु तो प्रभु के सन्मुख करनेवाले मित्र के समान हुए। तूने ऐसा मर्म समझकर अपने प्रभु की भक्ति तो करी नहीं, इसके विपरीत (उलटा) संसारासक्त जो जन–बन्धु-बान्धव, परिवार आदि हैं, उनका संग बार-बार कर-कर के हानि-दुःख सहकर के भी उनका संग छोड़ा नहीं। उस संग के फलस्वरूप तूने इसी प्रकार अनेक जन्म बिगाड़ दिये और इसे भी (इस जन्म को भी) बिगाड़ रहा है।

मूढ़! तू जानता नहीं है, जो माया को अपनी मानकर उसका उपभोग–सेवन करने के मोह में फँसे हुए हैं, ऐसे हरि-विमुख प्राणियों के लिये यम–माने यमराज का श्रम–माने कष्ट, यातना सदा तैयार–उपस्थित है। अर्थात् यमराज अपने स्वामी–श्रीहरि की आज्ञा को पालन करते हुए पापी प्राणियों को यातना कष्ट, पीड़ाद्वारा शुद्ध करने के लिये सदा तत्पर–तैयार रहते हैं। वे सदा जागते हुए सावधान रहते हैं, कभी भी सोते नहीं, माने प्रमाद नहीं करते। वे सदा रात-दिन नरक का द्वार उघारे–माने खुला रखते हैं। अर्थात् सदा-सर्व समय नरक-भोग (यातना) भोगने के लिये तैयार है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि हम हित की बात, हित–कल्याण के उपदेश को हठ–आग्रहपूर्वक कह-कहकर सुना-सुनाकर हार गये–थक गये, किन्तु यह शठ–मूर्ख, मूढ़, अब भी चेतकर–सावधान होकर–अपने हित-अहित (कल्याण-अकल्याण) का विचारकर, सब कुछ त्यागकर श्रीविहारीजी का दास नहीं हो सका, उनकी भक्ति में न लग सका। यह कितने दुर्भाग्य की बात है।

आशय यह है कि विवेक, वैराग्य, भक्ति-भावपूर्वक अपने प्राणप्यारे प्रभु से प्रेम करने में तत्पर, तल्लीन हो जाना चाहिये। यह सबका परम कर्तव्य है।

सब तजि भजि परमारथै सेवत सुख लीजै।
बहुत गयौ थोरौ रह्यौ ताहू में दिन दिन छीजै॥
जब न लगै जल काल कुटिल तौलौं जानत जीजै।
यह तन काँचे कलस लौं विनसै ज्यौं भीजै॥
अपने हरि हितु जानि तिनसौं कछु कपट न कीजै।
जिन सौंप्यौ धन ज्ञान प्रान मन तिनही कौं दीजै॥
प्रीति प्रतीति करत हरि परचौ करि लीजै।
श्रीबिहारीदास परचौ भये हँसि मिलै न खीजै॥३४॥

श्रीआचार्यचरण कह रहे हैं—परमार्थ—परमधन-श्रीहरि का प्रेमरस तभी प्राप्त होगा, जब लोक-परलोक, तन-मन आदि के सब सुखों को छोड़कर परमार्थ—परम धन श्रीहरि को श्रद्धा-विश्वास से प्रेमपूर्वक भजोगे, भक्ति करोगे। श्रीहरि का भजन ऐसा दिव्य कल्पतरु है कि सेवन करते ही—भजन करते ही सुख की प्राप्ति होती है। इस तरह सेवन करके सुख प्राप्त करो। तुम शरीर और संसार के सुख—कर्मों में उलझ रहे हो, तुम्हें खबर नहीं है कि तुम्हारा जीवन बहुत-सा चला गया—बीत गया, अब थोड़ा रहा है, वह भी दिन-दिन—क्षण-क्षण क्षीण हो रहा है—घट रहा है। इसे कैसे रोक सकते हो?

इस क्षणभंगुर, असत्य शरीर में तुम्हारी आसक्ति है, वह तुम्हारा दु:खदायी भ्रम ही है। क्योंकि यह पांचभौतिक तन (शरीर) तो मिट्टी के कच्चे घड़े के समान है। वह तभीतक सुरक्षित है, जबतक जल नहीं लगता—जल का स्पर्श नहीं होता। वह जल के लगते ही—भीजते ही नष्ट हो जाता है। ऐसे ही इस शरीर को तभीतक जीवित जानो—इसमें प्राण जानो, जबतक कुटिल--वक्र, टेढ़ा, भयंकर कालरूप जल इसे नहीं लगता। उसके लगते ही—स्पर्श करते ही जीवन-लीला समाप्त हो जायगी, फिर तुम पछताने के सिवा और क्या कर सकते हो?

इसलिये अभी से चेतो—जागो, सावधान होओ और विषयों से मुख मोड़कर प्रभु की भक्ति का सेवन करो। अपने प्रभु—श्रीहरि की भक्ति में रुचि, दृढ़ता बढ़े, इसलिये जो अपने श्रीहरि के हितु—प्रेमी संत-भक्तजन हैं, उनसों सच्चा प्रेम करो, उनका प्रेमपूर्वक संग करो, उनसे कुछ भी कपट—छिपाव, छल न करो। जिन परम दयालु, परम स्नेही श्रीगुरुजन ने तुम्हें श्रीहरि की महिमा, तत्त्वज्ञानरूप धन सौंपा है—दिया है, उनसे कपट की बात तो दूर, अपना प्राण, मन उन्हींको दे देना चाहिये, उन्हींके चरणों में सर्वस्व सौंपकर आज्ञा में रहते हुए उनकी सेवा में तत्पर, आरूढ़ रहना चाहिये।

ऐसा प्रेम संत—श्रीगुरु चरणों में करोगे, तब तो श्रीहरि श्रीयुगलवर अति प्रसन्न होकर तुम्हें अपना मानेंगे कि यह तो अब हमारा हो गया, हमारा ही है, ऐसा मानकर प्रीति और प्रतीति—दृढ़ विश्वास करेंगे। श्रीआचार्यचरण कहते हैं कि विश्वास करने के लिये इस बात का परचा—जाँच-पड़ताल, अनुभव कर लो। अर्थात् जब तुम उनसे प्रेम करोगे, तो वे तुमसे दूना, कई गुना प्रेम करेंगे। क्योंकि भक्त उनके प्राण हैं। भक्तों के प्रति उनका अति वात्सल्य है।

श्रीगीता जी में कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥४-११॥

हे पृथानन्दन—अर्जुन! जो भक्त जिस प्रकार (जिस भाव से) मेरी शरण लेते हैं (मुझे भजते हैं), मैं भी उन्हें उसी प्रकार से भजता हूँ (आश्रय देता हूँ), क्योंक सभी मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं।

रास में भगवान् कहते हैं—

जो तू आवै एक पग, तो मैं आऊँ पग साठ।
जो तू कररौ काठ सो, तो मैं लोहे की लाठ॥

यदि तू मेरे सन्मुख (अपनी शक्ति अनुसार) एक पग आता है, तो मैं (परम करुणामय, अनन्त शक्ति सम्पन्न) साठ (अगणित) पग आता हूँ और यदि तू काठ–लकड़ी जैसे कड़ा–कठोर बन जाता है, तो मैं लोहे की लाठी के समान अति कठोर बन जाता हूँ।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि हमें तो उनका परचा–परीक्षण, अनुभव प्राप्त हो गया। क्या हुआ कि वे बिना खीजे–माने हमारे गुण–दोष या व्यवहार को देखने से खीजे नहीं, अप्रसन्न नहीं हुए, बल्कि उन्होंने हमें प्रेमपूर्वक रीझकर गले से लगा लिया, अपने संग रख लिया।

इसलिये ऐसे परम करुणामय, परम प्रेमी श्रीहरि से ही अनन्य प्रेम करना चाहिये।

यदि ऐसा न कर सको या ऐसा करने में त्रुटि हो, तो श्रीस्वामी जी महाराज आगे समझा रहे हैं।

मूल–कै हित कीजै साधु संगति सौं ज्यौं कल्मष जाइ सब जी कौ।

अर्थ–कै नाम–अथवा साधुओं-संतों की संगति–साथ, सत्संग से प्रेम करना चाहिये। ज्यौं–नाम जिससे अर्थात् महात्माओं के संग से प्रेम करने से जिय–हृदय का कल्मष–पाप-दोष, अशुभ वासनाएँ सब प्रकार से दूर होती हैं, नष्ट होती हैं।

भावार्थ–पहले चरण में कमलदललोचन श्रीहरि–श्रीविहारी जी के प्रति प्रेम करने का उपदेश करके अब उसके आधारस्वरूप सत्संग पर जोर दे रहे हैं। क्योंकि प्रेमीभक्तजनों का निरन्तर संग करने से ही हृदय का कल्मष–अशुभ वासनाएँ सब प्रकार से नष्ट हो जाती हैं और श्रीहरि में अचल–उत्तम प्रेम भक्ति प्राप्त हो जाती है।

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥

भा. १-२-१८

जब श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्भक्तों के निरन्तर सेवन से अशुभ वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति स्थायी प्रेम की प्राप्ति होती है।

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्दसौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः॥

भा. ४-९-१२

कमलनाभ प्रभो! जिनका चित्त आपके चरणकमल की मकरन्द की सुगन्धि में लुभाया हुआ है, उन महापुरुषों का जो जन संग करते हैं, वे भी उससे इतने मग्न हो जाते हैं कि उनको अपने इस प्रिय शरीर और सम्बन्धी—पुत्र, कलत्र, मित्र, धन और घर आदि की कुछ भी सुधि नहीं करते। अर्थात् कल्मषरूप विषयों का स्मरण ही छूट जाता है।

सत्संग की महिमा को वर्णन करते हुए कह रहे हैं—

राजोवाच—

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं किं जन्मभिस्त्वपरैप्यमुष्मिन्।
न यद्धृषीकेशयशःकृतात्मनां महात्मनां वः प्रचुरः समागमः॥

भा. ५-१३-२१

राजा रहूगण ने कहा—अहो! समस्त योनियों में यह मनुष्य-जन्म ही श्रेष्ठ है। अन्यान्य लोकों में प्राप्त होनेवाले देवादि उत्कृष्ट जन्मों से भी क्या लाभ है, जहाँ भगवान् हृषीकेश के पवित्र यश से शुद्ध अन्तःकरणवाले आप—जैसे महात्माओं का अधिकाधिक समागम नहीं मिलता।

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभिर्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला।
मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः॥२२॥

आपके चरणकमलों की रज का सेवन करने से जिनके सारे पाप-ताप नष्ट हो गये हैं, उन महानुभावों को भगवान् की

विशुद्ध भक्ति प्राप्त होना कोई विचित्र बात नहीं है। मेरा तो आपके दो घड़ी के सत्संग से ही सारा कुतर्कमूल अज्ञान नष्ट हो गया है।

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्॥

भा. ३-२५-२०

विवेकीजन संग या आसक्ति को ही आत्मा का अच्छेद्य बन्धन मानते हैं; किन्तु वही संग या आसक्ति जब सन्तों-महापुरुषों के प्रति होती है, तो मोक्ष का खुला द्वार बन जाती है।

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजाशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥ २१ ॥

जो लोग सहनशील, दयालु, समस्त देहधारियों के अकारण हितू, किसीके प्रति भी शत्रुभाव न रखनेवाले, शान्त, सरल स्वभाव और सत्पुरुषों का सम्मान करनेवाले होते हैं।

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढ़ाम्।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥ २२ ॥

जो मुझमें अनन्य भाव से सुदृढ़ प्रेम करते हैं, मेरे लिये सम्पूर्ण कर्म तथा अपने सगे-सम्बन्धियों को भी त्याग देते हैं।

मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गचेतसः ॥ २३ ॥

मेरे परायण रहकर मेरी पवित्र कथाओं का श्रवण और कीर्तन करते हैं तथा मुझमें ही चित्त लगाये रहते हैं, उन भक्तों को संसार के तरह-तरह के ताप कोई कष्ट नहीं पहुँचाते हैं।

त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥ २४ ॥

साध्वि! ऐसे-ऐसे सर्वसंग परित्यागी महापुरुष ही साधु होते हैं, तुम्हें उन्हींके संग की इच्छा करनी चाहिये; क्योंक वे आसक्ति से उत्पन्न सभी दोषों को हर लेनेवाले हैं।

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥ २५॥

सत्पुरुषों के समागम से मेरे पराक्रमों का यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानों को प्रिय लगनेवाली कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करने से शीघ्र ही मोक्षमार्ग में श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का क्रमशः विकास होगा।

भगवान् भक्त के सर्वथा अधीन रहते हैं। वे परम भक्तवत्सल हैं। वे भक्तों को प्राणों से भी अति प्रिय मानते हैं।

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

भा. ९-४-६३

श्रीभगवान् ने कहा—दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तों के अधीन हूँ। मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे सीधे-सादे सरल भक्तों ने मेरे हृदय को अपने हाथ में कर रखा है। भक्तजन मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे।

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥ ६४॥

ब्रह्मन्! अपने भक्तों का एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ। इसलिये अपने साधु-स्वभाव भक्तों को छोड़कर मैं न तो अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्द्धाङ्गिनी विनाशरहित लक्ष्मी को।

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥ ६५॥

जो भक्त स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक, सबको छोड़कर केवल मेरी शरण में आ गये हैं, उन्हें छोड़ने का सङ्कल्प भी मैं कैसे कर सकता हूँ।

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥६६॥

जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्य से सदाचारी पति को वश में कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदय को प्रेम-बन्धन से बाँध रखनेवाले समदर्शी साधु भक्ति के द्वारा मुझे अपने वश में कर लेते हैं।

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्॥६७॥

मेरे अनन्यप्रेमी भक्त सेवा से ही अपने को परिपूर्ण—कृतकृत्य मानते हैं। मेरी सेवा के फलस्वरूप जब उन्हें सालोक्य, सारूप्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, तब वे उन्हें भी स्वीकार करना नहीं चाहते; फिर समय के फेर से नष्ट हो जानेवाली वस्तुओं की तो बात ही क्या है।

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्योमनागपि॥६८॥

दुर्वासा जी! मैं आपसे और क्या कहूँ, मेरे प्रेमी भक्त तो मेरे हृदय हैं और उन प्रेमी भक्तों का हृदय स्वयं मैं हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानते तथा मैं उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता।

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एतस्य च्छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥

भा. ११-२६-२६

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि पुरूरवा की भाँति कुसंग छोड़कर सत्पुरुषों का संग करे। संत पुरुष अपने सदुपदेशों से उसके मन की आसक्ति नष्ट कर देंगे।

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥ २७॥

संत पुरुषों का लक्षण यह है कि उन्हें कभी किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं होती। उनका चित्त मुझमें लगा रहता है। उनके हृदय में शान्ति का अगाध समुद्र लहराता रहता है। वे सदा-सर्वदा सर्वत्र सबमें सब रूप से स्थित भगवान् का ही दर्शन करते हैं। उनमें अहङ्कार का लेश भी नहीं होता, फिर ममता की तो सम्भावना ही कहाँ है। वे सर्दी-गरमी, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में एकरस रहते हैं तथा बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक और पदार्थ-सम्बन्धी किसी प्रकार का भी परिग्रह नहीं रखते।

तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः।
सम्भवन्ति हिता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम्॥ २८॥

परम भागवान् उद्धव जी! संतों के सौभाग्य की महिमा कौन कहे? उनके पास सदा-सर्वदा मेरी लीला-कथाएँ हुआ करती हैं। मेरी कथाएँ मनुष्यों के लिये परम हितकर हैं; जो उनका सेवन करते हैं, उनके सारे पाप-तापों को वे धो डालती हैं।

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः।
मत्पराः श्रद्दधाना भक्तिं विन्दन्ति ते मयि॥ २९॥

जो लोग आदर और श्रद्धा से मेरी लीला-कथाओं का श्रवण, गान और अनुमोदन करते हैं, वे मेरे परायण हो जाते हैं और मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि॥ ३०॥

उद्धव जी! मैं अनन्त अचिन्त्य कल्याणमय गुणगुणों का आश्रय हूँ। मेरा स्वरूप है—केवल आनन्द, केवल अनुभव, विशुद्ध आत्मा। मैं साक्षात् परब्रह्म हूँ। जिसे मेरी भक्ति मिल गयी, वह तो संत हो गया। अब उसे कुछ भी पाना शेष नहीं है।

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥ ३१॥

उनकी तो बात ही क्या—जिसने उन संत पुरुषों की शरण ग्रहण कर ली, उसकी भी कर्मजड़ता, संसारभय और अज्ञान आदि सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। भला, जिसने अग्निभगवान् का आश्रय ले लिया, उसे शीत, भय अथवा अन्धकार का दु:ख हो सकता है?

निमज्जोन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सुमज्जताम्॥ ३२॥

जो इस घोर संसारसागर में डूब-उतरा रहे हैं, उनके लिये ब्रह्मवेत्ता और शान्त संत ही एकमात्र आश्रय हैं, जैसे जल में डूब रहे लोगों के लिये दृढ़ नौका।

अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम्।
धर्मोवित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥ ३३॥

जैसे अन्न से प्राणियों के प्राण की रक्षा होती है, जैसे मनुष्य के लिये परलोक में धर्म ही एकमात्र पूँजी है, वैसे ही जो लोग संसार से भयभीत हैं, उनके लिये संतजन ही परम आश्रय हैं।

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥ ३४॥

जैसे सूर्य आकाश में उदय होकर लोगों को जगत् तथा अपने को देखने के लिये नेत्रदान करता है, वैसे ही संत पुरुष अपने को तथा भगवान् को देखने के लिये अन्तर्दृष्टि देते हैं। सन्त अनुग्रहशील देवता

हैं। सन्त अपने हितैषी सुहृद् हैं। संत अपने प्रियतम आत्मा हैं। और अधिक क्या कहूँ, स्वयं मैं ही संत के रूप में विद्यमान् हूँ।

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥

भा. १०-५१-५४

अपने स्वरूप में एकरस स्थित रहनेवाले भगवन्! जीव अनादिकाल से जन्ममृत्युरूप संसार के चक्कर में भटक रहा है। जब उस चक्कर से छूटने का समय आता है, तब उसे सत्संग प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि जिस क्षण सत्संग प्राप्त होता है, उसी क्षण संतों के आश्रय, कार्य-कारणरूप जगत् के एकमात्र स्वामी आप में जीव की बुद्धि अत्यन्त दृढ़ता से लग जाती है।

श्रीहरि के भक्त श्रीहरि-स्वरूप हैं।

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्॥४१॥

-श्रीनारद भक्ति सूत्र

श्रीहरि में और उनके भक्तों में भेद नहीं है।

तदेवसाध्यतां तदेवसाध्यताम्॥४२॥

अतएव उसी महत्संग की ही साधना करो। उसीकी ही साधना करो।

भक्ति भक्त अरु भागवत, ये निजु भगवंत ही जानि।
श्रीबिहारीदास यह भाव भजि, और सबै मत हानि॥५९१॥

भक्ति, भक्त अरु भागवत (भक्त का-भगवान् का चरित्र) ये भगवान् श्रीहरि के निजु (मुख्य, खास) रूप ही जानो-समझो। अर्थात् भक्ति, भाव, भक्त और भगवान् एक ही स्वरूप हैं, एक ही हैं। इनका अविनाभाव सम्बन्ध है। अर्थात् प्रभु से अपनत्व का भाव जुड़ते ही भक्ति हृदय में प्रकट होकर निवास करने लगती है और जहाँ भाव-भक्ति प्रकट हुई कि वहाँ भगवान् प्रेमपूर्वक आ विराजते

हैं। गुरुदेव श्रीस्वामी विहारिणिदेव जी कहते हैं कि भक्ति, भाव और भागवत ये भगवान के ही निज–मुख्य स्वरूप हैं। इनमें एकत्व भाव रखकर तन, मन, प्राण, सर्वात्मा से सदा-निरन्तर प्रेमपूर्वक इन्हें भजो–सेवन करो। इस भाव के बिना और सभी मत-माने विचार, सिद्धान्त हानि करनेवाले हैं। अर्थात् इन उपरोक्त सिद्धान्त-विचारों के बिना, इस रीति के बिना अपने में भाव, भक्ति, प्रेम की कल्पना कर लेना भूल है, बहुत हानिकर है।

भक्ति समाई भाव में, भक्तनि में भगवान।
श्रीबिहारीदास साँची कहै, श्रीभागवत प्रमान॥५९२॥

भक्ति–भाव में समाई हुई है, अर्थात् अपने अहं-मम को सर्वथा त्यागकर इस मैं–मेरेपन को भगवान् से जोड़ो–वे मेरे ही हैं और मैं उनका ही हूँ, मैं सदा संग रहकर उनकी सेवा करूँगा, यही मेरा जीवन-सर्वस्व है। इस प्रकार सम्बन्धपूर्वक भाव में भक्ति समाई हुई है। अर्थात् जहाँ ऐसा भाव प्रकट हुआ कि भक्ति स्वतः ही प्रकट हो जायगी। सर्वेन्द्रिय, सर्वात्मा की वृत्तियाँ तीव्र-गति से भगवान् में लग जायेंगी। जहाँ इस प्रकार की भक्ति है, वहीं भगवान् का निवास है। अर्थात् भक्तों के हृदय को छोड़कर भगवान् एक निमिष भी इधर-उधर जाते नहीं है। वही उनका सुखमय विश्रामस्थल बन जाता है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि मैं यह अनुभवसहित सत्य कह रहा हूँ। इसमें श्रीभागवत ही प्रमाण है। श्रीभागवत में भक्त-भगवान् की एकता–प्रेम-सम्बन्ध का बहुत विशेष वर्णन है।

सत्संग की महिमा को वर्णन करते हुए शौनकादि ऋषि परमभक्त सूतजी से कहते हैं–

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

भगवत्संगी प्रेमीभक्तों के निमेषमात्र के संग की तुलना स्वर्गादि की तो बात ही क्या, पुनर्जन्म का नाश करनेवाली मुक्ति के साथ भी नहीं की जा सकती। फिर मृत्युलोक के राज्यादिक सम्पत्ति की तो बात ही क्या है?

भगवान् श्रीउद्धव जी से कहते हैं–

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥१॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥

भा. ११-१२-२

प्रिय उद्धव! जगत् में जितनी आसक्तियाँ हैं, उन्हें सत्संग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्संग जिस प्रकार मुझे वश कर लेता है, वैसा साधन न योग है न सांख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय। तपस्या, त्याग, इष्टापूर्त और दक्षिणा से भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता। कहाँतक कहूँ–व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्संग के समान मुझे वश में करने में समर्थ नहीं हैं।

अब सन्तों के लक्षण गिनाते हैं।

इतने गुन जामें सो सन्त।
श्रीभागवत मध्य जस गावत श्रीमुख कमला कन्त॥
हरि कौ भजन साधु की सेवा सर्व भूत पर दाया।
हिंसा लोभ दम्भ छल त्यागै विष सम देखै माया॥
सहन सील आसय उदार अति धीरज सहित विवेकी।
सत्य वचन सबकौं सुखदायक गहि अनन्य व्रत एकी॥

इन्द्रीजीत अभिमान न जाके करै जगत कौं पावन।
भगवत रसिक तासु की संगति तीनौं ताप नसावन॥

श्रीहरि के समान ही उनसे अभिन्न भक्त-संतजन अनन्तगुणों के निधि होते हैं। निम्नलिखित उनके कुछ गुण वर्णन किये हैं। श्रीआचार्यचरण कह रहे हैं—जिसमें इतने गुण होते हैं, वह हरि का प्यारा संत है। १. श्रीहरि का भजन—मन, वचन, कर्म, सर्वात्मा से सदा-सर्वदा प्रेमपूर्वक श्रीहरि के भजन-सेवन में तत्पर रहना—लगे रहना।

२. साधु की सेवा—श्रीहरि से अभिन्न, उनका स्वरूप जानकर साधु-संतों की विशेष सेवा करना।

३. सर्वभूत पर दाया—प्राणीमात्र को श्रीहरि का अधिष्ठान-माने निवासस्थान जानकर उनकी स्नेहपूर्वक सेवा करना, उन्हें सुख पहुँचाना।

४. हिंसा—दूसरे को कष्ट देने का स्वभाव। भक्त सबमें अपने प्रभु को देखता है, इसलिये वह हिंसा दोष—अवगुण को सर्वथा त्याग देता है।

५. लोभ—भगवान् ने जितना भी दिया बहुत दिया, उससे अधिक को चाहना—इच्छा, तृष्णा होना लोभ है। भक्त लोभ को पाप का मूल और श्रीहरि से विमुख करनेवाला जानकर त्याग देता है।

६. दम्भ—भीतर कुछ-बाहर कुछ, अर्थात् अपने वास्तविक रूप को छिपाकर बाहर कुछ बनना, अपने में गुण-स्वभाव न होने पर भी बाहर वैसे ही बनकर दिखाने को दम्भ कहते हैं। भक्त में सरलता गुण-माने भीतर-बाहर एकसा, इस गुण की विशेषता होती है; इसलिये यह अवगुण उससे सहज ही छूट जाता है।

७. छल—किसीको धोखा देना, छिपाव करके ठगना। यह अवगुण तो भक्त से कोसों दूर रहता है। क्योंकि वह अपने प्रभु को सर्वमय देखता हैं और सबको अपने प्रभु का जन ही मानता हैं, फिर वह किससे छल करे? इस तरह सभी दोषों को वह त्याग देता है।

८. विष सम देखै माया–विशेषकर स्त्री और धन तथा शरीर के विषयसुखों एवं संसारमात्र को भयंकर विष के समान–कल्याणरूप, भक्तिरूप प्राणों को लेनेवाले के रूप में देखता है।

९. सहनशील–जो भी सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान, रोग-भोग आदि द्वन्द्व प्राप्त होते हैं, वे प्रारब्धवश अवश्य भोगनीय हैं या अपने करुणामय, भक्तवत्सल, प्रेम के समुद्र प्रभु के कृपामय-मंगलमय विधान से आये हैं, उनको सहन करना हमारा धर्म है, सहज स्वभाव है, यह हमारी तपस्या है, ऐसे जानकर भक्त सहनशील बन जाता है।

१०. आशय उदार अति–भक्त का हृदय अत्यन्त उदार–दयालु होता है। क्योंकि वह अपना सर्वस्व अपने प्रभु को सौंप चुका है। जो कुछ अपने पास है, सब उनका ही है और सर्वमय प्रभु हैं तथा सब उन्हीं के जन हैं, इस भाव से सबकी सेवा करना, सबको सुख देना, यह उदार गुण भक्त में विशेष होता है।

११. धीरज सहित–साधन-भजन आदि कर्म करने में धैर्य की परमावश्यकता है। क्योंकि विपरीत, विघ्नकारी परिस्थितियों में भजन-साधन के सहयोगी अंगों को ग्रहण करना तथा भजन-साधन भी सतत–निरन्तर, आदरसहित और दीर्घकालतक सेवन करते रहने से दृढ़ भूमि–माने हृदय स्वच्छ होकर भगवत्-प्राप्तियोग्य बनता है इत्यादि; इन सबमें धैर्य की परमावश्यकता है। यह वैराग्य, त्याग बिना नहीं होता और विवेक बिना वैराग्य हो नहीं सकता। इसलिये आगे विवेक का वर्णन कर रहे हैं।

१२. विवेकी–भक्त में वस्तुनिष्ठा–स्वरूपनिष्ठा के होने से सदा तत्त्व-अतत्त्व, धर्म-अधर्म आदि का विवेक जाग्रत रहता है। इसलिये भक्त महाविवेकवान् होता है।

१३. सत्य वचन–भक्त में भक्तिनिष्ठा और भगवत्तत्त्व की सहज निष्ठा होने से वह भीतर-बाहर से सरल–एक-सा होता है, इसलिये उसकी वाणी सत्यनिष्ठ होती है।

१४. सबकौं सुखदायक—भक्त के लिये प्राणीमात्र उसके प्रभु के स्वरूप अथवा प्रभु के जन हैं, इसलिये वह सबको सुख देनेवाले स्वभाववान् होता है, वह चाहे शत्रु ही क्यों न हो।

१५. गहि अनन्य व्रत एकी—अपने इष्ट के एकव्रत को अनन्य भाव से ग्रहण किये रहना, अर्थात् मन, वचन, कर्म, सर्वात्मा से सदा-सर्वदा अपने इष्ट के भजन-सेवन करने के एकव्रत को प्राण-सर्वस्व मानकर अनन्य भाव से ग्रहण करनेवाला। यह भक्त का निजगुण है।

१६. इन्द्रीजीत—भक्त आँख, कान, नाक, रसना और त्वचा (स्पर्श-इन्द्री) तथा हाथ, पाँव, जीभ (रसना और वाक्-स्वाद लेने और बोलनेवाली इन्द्री), उपस्थ (जननेन्द्रिय) एवं पायु (शौचद्वार) ये दस इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन, इन ग्यारह इन्द्रियों को वश में किये रहनेवाला होता है। इन्द्रीजीत हुए बिना तो भक्ति-साधन बनता ही नहीं है। इसलिये भक्त मनसहित सब इन्द्रियों को अपने इष्ट के स्वरूप-सेवन में लगाये रखता है। यह उसका स्वभाव ही बन जाता है।

१७. अभिमान न जाके—इन सब भक्तिसम्पन्न गुणों से युक्त होने पर भी भक्त अभिमानशून्य होता है। अभिमान होना अज्ञान का लक्षण है। भक्त में अज्ञान होता नहीं है; क्योंकि भक्त के हृदय में अपनी इष्ट-वस्तु का सदा सेवन होने से सदा-सर्वदा परम ज्ञान-विवेक जाग्रत रहते हैं। इससे भक्त में कर्ता-भोक्तापन होता ही नहीं है। वह हमेशा अपने नित्य चिन्मयस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। तथा सबकुछ अपने प्रभु का ही खेल है, वह इस भाव का द्रष्टा होता है, फिर स्वरूपनिष्ठाशून्य अन्य भाव (अभिमान आदि) कैसे जाग्रत हों?

ऐसा भक्त अपने दर्शन, स्पर्श, सम्भाषण आदि से सम्पूर्ण जगत् को पावन करता है। गंगादि तीर्थों से भी भक्त की स्थिति, भक्त का संग परम पावन, परम मंगलमय अतिश्रेष्ठ होता है।

श्रीस्वामी भगवतरसिक जी कहते हैं कि ऐसे भक्त की संगति तीनों तापों (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) को नष्ट करनेवाली है। इसलिये ऐसे भक्त का ही संग करना चाहिये।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं—

तिनकौ संग करि हरिदासनि कौ जिन तन ताप सिरानी।
तिनके गुन गावन पावन पथ श्रीमुख सुक व्यास बखानी॥

उन श्रीहरि के प्रिय हरिदासों—भक्तों का संग करो, जिन्होंने तन की ताप को शीतल कर लिया है, अर्थात् जीवभाव को त्याग श्रीहरि की सेवा के रस में मग्न हो गये हैं। उनके गुणों का गाना—वर्णन करना, कथन करना ही परम पावन पथ—मार्ग है। यह भक्ति-पथ सर्वोत्तम मार्ग है। इनके गुणों का वर्णन स्वयं मुनिवर्य श्रीशुकदेव जी और श्रीव्यास जी ने भी अपने ग्रन्थ भागवत आदि में किया है।

ऐसे भगवद्-अनुरागी भक्त-सन्तों का संग करके प्रभु की परम प्रेममयी भक्ति को प्राप्त करना चाहिये।

आवत भगवत भक्ति निधि जहँ मैं मेरी नाहिं।
पोषत अपनौ जानि सब बँधे न काहू माहिं॥
बँधे न काहू माहिं स्याम स्यामा गुन गावैं।
अनइच्छित जग रीति प्रीति रस रीति लड़ावैं॥
गुन तें न्यारे रहत सहत जो स्याम सहावत।
वल्लभ जीवन जुगल भक्ति भगवत जब आवत॥१७॥

श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं कि भगवत्—श्रीहरि की सब सुखों, गुणों, रसानन्द की निधि—कोश (खजाना, खानि) भक्ति वहीं आती है, उसी हृदय में आती है, जहाँ मैं-मेरी नहीं है, अर्थात् मैं-मेरापन नहीं है। क्योंकि मैं-मेरापन ही संसार है, श्रीहरि की विमुखता है।

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी कहते हैं–

सोई जगत जो जानि, जाकौं मैं मेरी लगी।
रसिकनि की यह बानि, मैं मेरी करि लाड़िली॥४१३॥

जिसको मैं–मेरी–मैं–मेरापन का रोग लग गया, वही संसार है। अर्थात् जो संसार है, वह तो श्रीहरि का खेल है, उनकी माया का विलास है। मैं–मेरी का भ्रमरूप रोग ही संसार का दृश्य उत्पन्न करता है। प्रेमी–रसिक भक्तजनों ने इस मैं–मेरी–मैं–मेरापन के भाव को मोड़कर श्रीलाड़िली से जोड़ दिया। अर्थात् नित्य धाम श्रीवृन्दावन निकुंज मन्दिर में अपने प्रियतम श्रीकुंजविहारी के संग विचित्र रस विहार विहरनेवाली श्रीकुंजविहारिणि में इस मैं–मेरेपन के भाव को दृढ़ कर दिया। अर्थात् मैं सदा लाड़िली-किशोरी के संग, उनकी सेवा में तत्पर रहनेवाली सहचरी–दासी हूँ और वे लाड़िली ही मेरी स्वामिनी सर्वस्व हैं।

श्रीभगवतरसिक जी कहते हैं कि चिन्मय सुख, प्रेमरसानन्द निधि भक्ति के आने का सहज–सरल उपाय है–मैं-मेरेपन को श्रीहरि से जोड़ देना। हृदय में श्रीहरि के अलावा अन्य के प्रति किंचित् भी मैं–मेरापन का भाव या चिन्तन न रहे।

जिनका अपने प्रियतम श्रीहरि में मैं–मेरापन दृढ़ हो गया और उनकी भक्ति प्राप्त कर ली, उनका अपने सहजस्वभाव के अनुरूप व्यवहार होता है कि संसार में छोटे-बड़े, अपने–पराये आदि सबको अपना जानकर (क्योंकि वे सब अपने प्रियतम प्रभु श्रीहरि के हैं) पोषते हैं–यथायोग्य प्रेमपूर्वक सेवा करते हैं, सुख देते हैं; किन्तु किसीके बंधन में बँधते–माने आसक्त नहीं होते, प्रेम–मोह के बंधन में नहीं बँधते। इस तरह वे निर्द्वन्द्व, निष्किंचन, निष्परिग्रह और उदास होकर प्राणप्रियतम, सर्वस्व श्रीवृन्दावनचन्द्र परम रस

विलासी श्रीश्यामा-श्याम के दिव्य महामधुर रसरीतिमय परमोज्ज्वल गुणों को गाते हैं और रसिकजनों से सुनते हैं। इस तरह वे दिव्य प्रेमामृतरस सिन्धु में सदा निमग्न रहते हैं।

इसी उज्ज्वल रस-प्रेम के प्रभाव से प्रेम-रस के अलावा अन्य से उन्हें महान् विरक्ति–उपरति होती है, जिससे वे संसार-रीति से अनइच्छित–इच्छाशून्य–उपरत रहते हैं। जो भी सुख-दुःख, शुभ-अशुभ व्यवहार आदि प्राप्त हो रहे हैं, उसके वे द्रष्टा होते हैं। किन्तु उनकी सहज, अत्यन्त, प्रीति दम्पती–युगलकिशोर की नित्य क्रीड़ा की रसरीति के लाड़ लड़ाने में होती है। दम्पती की नित्य केलि रसरीति का सेवन करना, संवर्धन करना, लड़ाना; यही उनका जीवन-सर्वस्व परम फल है।

ऐसे प्रेमी–अनुरागी रसिक-भक्तजन संसार के गुणों में रहकर भी जल-कमलवत् सांसारिक गुणों से सर्वथा न्यारे रहते हैं। तथा अपने प्रभु-श्यामसुन्दर जो सहाते हैं–माने प्रकृति में (संसार में) जो भी शुभ-अशुभ, सुख-दुःख आदि प्राप्त होते हैं, उन्हें उनका ही दिया हुआ मंगल-विधान जानकर अति प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेते हैं। इष्ट का सुख ही उनका सुख होता है।

इस प्रकार उनका सरस व्यवहारमय जीवन बन जाता है। हे बिहारीवल्लभ-जीवन जुगल! तभी युगलकिशोर, जीवनवल्लभ, भगवत्–श्रीविहारी जी की सरस भक्ति-निधि आवत–हृदय में आती है, प्राप्त होती है।

महान्त श्रीस्वामी किशोरदास जी कहते हैं–

कर्ण चक्षु नासा मुख अंगा। इन्द्रीं पाँच रहत नित संगा॥
रज सत तम की उठत तरंगा। काम क्रोध मद उदित उतंगा॥
महा मोह लोभादिक प्रेरे। तब परि जात विषय के घेरे॥
जो कहुँ सन्त लेत निज संगा। तिनकौं लगत न तनकहुँ रंगा॥
ता बल तें भव तम तरि जावै। अखिल पतित हरिपद कौं पावैं॥

यह जीव पंचभौतक शरीर में आकर अन्त:करण में घिर गया। आँख, कान, नाक, रसना (जीभ) और शरीर (स्पर्श इन्द्री) ये पाँचों इन्द्रियाँ सदा संग रहती हैं। इस शरीररूप भवसमुद्र में रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण की प्रबल ऊँची-ऊँची तरंगें–लहरें उठती रहती हैं। जिनमें काम, क्रोध, मद आदि प्रबल–भारी मगर, मच्छ आदि प्रकट होते हुए आक्रमण करते हैं। जब महामोह–लोभ आदि की प्रबल वेगशाली तरंगें उठती हैं, तब मन्द बुद्धि, शक्तिहीन यह जीव विषयरस के घेरे–भँवर-चक्कर में पड़ जाता है। फिर अपने बल से निकलना अति कठिन है। यदि करुणामय श्रीहरि की अकारण कृपा से उनके प्रिय सन्त मिल जायँ और करुणा करके अपने संग रख लें, तो उन बड़भागीजनों को इस प्रबल विषय-मोहमयी माया-प्रवाह का तनिक भी (अल्प-अणुमात्र भी) रंग नहीं लग सकता। वे उसी संत-संग (सत्संग) के बल से अज्ञान-अंधकाररूप भवसागर से तर जाते हैं। श्रीआचार्यचरण कहते हैं कि ऐसे एक नहीं, अखिल–सम्पूर्ण पतित भी सत्संग के बल से हरि-पद–श्रीहरि के चरणों को या श्रीहरि के धाम को प्राप्त कर लेते हैं।

अमल होत सतसंग तें, सूद्र स्वपच जवनादि।
श्रीसतगुरु की सरन गहि, पावत धाम अनादि॥

प्रेमी महानुभाव सन्तजनों के संग से पतित, अन्त्यज जीव–शूद्र, श्वपच, यवन आदि भी निर्मल–मल-पापरहित होकर परम धाम के अधिकारी बन जाते हैं। यदि यह जीव श्रीसद्‌गुरु की शरण प्राप्त कर ले, तब तो नित्य अनादि परम चिन्मय धाम को सहज ही प्राप्त कर लेता है।

मूल—हरि कौ हित ऐसौ जैसौ रंग मजीठ
संसार हित रंग कसूँभ दिन दुती कौ।

अर्थ—श्रीहरि में जो हित—नाम प्रेम है, वह मजीठ के रंग के समान है, अर्थात् कभी छूटता नहीं है, स्थायी है और संसार का जो हित है, वह कुसुंभ के रंग के समान है, अर्थात् धूप लगने से ही दो दिन में उड़ जाता है।

भावार्थ—भाव यह है कि श्रीहरि के प्रति किया हुआ प्रेम ही पूर्णरूप से स्थायी रह सकता है। कारण कि वे सदा, एकरस और देश, काल, कर्म से अतीत नित्य, अक्षय अविनाशी हैं, निरामय हैं। वे निर्विकार—सत्ता, उत्पत्ति, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय, विनाश इन छ: विकारों से रहित हैं। वे जीव के सहज सुहृद्, स्वतन्त्र, परम कृपालु मित्र हैं। इसके विपरीत संसार के जितने भी प्रेमसम्बन्ध हैं, वे सब-के-सब शीघ्र ही बिगड़नेवाले—क्षणिक, विकारी, अनित्य, नाशवान्, काल के अधीन, कर्म के अधीन, झूठे एवं स्वार्थपरता से भरे हुए हैं।

श्रीआचार्यचरण कहते हैं—

साँचे श्रीराधारमन झूठौ सब संसार।
बाजीगर कौ पेखनौ मिटत न लागै बार॥
मिटत न लागै बार भूत की सम्पति जैसे।
मिहरी नाती पूत धुवाँ कौ धौरर तैसे॥
भगवत ते नर अधम लोभ बस घर घर नाँचें।
झूठे गढ़ै सुनार मैन के बोलै साँचे॥७॥

श्रीराधारमण—श्रीकुंजविहारी ही सच्चे हैं—सत्य, नित्य, एकरस विराजते हैं और सारा संसार—सम्पूर्ण जगत्, त्रिभुवन झूठा, असत्य, क्षणिक—एकक्षण में नष्ट होनेवाला है। इतना ही नहीं, वर्तमानकाल में भी यह दिखनेवाला भ्रमरूप—असत्यरूप है। जैसे बाजीगर का पेखना—खेल, तमाशा दर्शनकाल में सत्य-सा दिखता है, किन्तु उसको मिटने में तनिक भी बार—भाने समय नहीं लगता।

दूसरा उदाहरण दे रहे हैं कि जैसे भूत अपनी माया को फैलाकर वन में सम्पत्ति--धन-धान्य आदि से भरा हुआ नगर, बाजार आदि दिखा देता है; किन्तु कुछ क्षणों में कुछ भी नहीं रहता।

तीसरा उदाहरण दे रहे हैं कि धुआँ का धौरहर–माने धुआँ के महल। धुआँ जब आकाश में चढ़ता है, तो दूर से ऐसे दिखता है–जैसे महल बने हों, किन्तु कुछ देर बाद गायब हों जाते हैं। तैसे–उसी प्रकार मिहरी–स्त्री, पुत्र, नाती, बन्धु-बान्धव, परिवार, घर, सम्पत्ति आदि सारा संसार क्षणिक, नाशवान्, असत्य, भ्रमरूप और दुःख, दोष से भरा हुआ है।

श्रीस्वामी भगवतरसिक जी कहते हैं कि वे अधम–नीच, पतित, अज्ञ, बुद्धिहीन मनुष्य हैं, जो संसार को सत्य-सुखरूप मानकर अपने सुख के लोभवश घर-घर नाचते हैं-माने डोलते हैं, भ्रमण करते हैं, रमते हैं और अपने इस व्यवहार को, उद्यम को सत्य बताते हैं। उनका यह व्यवहार–उद्यम ऐसे है, जैसे सुनार गहने आदि बनाने के पहले उस गहने के आकार का मैन–मोम का गहना बनाता है और उस पर मिट्टी का लेप चढ़ा देता है, फिर आग में तपाने पर मोम जल जाता है और गहने का आकार बन जाता है, उसे साँचा कहते हैं। जैसे सुनार मोम के गढ़े–बनाये हुए झूठे गहने के साँचे को साँचा बोलते हैं, इस प्रकार ये अज्ञ, अधम लोग संसार को सत्य मानकर उसमें रमण करते हैं। सत्य तो एकमात्र श्रीवृन्दावनचन्द्र राधारमण ही हैं। विवेकीजन उन्हीं से प्रेम करते हैं, उन्हीं के प्रेम-भक्ति सुख में रमण करते हैं।

विवेक, विरक्ति से युक्त प्रार्थनामय भक्तिसम्पन्न जीवन ही निज इष्ट की सेवा प्राप्तकर कृतकृत्य–धन्य-धन्य होता है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं–

तुम तजि कौन सुखनि कौ दाता।
सबै स्वारथी सहाय न कोऊ बन्धु पिता सुत माता॥
तुम निरपेक्ष निबाहत सब दिन पूरन त्रिभुवन ताता।
तुम से प्रभु तजि अनत करत रति ते पसु प्राननि घाता॥
तुम उदार सुकुमार सहज सुन्दर वर मुरि मुसिक्याता।
श्रीबिहारीदास छबि निरखि मनोहर गौर स्याम रंग राता॥

हे करुणामय, परमानन्दकन्द प्रभो! तुम्हें छोड़कर संसार में और कौन सुखों को देनेवाला है? अर्थात् आप ही एकमात्र सर्वसुखों के दाता हैं। आपके अतिरिक्त माता-पिता, पुत्र, भाई-बन्धु सभी स्वार्थी हैं—अपने स्वार्थ को लेकर प्रेम करनेवाले हैं, स्वार्थ के जाते ही कोई भी पूछनेवाला नहीं है। विपत्ति—संकट पड़ने पर श्रीहरि को छोड़ और कोई भी सहायता करनेवा!ला नहीं है।

आप कैसे निरपेक्ष स्वामी हैं कि प्राणीमात्र को अपना जन जानकर निरपेक्ष—प्रतिकार—माने लेने के रूप में कुछ भी इच्छा न रखते हुए—माने निष्कामभाव से हित—प्रेमपूर्वक सबका सब दिन—सदा—सर्वदा निर्वाह—पालन-पोषण-रक्षण आदि करते हैं। आप परिपूर्ण हैं—पूर्ण सुख देनेवाले हैं और त्रिभुवन—सम्पूर्ण संसार के सब ओर से ताता—माता-पिता, रक्षक आदि सर्वस्व हैं—सब प्रकार से पालन पोषण-रक्षण करनेवाले हैं। तुम से—आप जैसे परम समर्थ-स्नेही प्रभु-स्वामी को छोड़कर जो अनत—अन्य वस्तु-व्यक्ति आदि से रति-प्रेम करते हैं, ते—वे पशु-समान हैं और अपनी आत्मा का—प्राणों का घात करनें-मारनेवाले हैं, अर्थात् आत्मघाती हैं।

जीव की ऐसी महाविमुख, पतितदशा देखकर भी आपके स्वभाव में कुछ भी अन्तर—कमी नहीं होती। आपका तो कृपा-स्नेह वरषने के लिये हृदयसिन्धु के समान उमड़ता-लहराता रहता है। श्रीगुरुदेव

जी कहते हैं कि आप तो सहज–नित्य, स्वाभाविक परम उदार–दयालु हैं, सुकुमार–अति मृदु–कोमल सरस हैं और सहज सुन्दरवर–सुन्दरता में अति श्रेष्ठ, सौदर्न्यनिधिवर हैं। ऐसे परम कारुण्य, माधुर्य, सौन्दर्य, सौकुमार्य, औदार्य आदि गुणों के निधि स्वामी के महान् पतित, विमुखजीव जब भी सन्मुख होता है, तब मुरि मुसिक्याता–माने आप अत्यन्त आत्मीयतापूर्वक सम्पूर्ण गुणमय सौन्दर्य-माधुर्यनिधि श्रीमुख से मुड़कर मुस्काते हुए प्रेमरस की वर्षा से परितृप्त, शीतल करते हैं।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि तुम तो इस शरीर के कर्ता-भोक्ता एवं गुण-दोषमय जीवभाव की ओर न देखते हुए अपने को नित्य सहचरीस्वरूप में उनके निकट उपस्थित रूप में अनुभव करते हुए **गौरस्याम रंग राता छबि निरखि**–माने गौर-श्याम–युगलकिशोर-श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिण जो मधुर केलि-विहार रस रंग में–केलि विनोद-आनन्द रंग में रंगे हुए हैं, रस रंग रत-मत्त-छके हुए हैं, उनकी परम मनोहर छबि सौन्दर्य माधुर्य लावण्यमयी छवि को प्रेमपूर्वक देखते रहो, इसीमें परिपूर्णता है और सब साधन-भजन की सफलता है।

जे गुन ते औगुन किये, कहा कपटिन कौ संग।
बिना साँच ठहरै नहीं, ज्यौं कसूँभ कौ रंग॥३९८॥

रूप, गुण, यौवन, विद्या, बल, बुद्धि, धन, सम्पत्ति आदि सभी गुण–वस्तुएँ प्रभु की भक्ति के लिये, धर्म के लिये प्रभु की दी हुई मिली हैं। जो सकामी, अज्ञजन इन्हें अपने सुख में, व्यवहार में लगाते हैं, वे कपटी हैं। वे गुण को अवगुण करनेवाले हैं। माने सत्यवस्तु को भी असत्य करनेवाले, बिगाड़नेवाले हैं। श्रीआचार्यचरण उनके लिये कह रहे हैं कि ऐसे कपटियों का संग क्या, किस काम का, कि जिन्होंने जो गुण हैं, उन्हें अवगुण कर दिया; अर्थात् भगवत्प्राप्ति-योग उज्ज्वल मनुष्य-जीवन को माया-मोह में आसक्त कर-फँसा कर यों ही बिगाड़ दिया, नष्ट कर दिया।

श्रीगुरुदेव जी कहते हैं कि जैसे कुसुंभ का रंग (कुसुंभ का लाल रंग होता है) धूप लगते ही कुछ दिन में उड़ जाता है, वैसे ही संसार के प्रेम में सत्यता है ही नहीं, वह स्वयं असत्य है। इसलिये सच्चाई के बिना संसार का प्रेम ठहरता नहीं, उड़ जाता है—नष्ट हो जाता है।

श्रीरूप गोस्वामी कृत उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में राग (प्रेम) का वर्णन किया है।

राग कुसुम्भमञ्जिष्ठा सम्भवो रक्तिमामतः।
कुसुम्भ रागः स ज्ञेया यश्चित्ते सज्जतिद्रुतम्॥

कुसुम्भ और मजीठ दोनों लाल रंग हैं। रक्तिमा—लाल रंगरूप से कुसुम्भ राग—प्रेम और मजीठ राग—प्रेम दोनों ही राग हुए हैं—माने जाते हैं। किन्तु दोनों में बहुत अन्तर है। जैसे कुसुंभी लाल रंग पहले एकदम चटकदार, भड़कीला दिखता है, फिर क्षीण होता जाता है। ऐसे ही कुसुम्भ राग वह कहलाता है जो चित्त को द्रवीभूत करके भावविह्वल बना देता है। यह मन को मोहित करनेवाला दिखता है। किन्तु—

कुसुम्भरागस्यास्थिरत्वान्न्यूनत्वम्

कुसुम्भ राग के अस्थिर-माने टिकाऊ न होने के कारण यह न्यूनता—गौणता को प्राप्त हो जाता है। दूसरा-

अहार्योऽनन्यसापेक्षो यो कान्त्यावधार्यते सदा।
भवेन्मञ्जिष्ठ रागोऽसौ राधामाधवयोर्यथा॥

अहार्यः कथञ्चिदप्यगमयितुमशक्य इत्यर्थः। पूर्वस्याधार गुणेनाहार्यत्वमित्यत्र तु स्वरूपगुणेनापि, इति विशेषादत्राहार्यत्वमुक्तम्।

अहार्यः—किसी भी प्रकार से जिसे दूर नहीं कर सकते, मिटा नहीं सकते। जो अपने पूर्व के आधार—आश्रय गुण से भी और स्वरूप-गुण से भी अहार्य—दूर नहीं हो सकता, यह अहार्य गुण की विशेषता है।

अनन्यसापेक्षः—जिसको अपने उत्पन्न होने, वर्धित होने आदि में अन्य की अपेक्षा—इच्छा, आवश्यकता नहीं होती। जो नित्यनूतन वर्धमान, प्रवहमान है।

यो कान्त्यावधार्यते सदा—जो सदा कान्ति—दीप्ति, चमक धारण किये रहता है। ऐसा राग—प्रेम मञ्जिष्ठ राग कहलाता है। यह राग जैसे सदा राधा—माधव-श्यामा-श्याम में विराजमान रहता है।

इसलिये परम प्रेम, परम रस के निधि श्रीविहारी जी—श्रीश्यामा श्याम से ही सदा-सर्वदा सुदृढ़ प्रेम करना चाहिये।

अब जो पूर्व प्रतिज्ञात अर्थ—माने पूर्व में कह आये कि एकमात्र कमलनैन—श्रीविहारी जी से ही प्रेम करना चाहिये—इस निश्चय को, दृढ़ संकल्प को शास्त्रों द्वारा—दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए दृढ़ कर रहे हैं।

मूल- कहिं श्रीहरिदास हित कीजै श्रीबिहारी जू सौं
ओर निबाहु जानि जीकौ ॥७॥

अर्थ—रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि हित—प्रेम तो श्रीविहारी जी से ही करना चाहिये। क्योंकि वे ओर—नाम अन्ततक जीकौ—नाम जीव का हित—प्रेम निबाहु—नाम निबाहनेवाले हैं। अर्थात् श्रीविहारी जी को ही अन्ततक प्रेम को निबाहनेवाले जान—समझ।

भावार्थ—संसारी जीव अन्ततक प्रेम को नहीं निबाह सकते, नहीं निर्वाह कर सकते, क्योंकि उनकी तो स्वल्पकाल की ही मित्रता होती है। इससे संसार सों सम्बन्ध छोड़ और श्रीहरि सों सच्चा हित कर।

हृद्यन्तस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥

सन्तजनों के सुहृद्—अकारण हितू—परम प्रेमी श्रीहरि उनके (सन्तजनों के) हृदय में स्थित होकर (वे हृदय में तो नित्य-सदा-सर्वदा स्थित रहते ही हैं, किन्तु भक्ति के बिना उनका अनुभव नहीं हो

पाता; अब प्रकट होकर) निश्चितरूप से जो भक्ति-मार्ग के विरोधी–अभद्र-माने दोष, विकार, पाप, मोह आदि को सब प्रकार से दूर करते हैं, नष्ट करते हैं।

हरि मोहिं यौं अपनाय लियौ।
जहाँ जहाँ विघन जान्यौ अपने कौ तहाँ तहाँ जतन कियौ॥
हुतौ पतित अपराधी अतिसै कृपा कटाक्ष जियौ।
श्रीबिहारीदास प्रभु अति करुणामय प्रगट प्रसाद दियौ॥

श्रीहरि–अरविन्दाक्ष श्रीविहारी जी ने मुझे इस प्रकार अपना लिया, अपना जन मान लिया, निज चरणों से लगा लिया। उनका अपना कौन? जो जन अपना सर्वस्व उनको सौंपकर उनको अपना सर्वस्व मानकर प्रेमपूर्वक नित्य–सदा उनकी भक्ति करता है, उन्हें भजता है; उसे वे अपना सर्वस्व मान लेते हैं। वही जन उनका अपना होता है।

अपने जन का जहाँ-जहाँ विघ्न जाना, अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, आलस्य, प्रमाद आदि तथा साधन, भजन, सेवादि में त्रुटि–अनभिज्ञता आदि दोषरूप एवं शारीरिक रोग-भोग, मानसिक भ्रम, विक्षेप आदि विघ्न जाने, वहाँ-वहाँ–उसी-उसी जगह, उसी-उसी समय आपने उन्हें दूर करने के लिये यत्न–उपाय किये। वे इस प्रकार अपने जन का रक्षण, पोषण, पालन और भक्ति-मार्ग का सुदढ़ संवर्धन, पोषण, रक्षण आदि के लिये सदा तत्पर, तल्लीन रहते हैं। भक्त के सच्चे प्रेममय माता, पिता, मित्र, स्वामी, गुरु और रक्षक आप ही हैं।

श्रीगुरुदेव जी कहते हैं कि मैं तो अतिशय–बहुत, महान् पतित–गिरा हुआ पापी, अधम और अतिशय अपराधी–हरि-गुरु-भक्ति आदि की अवहेलना करनेवाला महान् हीन-दीन दोषी था, किन्तु उन कृपासिन्धु-दीनबन्धु ने अपनी कृपा भरी चितवन–दृष्टि से जिवा लिया, अर्थात् अपने भक्तिरस से पोषण करके प्रेम से पुष्ट कर लिया, प्रेम से परिप्लुत–सराबोर कर दिया।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि वे अति समर्थ प्रभु अति करुणामय हैं। करुणा का लक्षण है कि दूसरे के दुःख को देखकर हृदय द्रवित–विह्वल हो जाय और उसको दूर करने में लग जाय। उन्होंने माया-मोह (शरीर-संसार के मोह) रूप महाभयंकर दुःख से पार करके प्रकट प्रसाद दिया। अर्थात साक्षात् प्रकट होकर दर्शन देकर अपना अंग–संग–दर्शन–स्पर्श–सेवारूप प्रसाद दिया। अर्थात् सदा–सर्वदा अपने संग रखकर अंग–संग–सेवा–दर्शनरूप प्रसाद दिया।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तनां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

गीता ९-२२

जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हुए मेरी भलीभाँति उपासना करते हैं, मुझमें निरन्तर लगे हुए उन भक्तों का योगक्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा) मैं वहन करता हूँ।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्चमां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

मुझमें चित्तवाले, मुझमें प्राणों को अर्पण करनेवाले भक्तजन आपस में मेरे गुण, प्रभाव आदि को जनाते हुए और उनका कथन करते हुए नित्य-निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं तथा मुझमें रमण करते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥१०॥

उन नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तों को मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥११॥

उन भक्तों पर कृपा करने के लिये ही उनके स्वरूप (होनेपन) में रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकार को देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥१२-६॥

परन्तु जो सम्पूर्ण कर्मों को मेरे अर्पण करके और मेरे परायण होकर अनन्य योग (सम्बन्ध) से मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥७॥

हे पार्थ! मुझमें आविष्ट चित्तवाले उन भक्तों का मैं मृत्युरूप संसारसमुद्र से शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं–

साँचो साँचे के जिय भावै।
मनरंजन नैननि कौ अंजन जहाँ तहाँ दुलरावै॥१३०॥

सच्चा–जो तन, मन, वचन, सर्वात्मा से निष्काम–प्रेमभाव पूर्वक उनसे जुड़ा है, ऐसा जन ही उन सच्चे प्रभु को प्रिय लगता है। कपट–अन्य कामना, सम्बन्ध आदि उनको सुहाता नहीं है। वे सच्चे जन को अपने नेत्रों का मन को आनन्द देनेवाला अंजन बना लेते हैं–माने अति प्रिय बना लेते हैं। इतना नहीं, जहाँ–तहाँ–माने सब जगह, सब समय, सब परिस्थिति में अपने जन को दुलराते हैं–उसका सुख–रुख देख उसको सुख देते हैं, प्यार करते हैं, उसका गुण–यश गाते हैं और बढ़ाते हैं।

इस पद के चारों चरणों में हित शब्द लगा हुआ है। उसका भाव यह है कि प्रेम–मार्ग पर जानेवाले के लिये प्रेम ही साधन है, प्रेम ही साध्य है।

इस विषय में गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं–

प्रेम प्रेम ही पाइये, जो करै प्रेम कौ अंग।
प्रेमहि प्रेम पिछानिये, झूठौ साँचौ संग॥८५॥

श्रीहरि–युगलकिशोर का चिन्मय, उज्ज्वल प्रेम प्रेम करने से मिलता है। जब प्रेमी-भक्त उनसे तन, मन, वचन, सर्वात्मा से सच्चा प्रेम करता है–उनके सुख के लिये समस्त चेष्टाएँ करता है, तब वे श्रीहरि भी अपने जन से कई गुणा प्रेम करते हैं। क्योंकि उनका प्रेममय स्वभाव है। परन्तु ऐसा प्रेम तुमसे तब करते बनेगा, जब प्रेम का अंग करोगे। अर्थात् अपने समस्त साधन, अंग की सभी चेष्टाएँ इष्ट-सुख के लिये ही होंगी और प्रेमसहित सच्चे भाव से होंगी। क्योंकि प्रेम सामने प्रेमी के प्रेम को पहचानता है। अथवा जब सच्चा प्रेम हृदय में होगा तो वह प्रेम ही पहचान लेगा कि यह सच्चे प्रेम का संग है या झूठे प्रेम का।

प्रेम बिना प्रेमै नहीं, प्रेम प्रेम ही होय।
जो प्रेमै प्रेमी मिलै, तौ भर्म दुहुँनि कौ खोय॥८६॥

प्रेम के बिना प्रेमी (प्रेमास्पद) अपना नहीं हो सकता। क्योंकि प्रेम होने से वह प्रेमी कहलाता है और प्रेमी को ही प्रेमास्पद मिलते हैं। यदि प्रेमास्पद (इष्ट) का प्रेम चाहते हो तो उनके भाव के अनुसार उनसे प्रेम करो। ऐसा प्रेम करोगे तो उनका (इष्ट का) भी प्रेम अवश्य होगा ही। यदि सच्चे प्रेमी–प्रेमास्पद से सच्चा प्रेमी मिल जाय तो दोनों का (दोनों ओर का) भ्रम मिट जाता है। जबतक दोनों का मिलन नहीं होता, तबतक प्रेमास्पद (इष्ट) को तो यह सन्देह रहता है कि अभी सच्चाई में, प्रेम में कुछ कमी है, तभी तो नहीं मिलता और प्रेमी को इस प्रकार भ्रम रहता है कि अभी मुझमें

कमी है, तभी तो प्रियतम नहीं मिल रहे हैं, मिलेंगे कि नहीं! किन्तु जब दोनों का मिलन हो जाता है तो दोनों ओर का सन्देह मिट जाता है, दोनों ही परमानन्दित हो जाते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रेम संयोगरूप है। प्रतिक्षण मिलते-मिलते भी तृप्ति न होना, यही प्रेम का स्वरूप है।

अब आगे यह बता रहे हैं कि प्रेम कैसे उत्पन्न हो-

प्रेम प्रेम ही ऊपजै, जो करै की बार।
तबहि प्रेम फूलै फरै, यौं प्रेमिन कह्यौ विचारि॥८७॥

जैसे माली बाड़ी में साग-सब्जी, पेड़-लता आदि बोता है, उसकी सिंचाई कर, खाद लगाकर पोषण और पशु आदि से रक्षण करता है, तब क्यारी, बगीची फूल-फल से भर जाती है। ऐसे ही प्रेमी-प्रेमप्राप्ति का जिज्ञासु अपने हृदय को कामना-वासना, मोह-ममता आदि विकारों से स्वच्छ करके उस हृदयरूपी क्यारी में सद्‌गुरुप्रदत्त अपने इष्ट के नाम-मन्त्र का बीज बोये, फिर प्रेमी रसिक-सन्तजनों के सत्संग से सिंचन, पोषण, रक्षण, परिवर्धन करे, तब वह प्रेमरूप फूल-फल से भरपूर हो जाती है। इस प्रकार प्रेमीजनों ने पुकार कर कहा है कि ऐसे प्रेम करने से ही प्रेम उत्पन्न होता है, तभी वह प्रेमी कहलाता है।

आगे कहते हैं कि प्रेम अति दुर्गम होते हुए भी कितना सहज सुगम है।

प्रेम बनिजन हौं चली, आगे मिलियौ प्रेम।
प्रेम प्रीति (पति) गति पाइये, सखि मोहिं प्रेम कौ नेम॥८८॥

श्रीआचार्यचरण अपने निज सखीस्वरूप के भाव में आवेशित होकर कहते हैं कि हे सखी! मैं प्रेम का वाणिज्य-व्यापार करने चली। अर्थात् प्रेमपूर्वक नाम-मन्त्र का जप, इष्ट की केलि-लीला

का मानसिक चिन्तन, रसिकजनों का सत्संग, प्रेम-रसमयी सरस वाणियों का स्वाध्याय-सेवन, धाम-वास तथा प्रेमपूर्वक भक्ति के अंगों का सेवनरूप व्यापार करने से आगे करुणामय चिन्मय उज्ज्वल प्रेम स्वयं ही आकर मिल गया, उसने अपनाकर आत्मसात्–अपने से एकीभूत कर लिया। उसीसे मैंने प्रेम-प्रीति की गति–मर्म, रहस्य, तत्त्वसहित रहस्यप्राप्ति की गति–स्थान को प्राप्त कर लिया। अथवा प्रेम से ही पति की गति–निज रहस्य, सेवा की प्राप्ति है। हे सखि! अब तो मुझे प्रेम का नेम ही हो गया–अर्थात् तन, मन, प्राण, सर्वात्मा से सदा-सर्वदा एकमात्र प्रेम का ही सेवन होता है।

प्रेम बिछौना ओढ़ना, अचवन भोजन प्रेम।
प्रेम प्रेम कौ पाहुनौ, प्रेम प्रेम के नेम॥८९॥

प्रेमी का बिछौना–आसन आदि प्रेम ही होता है अर्थात् प्रेमी प्रेम-बिस्तर-आसन पर ही सोता-बैठता है, उसका अचवन–पीना, भोजन करना भी प्रेम है अर्थात् प्रेम ही भोजन आदि है। अर्थात् प्रेमी सब समय, सब अवस्थाओं में शरीर के व्यापारों से उदास–उपराम होकर सर्वात्मा से अपने प्रियतम के प्रेम का ही अनुभव करता है।

प्रेम का पाहुना प्रेम ही है अर्थात् प्रेम वहीं जाता है, जहाँ निच्छल, निष्कपट प्रेम होता है। क्योंकि प्रेम को प्रेम का नेम है अर्थात् प्रेम प्रेम के बिना और जानता ही नहीं है।

इस प्रकार श्रीस्वामी जी महाराज ने श्रीविहारी जी से सच्चे प्रेम करने का आदेश दिया।

इस पद के पहले चरण में श्रीस्वामी जी महाराज ने कमलनयन–श्रीविहारी जी से सच्चा, प्रेम करने का उपदेश किया, दूसरे चरण में अन्तराय (विघ्न) रूप कल्मष आदि नाश करने के लिये श्रीहरि-स्वरूप साधुओं का संग करने के लिये आज्ञा की, तीसरे चरण में श्रीहरि के प्रेम का महत्त्व और संसार की असारता

दिखाते हुए चौथे चरण में फिर यह प्रकट करते हैं कि श्रीविहारी जी की प्रीति के बिना जीव का निर्वाह ही नहीं है। क्योंकि जीव और श्रीहरि का अंशांशी सम्बन्ध है। अंश सदा ही अंशी के अधीन है। जीव श्रीहरि के समान सच्चिदानन्दरूप और उनका सनातन अंश है।

सनातन अंश से आशय होता है कि श्रीहरि सच्चिदानन्द घन हैं और जीव कण है। इसकी यह अणुता सदा से है। इस अणुता के कारण ही यह अंश कहा जाता है। अंश सदा अंशी के या अणु सदा महत् के अधीन रहता है। इसीलिये जीव का और हरि का अंश-अंशी अथवा सेवक-स्वामी सम्बन्ध बताया गया है। जैसे आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् ने कहा है-

ज्ञानस्वरूपञ्च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोग्ययोग्यम्।
अणु हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः॥

श्रीहरि विज्ञानघन तो जीव भी ज्ञानस्वरूप है अर्थात् ज्ञानमय है, किन्तु स्वतन्त्र नहीं है, श्रीहरि के अधीन है। अपने निजस्वरूप को भूल जाने से वह अनेकों शरीरों को धारण करनेवाला और छोड़नेवाला है। वह जीव अणुमात्र है और प्रतिदेह में भिन्न है अर्थात् प्रत्येक शरीर में अलग-अलग है। वह ज्ञातृत्ववान् अर्थात् जाननेवाला है, ज्ञाता है और जो अनन्त है, ऐसा विद्वान्-मनीषी कहते हैं।

इसी स्वभाव के कारण जब जीव को श्रीविहारीजी के दास होने का विशुद्ध अंहकार होता है, वही उसका निजस्वरूप है। परन्तु अणु होने के कारण यह अपने शुद्धस्वरूप को भूलकर मायिक अहंकार में बंध जाता है। जिसके फलस्वरूप नाना प्रकार की योनियों में जन्म ले-लेकर अनेक प्रकार के क्लेशों को भोगता हुआ संसार में भटकता रहता है। फिर जब कभी सद्गुरु कृपा से इसको अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब यह श्रीहरि के दासरूप अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है और देहात्मबुद्धि को छोड़कर श्रीहरि के साथ रहकर निरन्तर आनन्द को प्राप्त करता है।

पृथगात्मानं प्रेरितारं मत्वा जुष्टास्ततस्तेन परमं साम्यमुपैति ॥

अर्थात् जीव जब अपने आपको और अपने प्रेरक श्रीहरि को पृथक्-अलग मानकर उनकी सेवा में लगता है, तब यह परम साम्य को प्राप्त होता है अर्थात् उनके समान उनकी सेवायोग्य स्वरूप प्राप्त करके परमानन्द को प्राप्त करता है।

अन्तिम चरण में श्रीस्वामी जी महाराज ने **हित कीजै श्रीबिहारी जू सौं** कहकर महामधुराति मधुर नित्यविहार उपासना के प्रति भी संकेत किया है कि सब रसोपासनाओं से विशेष नित्यविहाररस विलासी श्रीविहारी जी से हित करो। सखीभावसहित उन नित्य किशोर-दम्पती को भजो-सेवन करो। वे सखीभाव की अन्ततक अपेक्षाशून्य भाव से प्रीति को निबाहनेवाले हैं। जीव की—अपने जन की रुचि-लेकर सदा-सर्वदा प्रीति को निबाहनेवाले हैं। वे अपने जन को प्राणों का प्राण बनाकर, सदा-सर्वदा संग रखकर उसे अपना निजसुख देते हैं। एकक्षण के लिये भी उसे अपने से अलग नहीं होते देते।

मेरी बिहारिनि मेरी मेरी।
तन मन मिलि बिहरति रसमाती इहि छिन हँसि हँसि मो तन हेरी ॥
हित की जानि करै रुचि सोई सदाई रहत प्रान सौं भेरी।
श्रीललितकिसोरी रसिक सिरोमनि याही सुख में रहत अनेरी ॥ ९९ ॥

श्रीआचार्यचरण श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी अपने सखीभावावेश में कहते हैं कि नवनिकुंज भवन में प्रियतम कुंज विहारी के संग अद्भुत विहार करनेवाली मेरी लाड़िली विहारिणि मेरी है, मेरी है, मेरी है। कारण कि वे लाड़िली अत्यन्त ममतापूर्ण प्रेम से सुख दे रही हैं, इससे यह ममतापूर्ण भाव से वाक्य प्रकट हुआ। वे स्वामिनी कैसी हैं कि रसमाती हैं—दिव्य प्रेम रस में छकी हुई मत्त हैं।

क्योंकि तन-मन से मिलकर अपने नवरंग लाल प्रियतम के संग विहार कर रही हैं। उसी रसमत्त-दशा में अपना प्रेम रस-सुख देने के लिये इस क्षण भी-माने वर्तमान इस समय-इस क्षण में भी अति आनन्दोद्रेक से हँस-हँसकर मेरी ओर कृपा भरी दृष्टि से देखती हैं।

मेरे हित-प्रेम-सुख की जो बात जानती है, वही करती हैं और वह मेरी जैसे रुचि-इच्छा होती है, वैसे ही करती हैं, एवं कहाँतक कहूँ, सदा ही प्राणों से भिड़ी रहती हैं। एक क्षण भी विलग होती नहीं हैं। प्राणों से प्राण मिलाकर सुख देती रहती हैं।

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी कहते हैं कि इसीलिये हम और गुरुदेव रसिक-शिरोमणि श्रीस्वामी रसिकदेव जी या रसिक शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज सखीस्वरूप से इस नित्यकेलि सुख में रहत अनेरी-माने निरंकुश, स्वच्छन्द विरचते रहते हैं। अर्थात् जैसी रुचि होती है, वैसे ही प्रियालाल को निरकुंश, निःसंकोच रस विलसाते, लाड़ लड़ाते रहते हैं।

मैं संग पायौ ओर निबाहू।
रसिक अनन्यनि सौं मनमान्यौ अब न बूझिहौं काहू॥
छाँड़ै कूर कृपन कर्मठ सठ जिनके मन न उमाहू।
मारग विविध बहत बहकावत उपजावत दुख दाहू॥
श्री वृन्दावन धन धर्म राधिका लीनैं गहि बल बाहू।
श्रीबिहारीदास कौं सुलभ भयौ सुख दुर्लभ अगम अगाहू॥

श्रीगुरुदेव जी कहते हैं कि अब मैंने ओर निबाहू संग पाया है, अर्थात् श्रीहरि और उनके जन अन्ततक संग का निर्वाह करनेवाले (निबाहनेवाले) हैं। जीव अपने कर्मवश अनेक योनियों में भटका, स्वर्ग-नरक गया, फिर भी श्रीहरि सदा-सर्वदा संग ही रहते हैं। उसके हृदय में ही अन्तर्यामीस्वरूप से निवास करते हुए कृपा-वात्सल्य

रस की वर्षा करते रहते हैं। ऐसे मैंने अनादि काल से अनन्ततक संग का निर्वाह करनेवाले श्रीहरि का संग प्राप्त कर लिया है। अर्थात् सद्गुरु की कृपा से उनके नाम, रूप, लीला-रस का सेवन प्राप्त कर लिया है। उनकी लीला-रस कथा में मत्त रहनेवाले और उनके सुयश-रसामृत की वर्षा करनेवाले रसिक-अनन्य-प्रेमी-भक्तजनों का संग प्राप्त करके उनसे मन माना है—मन ने प्रीति कर ली है। अब किसी और को न बुझूँगा, अर्थात् रसिक-अनन्यजनों को छोड़ अब अन्यजनों का संग-सेवन नहीं करूँगा।

जिनके मन में उमंग--उत्साह नहीं, अर्थात् श्रीहरि को सुख देनेवाली प्रेम-भक्ति रस का उत्साह—आनन्द नहीं, ऐसे जो कूर हैं, अर्थात् बुद्धिहीन हैं, भगवत्-तत्व को, प्रेम-भक्ति के रहस्य को जानने में असमर्थ हैं और कृपण हैं, अर्थात् इन्द्रिय-सुख में लीन हैं तथा भक्तिविहीन कर्मों में ही आसक्त हैं, ऐसे शठ—जड़, धूर्त, छली, आलसी, मूर्खों को मैंने दूर से ही छोड़ दिया है। वे लोग अपनी विमुखता से भ्रम और तापदायक अनेक प्रकार के मार्गों में बहते हैं, अर्थात् तत्पर होकर लगे रहते हैं और दूसरे अज्ञजनों को भी बहकाते—भ्रमाते हुए उन्हीं तापप्रद मार्गों में लगाकर अत्यन्त दुःखद दाह—जलन को उत्पन्न करते हैं। अथवा जन्म-मरण आवागमनरूप चक्र में भटकाकर महान् दुःख-ज्वाला से जलानेवाले हैं।

हमें श्रीवृन्दावनेश्वरी लाड़िली की कृपा से, रसिक-अनन्यजनों के संग के प्रताप से प्रेम रस-धर्मरूप धन के स्वरूप नित्यविहार रस-रहस्यमय धाम श्रीवृन्दावन की प्राप्ति हुई। उनके सेवन से नित्य केलि रस को देनेवाली प्रिया श्रीराधिका अति प्रसन्न हुईं और उन्होंने अपने कृपा-बल से हमारी बाँह पकड़कर अपने चरणों में रख लिया है। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि जो

नित्यविहार रस–सुख सबके लिये अति दुर्लभ है, अगम है–जहाँ किसीकी गम–प्रवेश नहीं है और अति अगाध है–कोई पार नहीं पा सकता, थाह नहीं ले सकता है, वह नित्य, चिन्मय रस–सुख अब हमें सुलभ हो गया। हमें सहज–अनायास प्राप्त हो गया।

निघटि जाय सौं संग्रहौं, बिछुरि जाय सौं न संग।
श्रीबिहारीदास नित निर्वहौं, हरि अनुराग अभंग॥३७७॥

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि संसार की प्रत्येक वस्तु-पदार्थ क्षयशील हैं–घटनेवाले हैं, प्रतिक्षण घटते रहते हैं, मैं इनका संग्रह नहीं करूँगा और संसार के प्रत्येक व्यक्ति–पुरुष–माता, पिता, स्त्री, पति, पुत्र, बन्धु, बान्धव, मित्र आदि सब मरणशील होने से बिछुड़नेवाले हैं, प्रतिक्षण वे क्षीण हो रहे हैं, बिछुड़ रहे हैं, मैं इनका संग नहीं करूँगा। क्योंकि संग-संग्रह करने से ममता-आसक्ति होती है और वह संसार-चक्र में भ्रमण करानेवाली है। एकमात्र श्रीहरि–युगलकिशोर-श्यामा-श्याम का अनुराग–प्रेम ही अखंड, नित्य, सदा-सर्वदा, एकरस रहनेवाला है। वह न घटता है और न बिछुड़ता। बल्कि प्रतिक्षण नव-नव रूप में बढ़ता ही रहता है। मैं उसी अनुराग में नित्य–सदा-सर्वदा निर्वाह करूँगा; उसका नित्य दृढ़तापूर्वक सेवन करूँगा।

इसलिये नाशवान् प्रीति के निमित्तभूत इस संसार और शरीर तथा शरीर के सम्बन्धियों से ममता हटाकर एकमात्र नित्य-निरन्तर श्रीविहारी जी से ही प्रेम करना चाहिये।।७।।

–: इति सप्तम (७) पद का भावार्थ :–



अथ अष्टम पद-अवतरण

जबतक जीव श्रीहरि में हित–प्रेम नहीं करेगा, तबतक वासना के वश होकर अनेक लोकों में भ्रमण करता रहेगा; क्योंकि परतन्त्र है। परम करुणामय श्रीस्वामी जी महाराज इसी बात को आगे के पद में स्पष्ट करते हैं।

पद- **तिनुका ज्यौं बयारि के बस।**

ज्यौं चाहै त्यौं उड़ाय लै डारै अपने रस॥

ब्रह्म लोक सिव लोक और लोक अस।

कहिं श्रीहरिदास विचार देखौ बिना बिहारी नाहिं जस॥८॥

अर्थ–तिनुका–तृण पवन के वश में है। अर्थात् परतंत्र है। पवन अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहै–नीचे-ऊँचे, वहाँ उसे उड़ाकर ले जाता है। ऐसे ही तृण के समान यह जीव है। यह ईश्वर के तन्त्र–अधीन है। सो जैसी ईश्वर की इच्छा होती है, उसी भाँति यह जीव कर्मवश ऊँच-नीच अनेक लोकों में भ्रमण करता रहता है।

ब्रह्मलोक, शिवलोक, और लोक–और स्वर्गादि बहुत-से लोक हैं, अस-माने इसी प्रकार वे सब श्रीहरि के अधीन हैं। उन लोकों में भगवान् श्रीहरि इस जीव को कर्माधीन ले जाते हैं।

रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि हमने अच्छी प्रकार से विचार करके देख लिया कि इन लोकों में श्रीविहारी जी का यश नहीं है, भगवद्गुण रहित हैं। इससे ब्रह्मलोक, स्वर्गलोकादि भी हेय–त्याज्य हैं।

मूल- **तिनुका ज्यौं बयारि के बस।**

ज्यौं चाहै त्यौं उड़ाय लै डारै अपने रस॥

अर्थ–जैसे तिनुका–तृण पवन के अधीन होता है, अर्थात् परतन्त्र–परवश होता है। पवन अपनी इच्छा के अनुसार जहाँ

चाहै-ऊँचे-नीचे उसे वहाँ उड़ाकर ले जाता है। ऐसे ही तृण के समान यह जीव है। यह ईश्वर-श्रीहरि के परतन्त्र-अधीन है। सो जैसी ईश्वर की इच्छा होती है, उसी प्रकार यह जीव कर्मवश ऊँच-नीच अनेक लोकों में भ्रमण करता रहता है।

भावार्थ-ऐसे ही श्रीमद्भागवत में लिखते हैं।

नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च॥४३॥

निस्संदेह भगवान् ही प्राणियों के संयोग और वियोग के कारण हैं।

वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च।
संयोज्याक्षिप्यते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत्॥

भा. १०-८२-४४

जैसे वायु बादलों, तिनकों, रूई और धूल के कणों को एक-दूसरे से मिला देती है और स्वच्छन्दरूप-से उन्हें अलग-अलग कर देती है, वैसे ही समस्त पदार्थ-प्राणियों के निर्माता भगवान् भी सबका संयोग-वियोग अपने इच्छानुसार करते रहते हैं।

भाव यह है कि जैसे तिनका पवन के द्वारा इधर-उधर, नीचे- ऊँचे डोलता रहता है, वैसे ही यह जीव श्रीहरि की इच्छारूप बलवान् काल की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न अवस्था तथा योनियों में भ्रमण करता रहता है। काल-कर्म-स्वभाव से घिरे हुए जीव को कहीं भी अखण्ड सुख की प्राप्ति नहीं होती है।

मूल- ब्रह्मलोक सिवलोक और लोक अस।

अर्थ-ब्रह्मलोक, शिवलोक, और भी स्वर्गादि बहुत-से लोक हैं, अस-माने इसी प्रकार वे सब श्रीहरि के अधीन हैं। उन लोकों में भगवान्-श्रीहरि इस जीव को कर्माधीन ले जाते हैं।

भावार्थ-अस शब्द दार्ष्टांत है। भाव यह है कि इसी प्रकार ब्रह्मलोकादि भी काल-प्रभाव से बाहर नहीं हैं। काल-मान के अन्तर्गत होने के कारण जीव का वहाँ से आना-जाना होता रहता है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

गीता ८-१६

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्तीवाले हैं, अर्थात् वहाँ जाने पर पुनः लौटकर संसार में आना पड़ता है, परन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता। जैसे—

क्वचित्पुमान् क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः।
देवो मनुष्यतिर्यग्वा यथाकर्मगुणं भवः॥

भा. ४-२९-२९

इस प्रकार अपने कर्म और गुण के अनुसार देवयोनि, मनुष्योनि अथवा पशु-पक्षीयोनि में जन्म लेकर वह अज्ञानान्ध जीव कभी पुरुष, कभी स्त्री और नपुंसक होता है।

क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम्।
चरन् विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेव वा॥३०॥
तथा कामाशयो जीव उच्चावचपथा भ्रमन्।
उपर्यधो वा मध्ये वा याति दिष्टं प्रियाप्रियम्॥३१॥

जिस प्रकार बेचारा भूख से व्याकुल कुत्ता दर-दर भटकता हुआ अपने प्रारब्धानुसार कहीं दण्ड खाता है और कहीं भात खाता है, उसी प्रकार यह जीव चित्त में नाना प्रकार की वासनाओं को लेकर ऊँचे-नीचे मार्ग से ऊपर, नीचे अथवा मध्य के लोकों में भटकता हुआ अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता रहता है।

दुःखेष्वेकतरेणापि दैवभूतात्महेतुषु।
जीवस्य न व्यवच्छेदः स्याच्चेत्तत्तत्प्रतिक्रिया॥३२॥

आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक-इन तीन प्रकार के दुःखों में से किसी भी एक से जीव का सर्वथा छुटकारा नहीं हो

सकता। यदि कभी वैसा जान पड़ता है तो वह केवल तात्कालिक निवृत्ति ही है।

यथाहि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन्।
तं स्कन्धेन स आधत्ते तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः॥ ३३॥

वह ऐसी ही है जैसे कोई सिर पर भारी बोझा ढोकर ले जानेवाला पुरुष उसे कन्धे पर रख ले। इसी तरह सभी प्रतिक्रिया (दुःखनिवृत्ति) जाननी चाहिये—यदि किसी उपाय से मनुष्य एक प्रकार के दुःख से छुट्टी पाता है, तो दुसरा दुःख आकर उसके सिर पर सवार हो जाता है।

नैकान्ततः प्रतीकारः कर्मणां कर्म केवलम्।
द्वयं ह्यविद्योपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवानघ॥ ३४॥

शुद्धहृदय नरेन्द्र! जिस प्रकार स्वप्न में होनेवाला स्वप्नान्तर उस स्वप्न से सर्वथा छूटने का उपाय नहीं है, उसी प्रकार कर्मफलभोग से सर्वथा छूटने का उपाय केवल कर्म नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म और कर्मफलभोग दोनों ही अविद्यायुक्त होते हैं।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
मनसा लिङ्गरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा॥ ३५॥

जिस प्रकार स्वप्नावस्था में अपने मनोमय लिङ्गशरीर से विचरनेवाले प्राणी को स्वप्न में पदार्थ न होने पर भी भासते हैं, उसी प्रकार ये दृश्यपदार्थ वस्तुतः न होने पर भी, जबतक अज्ञान-निद्रा नहीं टूटती, बने ही रहते हैं और जीव को जन्म-मरणरूप संसार से मुक्ति नहीं मिलती। (अतः इनकी आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय एकमात्र आत्मज्ञान ही है)।

अथात्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरम्परा।
संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ॥ ३६॥

राजन्! जिस अविद्या के कारण परमार्थस्वरूप आत्मा को यह जन्म-मरणरूप अनर्थपरम्परा प्राप्त हुई है, उसकी निवृत्ति गुरुस्वरूप श्रीहरि में सुदृढ़ भक्ति होने पर हो सकती है।

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः।
सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनिष्यति॥ ३७॥

भगवान् वासुदेव में एकाग्रतापूर्वक सम्यक् प्रकार से किया हुआ भक्ति-भाव ज्ञान और वैराग्य का आविर्भाव कर देता है।

सोऽचिरादेव राजर्षे स्यादच्युतकथाश्रयः।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य नित्यदा स्यादधीयतः॥ ३८॥

राजर्षे! यह भक्तिभाव भगवान् की कथाओं के आश्रित रहता है। इसलिये जो श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रतिदिन सुनता या पढ़ता है, उसे बहुत शीघ्र इसकी प्राप्ति हो जाती है।

यत्र भागवता राजन् साधवो विशदाशयाः।
भगवद्गुणानुकथनश्रवणव्यग्रचेतसः॥ ३९॥
तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः॥ ४०॥

राजन्! जहाँ भगवद्गुणों को कहने और सुनने में तत्पर विशुद्धचित्त भक्तजन रहते हैं, उस साधुसमाज में सब ओर महापुरुषों के मुख से निकले हुए श्रीमधुसूदन भगवान् के चरित्ररूप शुद्ध अमृत की अनेकों नदियाँ बहती रहती हैं। जो लोग अतृप्तचित्त से श्रवण में तत्पर अपने कर्णकुहरोंद्वारा उस अमृत का छककर पान करते हैं, उन्हें भूख-प्यास, भय, शोक और मोह आदि कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकते।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं–

श्रीकुंजबिहारी बिना सब झूठे।
स्याम विमुख करैं निदरैं बिगरैं पल काज परत अपूठे।
पुन्य छीन गिराइ दिये मृतलोक कौं कियौ तर सीस उठाइ अँगूठे॥
श्रीबिहारी बिहारिनिदासि भनैं तजनैं सब भाँति रूठे अरु तूठे।
भूलि भरम्म भजौ जिनि कोइ श्रीकुंजबिहारी बिना सब झूठे॥४७॥

ठाकुर–परम प्रभु श्रीकुंजविहारी जी के बिना सब ही झूठे–असत्य, भ्रमरूप और दुःख को देनेवाले हैं। श्यामसुन्दर–श्रीहरि से विमुख लोग कर्म–दान, पुण्य, व्रत, यज्ञ, योग आदि की महत्ता दिखाते हुए उनको करके भक्ति के अंगों का निरादर कर श्याम–श्रीविहारी जी से विमुख करते हैं; माया-मोह को दृढ़ करते हैं। उनके किये हुए पुण्य क्षीण होते ही एक पल में सब कार्य बिगड़ जाते हैं और वे असफल-मनोरथ अपूठे–वापस-पीछे की ओर–माने नीचे पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। उनके पुण्य क्षीण–नष्ट होते ही उनके पाँव का अँगूठा पकड़ नीचे शिर किये मृत्युलोक में गिरा दिये जाते हैं।

इसलिये श्रीकुंजविहारी-विहारिणि के दास–श्रीस्वामी जी महाराज या रसिक-अनन्यजन अथवा श्रीगुरुदेव जी महाराज कहते हैं कि संसार में सब प्रकार के ऊँच-नीच पुरुष चाहे वह देव हों या मनुष्य, वे अप्रसन्न हों या प्रसन्न, उन्हें त्यागो। वे स्वयं माया-बन्धन में बंधे हुए हैं, वे क्या दे सकते हैं और क्या बिगाड़ सकते हैं? सब स्वप्नवत् भ्रममात्र हैं। भूलकर भी उनका सेवन मत करो। सब प्रभुओं के प्रभु, परम समर्थ, करुणानिधि, प्रेम-रसनिधि, भक्तवत्सल श्रीवृन्दावन-निकुंज मन्दिर में विहार करनेवाले श्रीकुंजविहारी को भजो–उनका सेवन करो। उनके बिना सब भ्रममात्र हैं, झूठे हैं।

लोकोत्तर पुण्य भोगने के लिये जो लोक हैं, उन्हें स्वर्ग कहते हैं। नरकों के ऊपर तल-वितल आदि सात पाताल हैं, आठवीं पृथ्वी है। इसके ऊपर ध्रुव, ग्रह-नक्षत्रों से युक्त अन्तरिक्ष लोक है। इसके ऊपर स्वर्ग है। इसके पाँच भेद हैं—एक महेन्द्र लोक, दूसरा प्राजापत्य लोक, जिसको महर्लोक कहते हैं, तीसरा जनलोक, चौथा तपलोक और पाँचवाँ सत्यलोक। पिछले तीन लोक ब्रह्मलोक के अन्तर्गत हैं। इन सभी में जीव कर्मानुसार जाता है। परन्तु लौकिक सुखों के समान परलोक के सुख भी दोषयुक्त ही हैं। वहाँ भी बराबर रहनेवालों से परस्पर में होड़-स्पर्धा रहती है। अधिक सुख भोगनेवालों के प्रति निन्दा होती है। उनके गुणों में दोष दिखाया करते हैं। छोटों के प्रति घृणा होती है।

सबसे बड़ा दुःख तो प्रतिदिन पुण्य-क्षीण होने का है, जिसके कारण वहाँ के सुख नाश के निकट पहुँचते रहते हैं और एक दिन नष्ट ही हो जाते हैं। ये सब राग-द्वेष आदि कलंकयुक्त होने के कारण अपयश को देनेवाले हैं। कालातीत तो एकमात्र श्रीविहारी जी ही हैं और ब्रह्मादि देवता त्रिगुणमयी माया के रचे हुए और काल के अधीन तथा अनित्य हैं।

श्रीमद्भागवत में देव-स्तुति में कहा है—

नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य॥

भा.११-६-१४

ब्रह्मा आदि जितने भी शरीरधारी हैं, वे सत्त्व, रज, तम-इन तीनों गुणों के परस्पर-विरोधी त्रिविध भावों की टक्कर से जीते-मरते रहते हैं। वे सुख-दुःख के थपेड़ों से बाहर नहीं हैं और ठीक वैसे ही आपके वश में हैं, जैसे नथे हुए बैल अपने स्वामी के वश में

होते हैं। आप उनके लिये भी कालस्वरूप हैं। उनके जीवन का आदि, मध्य और अन्त आपके ही अधीन है। इतना ही नहीं, आप प्रकृति और पुरुष से भी परे स्वयं पुरुषोत्तम हैं। आपके चरणकमल हम लोगों का कल्याण करें।

मूल- कहिं श्रीहरिदास विचार देखौ बिना बिहारी नाहिं जस ॥८॥

अर्थ–रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि हमने भलीभाँति विचार करके देख लिया कि इन लोकों में श्रीविहारी जी का यश नहीं है, वे भगवद्गुणरहित हैं, इसलिये ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक आदि भी हेय–त्याज्य हैं।

भावार्थ–सो ही शास्त्र में लिखा है–

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरञ्चितामेति ततः परं हि माम्।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये॥

भा. ४-२४-२९

श्रीमहादेव जी कहते हैं कि अपने वर्णाश्रम धर्म का भलीभाँति पालन करनेवाला पुरुष सौ जन्म के बाद ब्रह्मा के पद को प्राप्त होता है। और इससे भी अधिक पुण्य होने पर वह मुझे प्राप्त होता है। परन्तु जो भगवान् का अनन्य भक्त है, वह परमपद को प्राप्त हो जाता है, जिसे स्वरूप में स्थित मैं तथा अन्य अधिकारिक देवता अपने-अपने अधिकार की समाप्ति के बाद प्राप्त करेंगे।

किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतैर्दानादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना।
न यत्र नारायणपादपङ्कजस्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात्॥

भा. ५-१९-२२

देवता कहते हैं–हमें बड़े कठोर यज्ञ, तप, व्रत और दानादि करके जो तुच्छ स्वर्ग का अधिकार प्राप्त हुआ है, इससे क्या लाभ है? यहाँ तो इन्द्रियों के भोगों की अधिकता के कारण स्मृतिशक्ति

छन जाती है, अतः कभी श्रीनारायण के चरणकमलों की स्मृति होती ही नहीं।

कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरे॥ २३॥

यह स्वर्ग तो क्या—जहाँ के निवासियों की एक-एक कल्प की आयु होती है, किन्तु जहाँ से फिर संसारचक्र में लौटना पड़ता है, उन ब्रह्मलोकादि की अपेक्षा भी भारतभूमि में थोड़ी आयुवाले होकर जन्म लेना अच्छा है; क्योंकि यहाँ धीर पुरुष एक क्षण में ही अपने इस मर्त्यशरीर से किये हुए सम्पूर्ण कर्म श्रीभगवान् को अर्पण करके उनका अभयपद प्राप्त कर सकता है।

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥ २४॥

जहाँ भगवत्कथा की अमृतमयी सरिता नहीं बहती, जहाँ उसके उद्‌गमस्थान भगवद्भक्त साधुजन निवास नहीं करते और जहाँ नृत्य-गीतादि के साथ बड़े समारोह से भगवान् यज्ञपुरुष की पूजा-अर्चा नहीं की जाती—वह चाहे ब्रह्मलोक ही क्यों न हो, उसका सेवन नहीं करना चाहिये।

प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसम्भृताम्।
न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम्॥ २५॥

जिन जीवों ने इस भारतवर्ष में ज्ञान (विवेकबुद्धि), तदनुकूल कर्म तथा उस कर्म के उपयोगी द्रव्यादि सामग्री से सम्पन्न मनुष्य-जन्म पाया है, वे यदि आवागमन के चक्र से निकलने का प्रयत्न नहीं करते, तो व्याध की फाँसी से छूटकर भी फलादि के लोभ से उसी वृक्ष पर विहार करनेवाले वनवासी पक्षियों के समान फिर बन्धन में पड़ जाते हैं।

यद्यत्र नः स्वर्ग सुखावशेषितं स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम्।
तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद् वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोति ॥ २८ ॥

अतः अबतक स्वर्गसुख भोग लेने के बाद हमारे पूर्वकृत् यज्ञ, प्रवचन और शुभ कर्मों से यदि कुछ भी पुण्य बचा हो, तो उसके प्रभाव से हमें इस भारतवर्ष में भगवान् की स्मृति से युक्त मनुष्य-जन्म मिले; क्योंकि श्रीहरि अपना भजन करनेवाले का सब प्रकार से कल्याण करते हैं।

भक्त के लिये, साधक के लिये भगवद्‌यश ही श्रोतव्य और कीर्तनीय है और जिनने भगवान् के यशरूप अमृत का श्रवणद्वारा पान किया है, उनकी और लोकों में प्रीति नहीं होती है। सो ही लिखते हैं—

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथा श्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्॥

भा. ४-९-१०

श्रीध्रुव जी कहते हैं—नाथ! आपके चरणकमलों का ध्यान करने से और आपके भक्तों के पवित्र चरित्र सुनने से प्राणियों को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह निजानन्दस्वरूप ब्रह्म में भी नहीं मिल सकता। फिर जिन्हें काल की तलवार काटे डालती है, उन स्वर्गीय विमानों से गिरनेवाले पुरुषों को तो वह सुख मिल ही कैसे सकता है?

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम्।
येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्‌गुणकथामृतपानमत्तः ॥ ११ ॥

अनन्त परमात्मन्! मुझे तो आप उन विशुद्धहृदय महात्मा भक्तों का संग दीजिये, जिनका आपमें अविच्छिन्न भक्तिभाव है। उनके संग में मैं आपके गुणों और लीलाओं की कथा-सुधा को पी-पीकर उन्मत्त हो जाऊँगा और सहज ही इस अनेक प्रकार के दु:खों से पूर्ण भयङ्कर संसारसागर के उस पार पहुँच जाऊँगा।

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं
ये चान्वदः सुतसुहृदगृहवित्तदाराः।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः॥१२॥

कमलनाभ प्रभो! जिनका चित्त आपके चरणकमल की सुगन्ध में लुभाया हुआ है, उन महानुभावोंका जो लोग संग करते हैं, वे अपने इस अत्यन्त प्रिय शरीर और इसके सम्बन्धी पुत्र, मित्र, गृह और स्त्री आदि की सुधि भी नहीं करते।

भाव यह है कि विचारपूर्वक देखने से यह स्थिर होता है कि श्रीविहारी जी के चरणाश्रित हुए बिना ऊपर के लोकों में या कहीं भी जीव के चित्त को शुद्ध करनेवाला यश प्राप्त नहीं होता। क्योंकि-

धर्मः साक्षाद् यतो ज्ञानं वैराग्यं च तदन्वितम्।
ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्माद् यशश्चात्ममलापहम्॥

भा. १०-८९-१६

भगवान् श्रीहरि से ही साक्षात् धर्म, ज्ञान, वैराग्य, आठ प्रकार के ऐश्वर्य और चित्त को शुद्ध करनेवाला यश प्राप्त होता है।

विचार देखो में कहने का एक भाव यह भी है कि जब ऊपर के लोकों के अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा, शंकर में ही रजोगुण, तमोगुण की अभिव्यक्ति, जो चित्त को विकारयुक्त करने का कारण है, देखी जाती है; तब उनकी उपासना के फलस्वरूप उनके लोकों

में गये हुए जीवों को परम शान्तिरूप सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? इस प्रसंग में श्रीमद्भागवत में श्रीशुकदेव जी ने राजर्षि परीक्षित् के प्रति एक आख्यान वर्णन किया है जो इस प्रकार है।

एक बार सरस्वती के पावनतट पर बड़े-बड़े ऋषि-मुनि एकत्रित होकर साध्य तथा साधन के विषय में विचार करने लगे। उन लोगों में यह वाद-विवाद चला कि ब्रह्मा, शिव और हरि में सबसे बड़ा कौन है। उन सबों ने यह बात जानने के लिये ब्रह्मा जी के पुत्र भृगुजी को परीक्षा के लिये उनके पास भेजा। महर्षि भृगु सबसे पहले ब्रह्माजी की सभा में गये। उन्होंने ब्रह्माजी के धीरज आदि गुणों की परीक्षा करने लिये न तो उनको नमस्कार किया न उनकी स्तुति करी। इससे उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि ब्रह्माजी अपने तेज से दहक रहे हैं। ब्रह्माजी को क्रोध आ गया। परन्तु जब उन्होंने देखा कि यह तो मेरा पुत्र ही है, तब अपने मन में उठे हुए क्रोध को दबा लिया। क्रोध रजोगुण से उत्पन्न होता है। यहाँ रजोगुण की विशेषता देखी।

वहाँ से महर्षि भृगु कैलाश गये। देवाधिदेव श्रीशंकर जी ने देखा कि मेरा भाई भृगु आया है, तब उन्होंने बड़े हर्ष के साथ खड़े होकर उनको कण्ठ लगाने के लिये अपनी भुजाएँ फैलायीं। परन्तु महर्षि भृगु ने यह कहा कि तुम लोक और वेद की मर्यादा का उल्लंघन करते हो, इसलिये मैं तुमसे नहीं मिलता। भृगु जी की यह बात सुनकर भगवान् शंकर क्रोध के मारे तिलमिला उठे। उनकी आँखें चढ़ गयीं। उन्होंने त्रिशूल उठाकर महर्षि भृगु को मारना चाहा। परन्तु उसी समय भगवती सती ने उनके चरणों पर गिरकर बहुत अनुनय-विनय की और किसी प्रकार क्रोध शान्त किया।

अब महर्षि भृगु जी भगवान् श्रीहरि के निवासस्थान वैकुण्ठ में गये। उस समय भगवान् विष्णु लक्ष्मी जी की गोद में अपना सिर

रखकर लेटे हुए थे। भृगु जी ने जाकर उनके वक्षःस्थल पर एक लात कसकर जमा दी। भक्तवत्सल भगवान् विष्णु लक्ष्मी जी के साथ उठ बैठे और झटपट अपनी शय्या से उतरकर मुनि को सिर झुकाया, प्रणाम किया। भगवान् ने कहा-'ब्रह्मन्! आपका स्वागत है, आप भले पधारे। इस आसन पर बैठकर कुछ क्षण विश्राम कीजिये। प्रभो! मुझे आपके आगमन का पता न था। इसीसे आपकी अगवानी न कर सका। मेरा अपराध क्षमा कीजिये। महामुने! आपके चरणकमल अत्यन्त कोमल हैं' यों कहकर भृगु जी के चरणों को भगवान् अपने हाथों से सहलाने लगे। और बोले—महर्षे! आपके चरणों का जल तीर्थों को भी तीर्थ बनानेवाला है। आप उससे वैकुण्ठ लोक, मुझे और मेरे अन्दर रहनेवाले लोकपालों को पवित्र कीजिये। भगवन्! आपके चरणकमलों के स्पर्श से मेरे सारे पाप धुल गये। आज मैं लक्ष्मी का एकमात्र आश्रय बन गया। अब आपके चरणों से चिह्नित मेरे वक्षःस्थल पर लक्ष्मी सदा-सर्वदा निवास करेंगी।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—जब भगवान् ने अत्यन्त गम्भीर वाणी से इस प्रकार कहा, तब भृगु जी परम सुखी और तृप्त हो गये। भक्ति के उद्रेक से उनका गला भर आया, आँखों में आँसू छलक आये और वे चुप हो गये।

परीक्षित्! भृगु जी वहाँ से लौटकर ब्रह्मवादी मुनियों के सत्संग में आये और उन्हें ब्रह्मा, शिव और विष्णु भगवान् के यहाँ जो कुछ अनुभव हुआ था, वह सब कह सुनाया। भृगु जी का अनुभव सुनकर सभी ऋषि-मुनियों को बड़ा विस्मय हुआ, उनका सन्देह दूर हो गया। तबसे वे भगवान् विष्णु को ही सर्वश्रेष्ठ मानने लगे, क्योंकि वे ही शान्ति और अभय के उद्‌गमस्थान हैं। भगवान् श्रीहरि-विष्णु से ही साक्षात् धर्म, ज्ञान, वैराग्य, आठ प्रकार के

ऐश्वर्य और चित्त को शुद्ध करनेवाला यश प्राप्त होता है। शान्त, समचित्त, अकिञ्चन और सबको अभय देनेवाले साधु-मुनियों की वे ही एकमात्र परम गति हैं। ऐसा सारे शास्त्र कहते हैं। उनकी प्रिय मूर्ति है सत्त्व और इष्टदेव हैं ब्राह्मण। निष्काम, शान्त और निपुण बुद्धि (विवेकसम्पन्न) पुरुष उनका भजन करते हैं।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित्! सरस्वतीतट के ऋषियों ने अपने लिये नहीं, मनुष्यों का संशय मिटाने के लिये ही ऐसी युक्ति रची थी। पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों की सेवा करके उन्होंने उनका परमपद प्राप्त किया। —श्रीमद्भागवत १०-८९-१-२०

भगवान् विष्णु श्रीविहारी जी के अंशांश की प्रिय सत्त्वमयी मूर्ति हैं।

विचार देखौ—में एक और रहस्यमय भाव है कि श्रीविहारी जी सब ठाकुरों के ठाकुर-सब ईश्वरों के ईश्वर हैं।

सब ठाकुर कौ ठाकुर हरि।—गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी

आदि-मध्य-अन्त उन्हीं की एक सत्ता काम कर रही है। उनके बिना कुछ भी नहीं है। उनकी इच्छा ही एक-से अनेक बनती है और फिर अनेक-से एक हो जाती है। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि यह भी उनकी माया से प्रतीत होनेवाला भ्रम है। वस्तुत: वहाँ न एक-से अनेक होना हैं और न अनेक-से एक होना है। यह संशय भी नष्ट हो जाय, और कुछ भी रहे नहीं, एकमात्र नित्यविहारी जी ही अपने नित्यधाम श्रीवृन्दावन में नित्य, एकरस क्रीड़ायमान हैं; ऐसा ज्ञान जिनको हो जाय, उसीको विवेक कहते हैं।

इच्छा एक अनेक ह्वै, पुनि अनेक ह्वै एक।
श्रीबिहारीदास संसै नसै, ताकौ नाम विवेक॥६००॥

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी कहते हैं कि निर्गुण-सगुण उनकी इच्छा है, अर्थात् निर्गुण-सगुण का जितना विस्तार है, वह उनकी

इच्छा का खेल है। जिनकी इच्छा ही ऐसी दिव्य, चिन्मय, अद्भुत, अचिन्त्य शक्तिवान् है, वे इच्छावान् श्रीनित्यविहारी इनसे परे हैं।

निर्गुन सर्गुन इच्छा जान। इच्छावान् परे उनमान॥५०४॥

और आगे कहते हैं—

सकल ईस के ईस हैं, अंस कला अवतार।
श्रीकुंजबिहारी मुकुटमनि, अवतारी भरतार॥६७५॥

श्रीस्वामी ललितकशिोरीदेव जी

वे सब ईश्वरों के भी ईश्वर—शासक, स्वामी, कर्ता आदि हैं। जितने अवतार हैं, उनके अंश-कलामात्र हैं। वे श्रीकुंजविहारी सबके मुकुटों के मणिस्वरूप हैं-अर्थात् सबसे अत्यन्त श्रेष्ठ हैं और सब अवतारों के अवतारी तथा भर्ता—स्वामी, रक्षक और पालन-पोषण करनेवाले हैं।

निरगुन सरगुन आदि लौं, अंस कला अवतार।
ता मधि राजत राजरस, सब ही कौ करतार॥७३०॥

निर्गुण—परब्रह्म और सगुण ब्रह्म तथा आदि लौं-माने जितने धाम-धामी हैं, वे सभी तथा सभी अवतार श्रीनित्यविहारी के अंश-कलामात्र हैं। उन सभी के भीतर यह राजरस—सब रसों का राजा नित्यविहार रसस्वरूप श्रीनित्यविहारी विराज रहे हैं। ये श्रीनित्यविहारी सभी के कर्ता—स्वामी, भर्ता, शासक हैं। वे सभी इनके इच्छा-सूत्र में बँधे हैं अर्थात् इनकी इच्छानुसार अपने-अपने कार्य में रत हैं।

त्रिगुन परे माया परे, बिहरत जुगल किसोर।
अंस कला अवतार जे, सबही के चित चोर॥७३४॥

श्रीआचार्यचरण कहते हैं कि त्रिगुण से परे, चिन्मयी माया से परे—अति दूर अपने निजस्वरूप रसमय विलक्षण धाम में श्रीयुगल किशोर—नित्यविहारी नित्य-एकरस विहार करते हुए अपने रसिक-

अनन्य निजजनों-सखीजनों को सदा-सर्वदा परम विचित्र सुख देते रहते हैं। वे इतने विलक्षण सौन्दर्य, माधुर्य, रसमय हैं कि जो अंश-कला अवतार हैं, उनके और सबही-माने सभी दिव्य शक्तियों-ईश्वरों के भी चित्त को हरण करनेवाले चित्तचोर हैं, अर्थात् ये सभी उन पर आसक्त होकर उनकी प्रेमसहित उपासना करते हैं।

श्रीस्वामी पीताम्बरदेव जी कहते हैं-

जगत ब्रह्म तासौं कहैं, वेद नेति कहि गाय।
सो सुबास सी विपिन की, उपमा कौं न समाय॥१॥

जिनको सच्चिदानन्द घन परब्रह्म कहते हैं, जो जगत् के कारण हैं और जिनका वेद नेति-नेति कहकर गान करते हैं, वह श्रीवृन्दाविपिन की सुवास-सी है—अर्थात् अल्प अंशमात्र, आभामात्र है। उसकी भी उपमा-समता को कोई नहीं समा सकता; वही अमित, अगम, अगाध है।

ता सुगंध करि प्रगट वपु, दस अवतार अनंत।
श्रुति विधि नर अवतार ही, भजत रसिक वन कंत॥२॥

उस सुगन्ध से दश अवतार वपु--विग्रह जो अनन्त शक्ति, गुण, प्रतापसम्पन्न हैं, वे प्रकट हुए हैं। अथवा अनन्त अवतार प्रकट हुए हैं। उन अवतारसमूह की भक्ति करनेवाले वेद, ब्रह्मा, भक्तिभाव पूर्ण मनुष्य, ऋषि-मुनि भी और वे अवतार भी श्रीवृन्दावन के ईश्वर, स्वामी, रसिक-युगल को प्रेम-रसपूर्ण सरसभाव से भजते हैं।

कंत कामिनी विपिन की, अति प्रताप अति रूप।
सेवत सहचरि वपु धरैं, सब अवतार अनूप॥३॥

सब धामों के मुकुटमणि धाम श्रीवृन्दावन, जो सब धामों के धामी हैं। उन श्रीवृन्दाविपिन की अधीश्वरी स्वामिनी श्रीकुंजविहारिणी लाड़िली और उनके प्रियतम वृन्दावनेश्वर श्रीकुंजविहारी लाल इनका अत्यन्त महान् प्रताप है। और अन्य सब

प्रताप इनके अधीन एक अंशमात्र है। इनका रूप भी अतिमहान् है, अत्यन्त आकर्षक, मनोहारी है। सब अवतार, सभी धाम-धामी उनसे प्रकट-उत्पन्न हुए हैं, फिर भी उनके पास वे नहीं जा सकते, अपनी इच्छा से उनके निकट नहीं पहुँच सकते। वे अवतार जो अनूप हैं, जिनकी अचिन्त्य महिमा है, सब अपनी-अपनी टहल में, जो उन्हें दे रखी है, तत्पर रहते हुए, दिव्य लीला करते हुए भी सहचरीस्वरूप धारणकर श्रीवृन्दावनेश्वर युगलविहारी श्रीश्यामा-श्याम का सेवन करते हैं। ठीक है-नित्यविहारी अंशी हैं और सब धाम-धामी, सब अवतार अंश हैं। उनके अधीन है। उनके सेवक हैं। सेवा ही उनका स्वरूपधर्म है। इसलिये सभी अवतार, धामी आदि सहचरीस्वरूप से श्रीवृन्दावनचन्द्र श्रीयुगलवर की सेवा में तत्पर-तल्लीन रहते हैं।

श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी श्रीधाम वृन्दावन की महिमा वर्णन करते हुए कहते हैं-**अष्टपदी**

प्रथम महातम प्रकृति ज्ञान रवि तहाँ प्रकासै।
दूजे ब्रह्म प्रकास कोटि सूरज सम भासै॥
तीजे पंकज नाभि रमा वैकुंठ निवासी।
चौथे दशरथ-सुवन राम गोपुर के वासी॥
पाँचे ब्रज के गोप नन्द आदिक सब गोपीं।
छठवें सखी समाज करैं लीला रस ओपी॥
भगवत सतयें आवरन करहिं केलि राधारवन।
सर्वोपरि सर्वेस गुरु रसिकराय मंगल भवन॥४५॥

पहला आवरण-महान् तममयी प्रकृति है, वहाँ ज्ञानमय रवि प्रकाश करता है।

दूसरा आवरण-चिन्मय प्रकाशपूर्ण सच्चिदानन्द परब्रह्म है, जो करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान् है।

तीसरा आवरण-महावैकुण्ठ का है, जहाँ पद्मनाभ भगवान् नारायण लक्ष्मीसहित निवास करते हैं।

चौथा आवरण–गोपुर (गोलोक)-साकेत का है, जहाँ साकेतवासी दशरथ-नन्दन भगवान् श्रीराम निवास करते हैं।

पाँचवा आवरण–व्रज (गोलोक) का है, जहाँ व्रज के गोप–सखा–वृन्द, नन्द–यशोदा आदि और वात्सल्य भावमयी गोपीवृन्द निवास करते हैं।

छठा आवरण–शृंगार–रसभावमयी सखीसमाज-गोपीवृन्द का है, जो प्रेम-विह्वलता से युक्त महाभाव से परिपूर्ण तन्मय होकर महारास-रस-लीला करती हैं।

श्रीभगवतरसिकदेव जी कहते हैं कि सातवाँ आवरण इन सबसे परे अति विचित्र है, जहाँ श्रीराधारमण–युगलकिशोर-श्रीकुंजविहारी अष्ट सहचरीवृन्दों सहित दिव्य मधुर केलि-विहार-क्रीड़ा करते हैं। यह नित्यकिशोर निकुंज का आवरण कहलाता है।

इन सब आवरणों से परे और सर्वोपरि वह स्थल है, जो नित्यविहार-निकुंज रस कहलाता है, जहाँ सर्वेश–सब ईश्वरों के ईश्वर एवं सबके गुरु तथा रसिकराय–सब रसिकों के राजा सरस युगल-श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणी एवं श्रीयुगल के हृदय के प्रेम-रसस्वरूपा श्रीललितास्वरूप रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज का परम सरस मंगल भवन-निज धाम श्रीवृन्दावन-निकुंज महल है, जहाँ युगलकिशोर-श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि नित्य-निरन्तर नित्यविहार-क्रीड़ा करते रहते हैं।

ऐसा श्रीविहारी जी का परम विचित्र, अद्भुत महान्, सर्वोपरि सुयश है। वह और लोकों में नहीं है। वह यहीं, इसी भूपर ही सहज सुलभ है।

–: इति अष्ठम (८) पद का भावार्थ :–



अथ नवम पद—अवतरण

परम आचार्यचरण श्रीस्वामी जी महाराज इस नवें पद में यह सिद्धान्त दिखाते हैं कि बद्ध जीवों की संख्या अधिक है। वे अगणित जीव इस अपार संसारसागर में पड़े हुए कभी उछले हैं—ऊपर को आते हैं और कभी बूड़े हैं—नीचे को डूब जाते हैं। वे धर्म, अर्थ और काम में आसक्त हो रहे हैं। उनका पार होना बहुत कठिन है। सो इस दशा में जिन्होंने श्रीहरि—श्रीविहारी जी के चरण-कमल गहे हैं—पकड़ राखे हैं, वे ही इस संसारसमुद्र से पार होते हैं।

पद-संसार समुद्र मनुष्य मीन नक्र मगर और जीव बहु बंदसि।
मन बयारि प्रेरे सनेह फंद फंदसि॥
लोभ पिंजर लोभी मरजिया पदारथ चारि खंद खंदसि।
कहिं श्रीहरिदास तेई जीव पार भये
जे गहि रहे चरन आनंद नंदसि॥९॥

अर्थ—संसारसमुद्र है और मनुष्य मीन हैं तथा कोई मनुष्य नक्र हैं- माने मीन जो निबल, उनको दु:ख देते हैं एवं कोई उनसे प्रबल हैं, वे मगर हैं। इस प्रकार बहुत भाँति सों जीवों की बंदसि-माने रचना है।

वे जीव मनरूप वायु की प्रेरणा सों स्नेहरूप फंदे में फंद रहे हैं-अर्थात् फँस रहे हैं।

लोभरूप पिंजरा, उसमें लोभी जो जीव, सो मरजिया-माने पिंजरा में बैठकर समुद्र में सों रत्न निकालनेवाले गोताखोर हैं। वे संसारसमुद्र में से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पदार्थरूप रत्नों को निकालने का उद्योग करते हैं, तो भी एक पदार्थ का खण्ड, उसका भी खण्ड प्राप्त हो तो हो, पूर्ण पदार्थ तो किसीको भी नहीं मिलता है।

रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि इस संसारसागर से वे ही जीव पार हुए, जिनने आनन्द को

देनेवाले श्रीविहारीजी के चरण गहे—माने चरणों में चित्त लगाया। इसलिये संसारसमुद्र से पार होने का उपाय भगवच्चरण, चिन्तन, सेवन ही है।

मूल- संसार समुद्र मनुष्य मीन नक्र मगर और जीव बहु बंदसि।

अर्थ—संसारसमुद्र है और मनुष्य मीन हैं। जैसे मीन चंचल है, वैसे ही मनुष्य का मन भी चंचल है। मन के चंचल होने से आप भी स्थिर नहीं रहता है। कोई मनुष्य नक्र—घड़ियाल हैं, और मनुष्यरूप मीन जो निबल, उनको दुःख देते हैं तथा कोई उनसे भी प्रबल हैं, वे मगर हैं, अर्थात् मगर के समान हैं। इस प्रकार बहुत प्रकार से जीवों की बंदसि-माने रचना है।

भावार्थ—भाव यह है कि जैसे समुद्र में नाना भाँति के जल के जीव रहते हैं, वैसे ही संसारसागर में नाना प्रकार के मनुष्य हैं। समुद्र में जल है तो संसारसागर में विषयरूप जल है। कोई तो मनुष्य मछली के समान दिन-रात संसार के पापरूप विषयों में लीन हो रहे हैं। एक क्षण के लिये भी वे विषय-वारि से अलग नहीं होना चाहते। वे दुःखरूप विषयों में ही सुख मान रहे हैं, विषय की चाहना में दीन हो रहे हैं। जैसे मछली जल में रहती है, वहीं मरती है-पैदा होती है। वैसे ही वे विषयरूप जल में ही मरते हैं और उत्पन्न होते हैं।

जल के जीव जैसे महाजाल में पड़े हुए भी लालचवश एक-दूसरे को खाते रहते हैं। वे यह नहीं समझते कि उन सभी के नाश की घड़ी समीप ही आ रही है। यही दशा संसार में लगे हुए मनुष्यों की भी है। रात-दिन राग-द्वेष के वश में स्वार्थान्ध होकर एक-दूसरे का अहित चिन्तन करते रहते हैं। उन्हें यह नहीं सूझता कि उनके ये शरीर जिसके लिये वे परद्रोह कर रहे हैं, वह काल-जाल में शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है।

मूल- **मन बयारि प्रेरे सनेह फंद फंदसि।**

अर्थ—वे जीव मनरूप वायु की प्रेरणा से स्नेहरूप फंदे में फंद रहे हैं, अर्थात् फँस रहे हैं।

भावार्थ—भाव यह है कि संसारासक्त मनुष्य अपने चंचल मन की प्रेरणा से मोह-जाल में बंधे हुए नाना प्रकार के मनोरथ करते रहते हैं। जैसा कि श्रीमुख से आसुरी-प्रकृतिवालों के सम्बन्ध में कहा है कि—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ गीता १६-१२

वे आशा की सैकड़ों फाँसियों से बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोध के परायण होकर पदार्थों का भोग करने के लिये अन्यायपूर्वक धन-संचय करने की चेष्टा करते रहते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥१३॥

वे इस प्रकार के मनोरथ करते हैं कि इतनी वस्तुएँ तो हमने आज प्राप्त कर लीं और इस मनोरथ को प्राप्त (पूरा) कर लेंगे। इतना धन तो हमारे पास है ही, इतना धन फिर भी हो जाएगा।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥

वह शत्रु तो हमारे द्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओं को भी हम मार डालेंगे। हम ईश्वर (सर्वसमर्थ) हैं। हम भोग भोगनेवाले हैं। हम सिद्ध हैं। हम बड़े बलवान् और सुखी हैं।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥१५॥

हम धनवान् हैं, बहुत-से मनुष्य हमारे पास हैं, हमारे समान दूसरा कौन है? हम खूब यज्ञ करेंगे, दान देंगे और मौज करेंगे—इस तरह अज्ञान से मोहित रहते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥१६॥

कामनाओं के कारण तरह-तरह से भ्रमित चित्तवाले, मोह-जाल में अच्छी तरह से फँसे हुए तथा पदार्थों और भोगों में अत्यन्त आसक्त रहनेवाले मनुष्य भयंकर नरकों में गिरते हैं।

मूल- लोभ पिंजर लोभी मरजिया पदारथ चारि खंद खंदसि।

अर्थ–लोभरूप पिंजरा, उसमें लोभी जो जीव, वह मरजिया–माने पिंजरा में बैठकर समुद्र में सों रत्न निकालनेवाले गोताखोर हैं। वे संसार-समुद्र में सों धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पदार्थरूप रत्नों को निकालने का उद्योग करते हैं, तो भी एक पदार्थ का खण्ड, उसका भी खण्ड मिले तो मिले, पूर्ण पदार्थ तो तब भी नहीं मिलता है। कारण कि लोभरूप पिंजरा में स्थित हैं और स्वयं लोभी हैं।

भावार्थ–भाव यह है कि वे लौकिक और पारलौकिक सुख-ऐश्वर्य की ही चाहना में जीव बंधे रहते है। वे कामोपभोग की चाहनावाले जीव कंचन-कामिनी आदि मायिक पदार्थों में फँसे हुए ही मर जाते हैं और वासना के अनुकूल फिर जन्म लेते हैं। इस प्रकार बार-बार संसार में दुःख उठाते रहते हैं। चार पदार्थ–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष भी श्रीहरि-चरणारविन्द के आश्रय बिना सुख के कारण न होकर अन्त में दुःख ही देते हैं। क्योंकि इनकी भी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। काल-प्रभाव के अन्तर्गत होने के कारण इनसे परमानन्द की प्राप्ति तो होती नहीं, उलटे द्वेष, उद्वेग, अभिमान, मानसिक पीड़ा, कलह, दुःख और परिश्रम ही हाथ लगता है।

श्रीमद्भागवत में लिखा है–

अथ यो गृहमेधीयान्धर्मानेवावसन् गृहे।
काममर्थं च धर्मान् स्वान् दोग्धि भूयः पिपर्तितान्॥

भा. ३-३२-१

स चापि भगवद्धर्मात्काममूढः पराङ्मुखः।
यजते क्रतुभिर्देवान् पितृंश्च श्रद्धयान्वितः॥२॥

श्रीकपिलदेव जी कहते हैं—माता जी! जो पुरुष घर में रहकर सकाम-भाव से गृहस्थ के धर्मों का पालन करता है और उनके फलस्वरूप अर्थ एवं काम का उपभोग करके फिर उन्हींका अनुष्ठान करता रहता है, वह तरह-तरह की कामनाओं से मोहित रहने के कारण भगवद्धर्मों से विमुख हो जाता है और यज्ञोंद्वारा श्रद्धापूर्वक देवता तथा पितरों की आराधना करता रहता है।

तच्छ्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान्।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति॥३॥

उसकी बुद्धि उसी प्रकार की श्रद्धा से युक्त रहती है, देवता और पितर ही उसके उपास्य रहते हैं; अतः वह चन्द्रलोक में जाकर उनके साथ सोमपान करता है और फिर पुण्यक्षीण होने पर इसी लोक में लौट आता है।

प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः।
हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः॥

भा. ११-७-२७

ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य आयु, यश अथवा सौन्दर्य-सम्पत्ति आदि की अभिलाषा लेकर ही धर्म, अर्थ, काम अथवा तत्त्व-जिज्ञासा में प्रवृत्त होते हैं, अकारण कहीं किसीकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती।

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥

भा. १०-२-३२

कमलनयन! जो लोग आपके चरणकमलों की शरण नहीं लेते तथा आपके प्रति भक्तिभावरहित होने के कारण जिनकी बुद्धि

भी शुद्ध नहीं है, वे अपने को झूठ-मूठ मुक्त मानते हैं। वास्तव में वे बद्ध ही हैं। वे यदि बड़ी तपस्या और साधना का कष्ट उठाकर किसी प्रकार ऊँचे-से-ऊँचे पद पर भी पहुँच जायँ, तो भी वहाँ से गिर जाते हैं।

श्रीआचार्यचरण कहते हैं–

जासौं सपरस चाहिये तासौं अपरस नित्त।
जासौं अपरस चाहिये तासौं चिभुकौ चित्त॥
तासौं चिभुकौ चित्त भई विपरीत बुद्धि अब।
असन बसन परिवार कनक कामिनि राचे सब॥
भगवत रसिक अनन्य करैं स्पर्धा तासौं।
पतित होइ गिरि परै परम पद हू तें जासौं॥२१॥

जासौं सपरस चाहिये–अर्थात् जिस श्रीहरि के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम और सन्त संग आदि से तन, मन, वचन, सर्वात्मा से तत्पर, तन्मय होकर लगे रहना-सेवन करना, यह होना चाहिये, उससे तो नित्य–सदा-सर्वदा अपरस-माने दूर, अनभिज्ञ-माने जानते ही नहीं, ऐसे रहते हैं और जिस शरीर और संसार की (शरीर के विषय और परिवार आदि की) आसक्ति से दूर रहना चाहिये, उससे चित्त चिभुका–डूबा, सना रहता है। अब–इस समय इनकी विपरीत–उलटी बुद्धि हो गई है, अर्थात् सत्य को असत्य, दुःखरूप को सुखरूप माननेवाली बुद्धि हो गई है। इसलिये सब अशन–खान-पान भोगादि, वसन–उत्तम वस्त्र-श्रृंगार आदि, परिवार–गृह कुटुम्ब आदि, कनक–धन-सम्पत्ति, पदादि और कामिनि–स्त्री-विषय भोगादि में राचे–आसक्त, मूढ़ हो रहे हैं।

श्रीस्वामी भगवतरसिक जी कहते हैं कि यदि रसिक-अनन्य प्रेमी-उपासकजन इन लोगों से स्पर्धा–ईर्ष्या-होड़ करने लगें कि हमें

भी ये वस्तु मिलें तो वे पतित–विमुख, प्रेमपात्र के योग्य न होकर परम पद से गिर पड़ेंगे; क्योंकि उनका मन ही अपने इष्ट सों विमुख हो गया, प्रेम से हीन हो गया। प्रेम में तो एक चाह, एक गति, एक मति, एक सन्तुष्टि होती है। इसलिये प्रेमी-उपासक-भक्तजन अपने इष्ट की सेवा-संग-दर्शन के बिना अन्य इच्छाओं की स्फुरणा भी मन में नहीं होने देते हैं, बल्कि उनके मन में इष्ट के अलावा अन्य स्फुरणा भी होती ही नहीं है। श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी इस प्रेम–अनन्य गति की टेक-प्रण के विषय में कहते हैं–

श्रीस्वामी हरिदास बिनु, जो अन्त कहूँ मन जाय।
तहाँ निरादर तासु छिन, गये फेरि पछिताय॥३५७॥

रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी की अनन्यता के बिना, उनके भावानुसार नित्यकेलि की उपासना बिना जो अन्त–अन्य जगह–लोक-परलोक, अन्य रस-उपासना को प्रिय मान, सुख मानकर मन गया, तो वहाँ–निजदेश में निरादर हो जाता है, वे अपना न मान, अपने योग्य न मान त्याग देते हैं। स्वभाववशात् मन चला तो गया, फिर पछताना पड़ता है। इसलिये उपासकजन दु:ख, अभावमय कष्ट उठाते हुए भी अन्य इच्छा नहीं करते हैं, तभी प्रेम के सच्चे पात्र–अधिकारी होते हैं।

मूल- **कहिं श्रीहरिदास तेई जीव पार भये**
जे गहि रहे चरन आनन्द नंदसि॥९॥

अर्थ–रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि संसारसागर से वे ही जीव पार हुए, जिन्होंने आनन्द को देनेवाले श्रीविहारी जी के चरण गहे–अर्थात् चरणकमलों में चित्त लगाया। इसलिये संसारसमुद्र से पार होने का उपाय भगवच्चरण-चिन्तन, सेवन ही है।

भावार्थ—भाव यह है संसारसमुद्र अगम, अगाध (अथाह) और असीम है। इस कारण इसको पार कर जाना जीव की सामर्थ्य के बाहर है, क्रियासाध्य नहीं, कृपासाध्य है। इसलिये जिसको अपने बल का भरोसा है, वह अपने ही बल से तरना चाहेगा। वह उसीमें बहता फिरेगा, पार नहीं जा सकता। उसके लिये पार होना असम्भव है तथा जिन जीवों ने परमानन्द को देनेवाले श्रीविहारी जी के चरणों का आश्रय ग्रहण किया, वे अनायास ही संसारसागर से पार हो गये। जैसे समुद्र को पार करने के लिये जहाज का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक है, उसी प्रकार भवसंतरण का असाधारण साधन केवल श्रीहरि-श्रीविहारी जी के चरणाश्रित होना—चरण-चिन्तन, सेवन करना आवश्यक है।

श्रीमद्‌भागवत में कहा है—

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्याकर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपिरुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

भा. ४-२२-३९

सन्त-महात्मा जिनके चरणकमलों के अङ्गुलिदल की छिटकती हुई छटा का स्मरण करके अहङ्काररूप हृदयग्रन्थि को, जो कर्मों से गठित है, इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर डालते हैं कि समस्त इन्द्रियों का प्रत्याहार करने, अपने अन्तःकरण को निर्विषय करनेवाले संन्यासी भी वैसा नहीं कर पाते। क्योंकि वे रिक्तमति हैं, अर्थात् भगवद्भाव से रहित हैं। तुम उन सर्वाश्रय भगवान् वासुदेव का भजन करो।

कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरषन्ति।
तावं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम्॥४०॥

जो लोग मन और इन्द्रियरूप मगरों से भरे हुए इस संसारसागर को योगादि दुष्कर साधनों से पार करना चाहते हैं, उनको उस पार

पहुँचना कठिन ही है; क्योंकि उन्हें कर्णधाररूप श्रीहरि का आश्रय नहीं है। अतः तुम तो भगवान् के आराधनीय चरणकमलों को नौका बनाकर अनायास ही इस दोष-दुःखपूर्ण दुस्तर समुद्र को पार कर लो।

देवताओं द्वारा गर्भस्तुति में कहा गया है–

त्वय्यम्बुजाखिलसत्त्वधाम्नि समाधिनाऽऽवेशितचेतसेकै।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम्॥

भा. १०-२-३०

कमल के समान कोमल अनुग्रहभरे नेत्रोंवाले प्रभो! कुछ बिरले लोग ही आपके समस्त पदार्थों और प्राणियों के आश्रयस्वरूप रूप में पूर्ण एकाग्रता से अपना चित्त लगा पाते हैं और आपके चरणकमलरूपी जहाज का आश्रय लेकर इस संसारसागर को बछड़े के खुर के गढ़े के समान अनायास ही पार कर जाते हैं। क्यों न हो, अबतक के संतों ने इसी जहाज से संसारसागर को पार जो किया है।

स्वयं समुत्तीर्य सदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्॥३१॥

परम प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आपके भक्तजन सारे जगत् के निष्कपट प्रेमी, सच्चे हितैषी होते हैं। वे स्वयं तो भयङ्कर और कष्ट से पार करनेयोग्य संसारसागर को पार कर ही जाते हैं, किन्तु औरों के कल्याण के लिये भी वे यहाँ आपके चरणकमलों की नौका स्थापित कर जाते हैं। वास्तव में सत्पुरुषों पर आपकी महान् कृपा है। उनके लिये आप अनुग्रहस्वरूप ही हैं।

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम्।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः॥

भा. १०-८७-२०

श्रुतियाँ कहती हैं—प्रभो! जीव जिन शरीरों में रहता है, वे उसके कर्म के द्वारा निर्मित होते हैं और वास्तव में उन शरीरों के कार्य-कारणरूप आवरणों से वह रहित है, क्योंकि वस्तुतः उन आवरणों की सत्ता ही नहीं है। तत्त्वज्ञानी पुरुष ऐसा कहते हैं कि समस्त शक्तियों को धारण करनेवाले आपका ही वह स्वरूप है। स्वरूप होने के कारण अंश न होने पर उसे अंश कहते हैं और निर्मित न होने पर भी निर्मित कहते हैं। इसीसे बुद्धिमान् पुरुष जीव के वास्तविक स्वरूप पर विचार करके परम विश्वास के साथ इस पृथ्वी पर आपके चरणकमलों की उपासना करते हैं। क्योंकि आपके चरण ही समस्त वैदिक कर्मों के समर्पणस्थान और मोक्षस्वरूप हैं।

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविमृष्टगृहाः॥ २१॥

भगवन्! परमात्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना अति कठिन है। उसीका ज्ञान कराने के लिये आप विवध प्रकार के अवतार ग्रहण करते हैं और उनके द्वारा ऐसी लीला करते हैं, जो अमृत के महासागर से भी मधुर और मादक होती हैं। जो लोग उसका सेवन करते हैं, उनकी सारी थकावट दूर हो जाती है, वे परमानन्द में मग्न हो जाते हैं। कुछ प्रेमी भक्त तो ऐसे होते हैं, जो आपकी लीला-कथाओं को छोड़कर मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं करते, स्वर्ग आदि की तो बात ही क्या है। वे आपके चरणकमलों के प्रेमी परमहंसों के सत्संग में, जहाँ आपकी कथा होती है, इतना सुख मानते हैं कि उसके लिये इस जीवन में प्राप्त अपनी घर-गृहस्थी का भी परित्याग कर देते हैं।

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्दसौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः॥

भा. ४-९-१२

कमलनाभ प्रभो! जिनका चित्त आपके चरणकमल की सुगन्ध में लुभाया हुआ है, उन महानुभावों का जो लोग संग करते हैं, वे अपने इस अत्यन्त प्रिय शरीर और इसके सम्बन्धी पुत्र, मित्र, गृह और स्त्री आदि की सुधि भी नहीं करते।

अथवा श्रीस्वामी जी महाराज श्रीप्रियाचरणप्रधान महामधुर भाव का उपदेश दे रहे हैं कि श्रीप्रिया जी के चरण सेवन से ही महामधुर शृंगाररस—नित्यविहाररस-सेवासुख की प्राप्ति होगी। आनन्दनंदसि—आनन्दरूप श्रुति में वर्णित है—**नित्य विज्ञानं आनन्दं ब्रह्मेति**—नित्य विज्ञानवपु आनन्दरूप श्रीकृष्ण श्रीविहारी जी, उनको भी आनन्द देनेवाली श्रीस्वामिनी-श्रीकिशोरी जी, उनके चरण जे गहि रहे-अर्थात् जो श्रीराधा-निकुंजेश्वरी जी के चरण-उपासक हैं; वे जीव संसारसागर से सहज पार होते हैं एवं निज सेवारूप परमानन्द को प्राप्त करते हैं।

रसिकवर श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी कहते हैं—

लड़ैती तेरे चरन महा सुखदाई।
जिनहिं निरखि लाल भये प्रीतम करत केलि मन भाई॥
कबहुँक सपरस करि आनन्द में राखत कंठ लगाई।
तेई चरन हमारे मस्तक अब डर करै बलाई॥१२४॥

हे श्रीकुंजविहारिणि लड़ैती लाड़िली! तुम्हारे चरण महान्—परम प्रेम-सुख को देनेवाले हैं। इन्हीं श्रीचरणों को देखकर—सेवनकर लाल—नवकिशोर, नवदूलह श्रीकुंजविहारी प्रियतम हुए हैं। अर्थात् परम प्रेम-विलासरस को प्राप्तकर तुम्हारे परम लाड़िले नवदूलह हुए हैं तथा परमरस रहस्य केलि-कला में निपुण होकर तुम्हारे मन की रुचि-अनुसार मनभायी केलि-विहार करते हैं। कभी तुम्हारे अनुराग-रसमयी केलि-कला-रसवर्षण से रीझकर—कृतज्ञ-दीन होकर इन चरणों का स्पर्श करते हैं-सहलाते हैं और आनन्द से परिपूर्ण

होकर-रीझकर कण्ठ में लगाये रहते हैं। इन्हीं चरणों के बल पर नित्यविहार-केलि रससिन्धु में वे सदा किल्लोल करते रहते हैं।

श्रीआचार्यचरण कहते हैं कि वे ही चरण कमल अभय प्रद, मंगलप्रद, प्रेमरसानन्दप्रद हैं। अब कोई बला-आफत, विपत्ति, बाधा आदि लगी हो, तो डर करे, अर्थात् कौन डर करे? अब श्री किशोरी की कृपा के बल सदा-सर्वदा सर्वथा (सब प्रकार से) निडर हैं।

श्रीआचार्यचरण अभय एवं प्रेम-रस प्रदायिनी भक्ति तत्त्व का उपदेश करते हुए कह रहे हैं-

ऐसे मरि जो बहुरि न मरिये। चरन कमल चिन्ता चित धरिये॥
श्रीगुरु गोविन्द आज्ञा नित करिये। तिहिं प्रताप फिर जठर न जरिये॥
औषदि वैद पथ्य उपचारु। यहै सार हरि भजन विचारु॥
निहकपटै निहकाम निरन्तर। भजि बिहार प्रिया वन अभिअन्तर॥
इते जतन कहि कातें डरिये। जागत खसम न सम्पति हरिये॥
जो सेवै सब दिन इहि आसा। तौ भै तरि पार बिहारिनिदासा॥७॥

जो तुम्हें दुःख से, या श्रम आदि से मर मिटना है, तो ऐसे मरो, जिससे फिर जन्म लेकर मरना न पड़े, अर्थात् ऐसा साधन करो, जिससे आवागमन-जन्म-मरण का चक्र ही न रहे, वह ही समाप्त हो जाय। वह साधन है-अभयप्रद, प्रेम-भक्तिप्रद, दिव्य लीला-केलि-विहाररसप्रद श्रीहरि के नाम का जप-स्मरण करते हुए चित्त में चरणकमलों की चिन्ता को धारण करना। अर्थात् नित्य-निरन्तर प्रेम-भक्ति-भावपूर्वक चित्त से चरणकमलों का चिन्तन करना, सेवन करना। साथ ही गोविन्दरूप श्रीगुरु की आज्ञा का नित्य पालन करना, अर्थात् उनकी आज्ञा के अनुसार तन-मन सर्वात्मा की क्रिया-आचरण को करना चाहिये। इस प्रकार श्रीगुरु-आज्ञा में रहते हुए भजन करोगे तो तिहिं-उस श्रीगुरु के-भजन के प्रताप से फिर

जठर–माँ के पेट की जठराग्नि में न जलोगे, अर्थात् जन्म-मरणरूप चक्र से छूटकर नित्यधाम में श्रीहरि की सेवा में पहुँच जाओगे।

भवसागर से पार होने की एकमात्र औषधि, सन्मार्ग दिखानेवाले गुरुरूप वैद्य, वैराग्य-त्याग-सद्गुण-सदाचाररूप पथ्य–अनुकूल सेवन और महामोहरूप जीवभाव के रोग का उपचार–इलाज-इन चारों का स्वरूप यही है कि ज्ञान-वैराग्य-योग आदि सब साधनों का सार श्रीहरि का भजन, सेवन-चिन्तन करना; यही विचार, यही निर्णय कर।

इसमें सदाचार–सत्पुरुषों के आचरण-क्रिया-व्यवहार की परमावश्यकता है। उसमें दो गुण मुख्य हैं–एक, निष्कपटता। प्रत्येक वस्तु-व्यक्ति के भीतर-बाहर सर्वत्र श्रीहरि विराजमान हैं, इस भावदृष्टि से निष्कपटता–निश्छलता, निर्वैरता, निर्दोषता सहज आ जाती है। दूसरा, निष्कामता। एकमात्र श्रीहरि ही अपने हैं। वे ही सत्य, आनन्दमय और नित्य साथी हैं तथा और सब असत्य, दु:खरूप और स्वप्नवत् हैं, इस भाव से सहज ही निष्कामता आ जाती है। इस प्रकार निष्कपट, निष्कामतापूर्वक निरन्तर अपने अन्त:करण में श्रीवृन्दावन-नव निकुंज महल में परम मधुर रस-विलासी श्रीकुंजविहारी के संग श्रीकुंजविहारिणी लाड़िली-प्रिया के महाप्रेमरसामृत सिन्धुरूप नित्यविहार-विलास को भजो–विहार-विलास का भजन-सेवन करो।

इतने यत्न–साधन, उपाय प्राप्त हो जायँ, बन जायँ, तो आचार्यचरण कहते हैं–फिर तुम ही कहो, किससे डरना? अर्थात् फिर डर नाम की वस्तु ही नहीं रहती। क्योंकि वह सावधान हो गया, जाग्रत हो गया। दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं–जैसे कोई गृहस्वामी जाग रहा हो, तो फिर चोर चोरी नहीं कर सकते, वे भाग जाते हैं। ऐसे ही जो सुदृढ़तया सावधानतापूर्वक भजन कर रहा है, तो उसके

हृदय में इष्ट विराजमान हैं ही, उनके प्रताप से विवेक जागृत है ही, फिर मायिक चोर कैसे प्रवेश कर सकते हैं?

जो सब दिन दृढ़तापूर्वक इस प्रकार एक अनन्य आशा (उनकी प्राप्ति की, सेवा की एक आशा) को लिये उनका सेवन-भजन करते हैं, तो वह गौ के बछड़े के खुर के गढ़े के समान भवसिन्धु को सहज पार करके श्रीविहारिणि के दास बन जाते हैं, अर्थात् उनकी दासी-सहचरी बनकर निकट श्रीयुगल की सेवा में पहुँच जाते हैं।

-: इति नवम (९) पद का भावार्थ :-



अथ दशम पद—अवतरण

कृष्णेति मङ्गलनाम यस्य वाचिप्रर्वततते।
भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातककोटयः॥

विष्णुधर्म॥

हे राजेन्द्र! यह मंगलमय—परम कल्याण-परम प्रेमरसानन्दमय कृष्ण नाम जिसकी जिह्वा—जीभ पर नृत्य करता है, उसके तो करोड़ों—असंख्यों महापापराशि भी भस्मीभूत हो जाती है। क्योंकि पापों के कारण हृदय मलिन रहता है और मलिन हृदय में भगवत्प्राप्ति-भगवद्भक्ति की शुद्ध इच्छा उत्पन्न नहीं हो पाती। परन्तु भगवन्नाम हृदय को निर्मल करके अपने विहार के योग्य स्थल बना लेता है।

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया लीलाकथास्तव नृसिंह विरञ्चिगीताः।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन्गुणविप्रमुक्तो दुर्गाणि ते पदयुगलायहंससङ्गः॥

भा. ७-९-१८

श्रीप्रह्लाद जी स्तुति करते हुए भगवान् श्रीनृसिंह से कह रहे हैं—प्रभो! आप हमारे प्रिय हैं। अहैतुक हितैषी सुहृद् हैं। आप ही वास्तव में सबके परमाराध्य हैं। मैं ब्रह्माजी के द्वारा गायी हुई आपकी लीला-कथाओं का गान करता हुआ बड़ी सुगमता से रागादि प्राकृत गुणों से मुक्त होकर इस संसार की कठिनाइयों को पार कर जाऊँगा, क्योंकि आपके चरण-युगलों में रहनेवाले भक्त परमहंस महात्माओं का संग तो मुझे मिलता ही रहेगा।

इत्यादि वचनों से भगवन्नाम का उच्चारण करना, सेवन-स्मरण करना परमावश्यक है। विशेषतः कलियुग में साधक के लिये यही एक साधन है। क्योंकि ज्ञान, वैराग्य, योग आदि ऐसा कोई साधन नहीं है, जो हृदय को सर्वथा निर्मल करके प्रेम-भक्ति के योग्य बना दे।

एकमात्र नाम-जप, नाम-स्मरण, सेवन ही हृदय को स्वच्छ-निर्मलकर प्रेम-भक्ति से भरपूर करके श्रीहरि के लिये क्रीड़ा-विलास के योग्य बना देता है। सो रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज इसीका उपदेश दशवें पद द्वारा करते हैं।

पद-हरि के नाम कौ आलस कत करत है रे
काल फिरत सर साँधे।
बेर कुबेर कछु नहिं जानत चढ़्यौ रहत है काँधे॥
हीरा बहुत जवाहर संचे कहा भयौ हस्ती दर बाँधे।
कहिं श्रीहरिदास महल में बनिता बनि ठाढ़ी भई
एकौ न चलत जब आवत अंत की आँधे॥१०॥

अर्थ—रे—माने अरे प्राणी! हरि—माने जो पापों को हरण करनेवाले हैं, मन को हरण करनेवाले हैं, तू उन श्रीहरि के नाम-स्मरण, जप, कीर्तन करने में आलस कत—माने क्यों करता है? प्रबल काल मारने के लिये तेरे पीछे बाण चढ़ाये हुए घूम रहा है; अर्थात् मृत्यु तेरे माथे पर नाच रही है। वह काल बेर—माने समय, कुबेर माने—असमय, इसका कोई विचार नहीं करता। वह नित्य ही तेरे कंधे पर चढ़ा रहता है। तुझे इस बात की खबर नहीं! सो भगवद्भजन फिर कर लूँगा, ऐसे आलस मत कर।

रे नर! यदि तूने बहुत-से हीरा और जवाहरात—मणि-माणिक्य आदि ऋद्धि-सिद्धि भी संचित—संग्रह कर लीं, तो क्या हुआ? और हाथी भी दरवाजे पर बाँध लिये, तो क्या हुआ? अर्थात् इनसों कुछ भी कल्याण नहीं होता है।

रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि तेरे महल में बनिता—माने स्त्री, सुन्दर स्त्री बनिके—माने वस्त्र आभूषण आदि धारणकर—सुसज्जित होकर अगवानी करने के लिये

खड़ी हुई, तो भी क्या हुआ? अर्थात् जब अन्त–माने मृत्यु की आँधी आती है, तब एक भी उपाय नहीं चलता, इनकी कुछ भी नहीं चलती, न ये कोई रक्षा कर सकते हैं, अथवा कोई एक भी साथ नहीं चलता है। इससे इनके लिये प्रयास करना व्यर्थ है तथा एकमात्र भगवद्भजन करना ही सार है।

मूल—हरि के नाम कौ आलस कत करत है रे काल फिरत सर साँधे।

अर्थ—अरे प्राणी! हरि–माने जो सब पापों को हरनेवाले हैं और मन को, सर्वस्व को हरनेवाले हैं, तथा परम प्रेमस्वरूप हैं, तू उनके नाम-स्मरण, जप, कीर्तन करने में आलस क्यों करता है कि फिर कर लूँगा। तू जानता नहीं कि काल तेरे को मारने के लिये बाण चढ़ाये हुए घूम रहा है, फिर तेरा निर्वाह, बचाव कैसे होगा? इसलिये सब सुख के दानी, परम रक्षक, हितू श्रीहरि-श्रीविहारी जी के नाम का निरन्तर स्मरण कर, जप कर, कीर्तन कर।

भावार्थ—इस विषय में प्रमाण देते हैं–

मृत्युर्जन्मतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्यर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥

भा. १०-१-३८

वीरवर! जो जन्म लेते हैं, उनके शरीर के साथ ही मृत्यु भी उत्पन्न होती है। आज या सौ वर्ष के बाद–जो प्राणी है, उसकी मृत्यु होगी ही।

न देहिनां सुखं किञ्चित् विद्यते विदुषामपि।
तथा च दुःखं मूढानां वृथाहङ्करणं परम्॥

भा. ११-१०-१८

(यदि यह कहा जाय कि जो भलीभाँति कर्म करना जानते हैं, वे सुखी रहते हैं और जो नहीं जानते उन्हें दुःख भोगना पड़ता

है तो यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि) ऐसा देखा जाता है कि बड़े-बड़े कर्मकुशल विद्वानों को भी कुछ सुख नहीं मिलता और मूढ़ों का भी कभी दुःख से पाला नहीं पड़ता। इसलिये जो लोग अपनी बुद्धि या कर्म से सुख पाने का घमंड करते हैं, उनका वह अभिमान व्यर्थ है।

को न्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः॥२०॥

जब मृत्यु उनके सिर पर नाच रही है, तब ऐसी कौन-सी भोग-सामग्री या भोग-कामना है जो सुखी कर सके? भला, जिस मनुष्य को फाँसी पर लटकाने के लिये वधस्थल पर ले जाया जा रहा है, उसे क्या फूल, चन्दन, स्त्री आदि पदार्थ सन्तुष्ट कर सकते हैं? कदापि नहीं। (अतः पूर्वोक्त मतवालों की दृष्टि से न सुख ही होगा और न जीव का कुछ पुरुषार्थ ही रहेगा)।

गृहेषु विहरन्तं पृष्ठत एव परोक्षमनुप्रवृत्तो लुब्धकः कृतान्तोऽन्तःशरेण।
यमिह पराविध्यति तमिममात्मानमहो राजन् भिन्नहृदयं द्रष्टुमर्हसीति॥

भा. ४-२९-५४

राजन्! सामने ही भेड़ियों के झुंड के समान काल के अंश दिन और रात तुम्हारी आयु को हर रहे हैं, परन्तु तुम उनकी कुछ भी परवा न कर गृहस्थी के सुखों में मस्त हो रहे हो। तुम्हारे पीछे गुप-चुप लगा हुआ शिकारी काल अपने छिपे हुए बाण से तुम्हारे हृदय को दूर से ही बींध डालना चाहता है।

तमोगुण का स्वरूप है अज्ञान। उसका स्वभाव है आलस्य और बुद्धि की मूढ़ता। जब वह बढ़कर सतोगुण और रजोगुण को दबा लेता है, तब प्राणी नाना प्रकार की आशा करता है, शोक-मोह में पड़ जाता है। अथवा निद्रा-आलस्य के वशीभूत होकर सो जाता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥

गीता १४-८

और हे अर्जुन! सम्पूर्ण देहधारियों को मोहित करनेवाले तमोगुण को तुम अज्ञान से उत्पन्न होनेवाला समझो। वह प्रमाद अर्थात् इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की व्यर्थ चेष्टा, आलस्य अर्थात् कर्तव्य-कर्म में अप्रवृत्तिरूप निरुद्यमता और निद्रा के द्वारा (देह के साथ अपना सम्बन्ध माननेवालों को) बाँधता है।

संसार में फँसे हुए चित्तवाले मनुष्यों का अधिकांश समय व्यर्थ-चिन्तन तथा व्यर्थालाप में ही व्यतीत होता है। श्रीहरि-नाम स्मरण जैसे सुगम साधन में जो चलते, फिरते, बैठते, उठते, प्रत्येक कार्य के करते हुए भी सर्वावस्था में भी अनायास हो सकता है, उनकी प्रवृत्ति नहीं होती है। मूढ़ मनुष्य जीवन का प्रधान लक्ष्य श्रीहरि के साक्षात्कार से विमुख होकर जगत् के नाशवान्, दुःखरूप विषयों के संग्रह में ही अपने अमूल्य जीवन को नष्ट कर देते हैं। यदि श्रीहरि की कृपा से सत्संगद्वारा उन्हें अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का निश्चय हो भी जाता है, तो जन्म-जन्म के बुरे संस्कार और दीर्घकालीन अभ्यास उनके चित्त को सांसारिक पदार्थों की ओर खींचता रहता है। वे भगवत्-भजन जैसे मुख्य कर्तव्य-कार्य को आगे के लिये टालते रहते हैं। उन प्राणियों के मस्तिष्क में ऐसे ही विचार उठते रहते हैं कि अमुक कार्य से छुट्टी पावें, अमुक कार्य हो जाये, तब भजन करें। ऐसे लोग अपने अनुकूल समय की चाहना करते रहते हैं और उसके आने के पहले ही वे अभागे स्वयं संसार को छोड़कर चले जाते हैं। ऐसे ही आलसी लोगों की ओर लक्ष्य करके श्रीस्वामी जी महाराज कड़ी चेतावनी देते हुए शीघ्र ही श्रीहरि-नाम का आश्रय ग्रहण करने का उपदेश करते हैं।

भाव यह है कि सतयुग में ध्यान करके, त्रेता में यज्ञ करके और द्वापर में पूजा करके लोग संसारसागर से पार जाते रहे, इन लोगों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ता रहा। परन्तु कलियुग दोष का निधि (खजाना) होने पर भी इसमें एक महान् गुण है। वह यह कि केवल श्रीहरि के नाम के आश्रय से ही समस्त आसक्ति-वासनाओं से मुक्त होकर प्राणी श्रीहरि को प्राप्त कर लेते हैं। एक विशेष बात और है, वह यह कि श्रीहरि-नाम के लेने में देश, काल, पात्र आदि का भी नियम नहीं है। सब अवस्था में, सब समय श्रीहरि-नाम लिया जा सकता है और सब कोई ले सकते हैं। ऐसे सर्वोत्तम अत्यन्त सुगम साधन में भी प्रवृत्त न होना महामूर्खता और दुर्भाग्य है। मरने का कोई ठिकाना नहीं, न जाने मौत कब आ जाय? कहा भी है–

श्वकार्यमद्यकुर्वीत पूर्वाह्ने चापराह्निकम्।
नहि प्रतीक्षणे मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम्॥

महाभारत

जो काम कल करना है, उसे आज कर लो और जो दिन के पिछले पहर में करना है, उसे पहले पहर में कर लो; क्योंकि तुम्हारा काम हुआ या नहीं हुआ मृत्यु इसकी बाट नहीं देखती–प्रतीक्षा नहीं करती।

ऐसा विचारकर सब समय श्रीहरि–श्रीयुगल नाम की रट लगी रहनी चाहिये।

सुगमं भगवन्नाम जिह्वा वशवर्तिनी।
तथापि नरकं याति किमाश्चर्यमतः परम्॥

महाभारत

अनेक पाप-राशियों को अनायास ही जलाकर भस्म कर देने में समर्थ, परम पावन परम प्रेम-रसमाधुर्यमय श्रीहरि-नाम अत्यन्त सुगम-सहज प्राप्त है तथा मुख में जीभ भी अपने अधीन ही है, तो भी प्राणी नरक जा रहे हैं; इससे बड़कर और क्या आश्चर्य है?

मूल- **बेर कुबेर कछु नहिं जानत चढ़्यौ रहत है काँधे।**

अर्थ—वह काल बेर-अर्थात् समय और कुबेर-अर्थात् असमय, इसका कोई विचार नहीं करता। वह तो नित्य ही तेरे कंधे पर चढ़ा रहता है। तुझे इस बात की खबर नहीं! सो श्रीहरि का भजन फिर कर लूँगा, इस प्रकार आलस्य मत कर।

भावार्थ—भाव यह है कि संसार में मनुष्य-जन्म मिलना बहुत दुर्लभ है। इसके द्वारा परमानन्दस्वरूप श्रीविहारी जी की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु इस शरीर की कोई निश्चित अवधि नहीं है। पता नहीं, कब चल बसे। कराल काल यह नहीं देखता है कि यह अभी बालक है या जवान है, या इसको अभी घर के कामों से अवकाश नहीं है, इसके बिना बहुत-से लोग निराधार हो जायेंगे। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह अपने जीवन का भरोसा न करके संसार के सब कामों को छोड़कर शीघ्र से शीघ्र श्रीहरि-नाम की शरण ले ले। जो प्राणी यह सोचता है कि अभी तो हमारी अवस्था काम करने या भोग भोगने की है, जब अवस्था ढल जायेगी, तब भजन करेंगे, वे वास्तव में बड़े भ्रम में पड़े हैं। श्रीप्रह्लाद जी असुरबालकों को उपदेश कर रहें है कि—

ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम्॥

भा. ७-६-५

हमारे शिरपर अनेकों प्रकार के भय सवार रहते हैं। इसलिये यह शरीर-जो भगवत्प्राप्ति के लिये पर्याप्त है—जबतक रोग-शोकादि से ग्रस्त होकर मृत्यु के मुख में नहीं चला जाता, तभीतक बुद्धिमान् पुरुष को अपने कल्याण के लिये प्रयत्न कर लेना चाहिये।

इस विषय में एक दृष्टान्त देते हैं कि एक मकरन्दलुब्ध भ्रमर कमल-कोष में बैठा हुआ मधुपान कर रहा था। संध्या हो गई

और कमल सिकुड़कर बन्द हो गया। वह कमल में बन्द भौंरा अब मन ही मन सोचने लगा कि—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं वितर्कयति कोषगते द्विरेफे हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥

रात बीतेगी, सुन्दर प्रभात होगा, सूर्य उदय होंगे, तब कमल खिल जायेगा और मैं निकल जाऊँगा; अभी रातभर आनन्द से मकरन्द-रस पीता रहूँ। इस प्रकार कमल-कोष में बैठा हुआ भ्रमर विचार कर ही रहा था कि हाय! हाय!! इतने में ही हाथी ने आकर कमल उखाड़ लिया और दाँतों से दबाकर भौंरा समेत पीस डाला।

यही दशा विषयासक्त मोहान्ध पुरुषों की है कि संसार के मनोरथ करते ही करते किसी दिन काल के गाल में चले जायेंगे और उसके सब करनेवाले काम जहाँ के तहाँ धरे रह जायेंगे।

मूल- **हीरा बहुत जवाहर संचे कहा भयौ हस्ती दर बाँधे।**

अर्थ—रे नर! यदि तू ने बहुत-से हीरा और जवाहरात संचित कर लिये, तो क्या हुआ? और हाथी भी दरवाजे पर बँधे हैं, तो क्या हुआ? अर्थात् इनसों कुछ भी कल्याण होता नहीं है।

भावार्थ—जीव शरीर का प्रिय करने के लिये अनेक प्रकार की कामनाएँ और कर्म करता है। वह स्त्री, पुत्र, धन-दौलत, हाथी-घोड़े, नौकर-चाकर, घर-द्वार और भाई-बन्धुओं के पालन-पोषण में लगा रहता है तथा बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को सहकर धन-सम्पत्ति आदि को जोड़ता है, तो भी एक-न-एक दिन इस विपत्तिरूप सम्पत्ति से अलग होना अवश्य है। या तो उसके देखते-देखते इस सम्पत्ति का ही नाश हो जायगा या स्वयं ही सबको दुःखपूर्वक छोड़कर संसार से चल बसेगा। तब इससे क्या लाभ हुआ?

मूल- **कहिं श्रीहरिदास महल में बनिता बनि ठाढ़ी भई**
एकौ न चलत जब आवत अंत की आँधे॥१०॥

अर्थ—रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि तेरे महल में बनिता—अर्थात् सुन्दर स्त्री बनिकें—अर्थात् आभूषणादि धारणकर हाथ में आरती लिये अगवानी के लिये खड़ी हुई है, तो क्या हुआ? जब अन्त—नाम मृत्यु की आँधी आती है, तब एक भी उपाय नहीं चलता, न ये कोई रक्षा कर सकते और न कोई संग चलता। इसलिये इनके लिये प्रयास (प्रयत्न) करना व्यर्थ है; एकमात्र भगवद्भजन करना ही सार है।

भावार्थ—भाव यह है कि जब अन्त समय आता है, तब ऊपर कही हुई संसार की सभी विभूति—धन, पशु, स्त्री, पुत्र, पुत्री, महल, पृथ्वी, हाथी और हीरा-जवाहरात से भरे हुए खजाने आदि सब भोग-सामग्री यहीं पड़ी रह जाती हैं। न किसी का कोई वश चलता है और न कोई संग जाता है। कालचक्र साक्षात् भगवान् का स्वरूप—आयुध है। वह परमाणु से लेकर क्षण, घड़ी आदि अवयवयुक्त है। वह निरन्तर सावधान रहकर घूमता रहता है, तनिक भी विश्राम नहीं लेता। वह ब्रह्मा से लेकर छोटे-छोटे तिनका पर्यन्त सभी भूतों—प्राणियों का निरन्तर संहार करता रहता है। कोई भी उसकी गति में बाधा नहीं डाल सकता।

भगवान् श्रीमुख से कह रहे हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्वमाम्॥

गीता ९-३३

इसलिये अनित्य (क्षणभंगुर) और सुखरहित इस लोक को (शरीर को) प्राप्त करके तू मेरा ही भजन कर।

रायः कलत्रं पशवः सुतादयो गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः।
सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत् प्रियं चलाः॥

भा. ७-७-३९

प्रह्लाद जी असुर बालकों को उपदेश दे रहे हैं—अरे भाई! धन, स्त्री, पशु, पुत्र, पुत्री, महल, पृथ्वी, हाथी, खजाना और भाँति-भाँति की विभूतियाँ—और तो क्या, संसार का समस्त धन तथा भोगसामग्रियाँ इस क्षणभुंगर (क्षण में नष्ट होनेवाले) मनुष्य को क्या सुख दे सकती हैं। वे स्वयं ही क्षणभंगुर हैं।

एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी क्षयिष्णवः सातिशया न निर्मलाः।
तस्माददृष्टदूषणं परं भक्त्यैकयेशं भजतात्मलब्धये॥४०॥

जैसे इस लोक की सम्पत्ति प्रत्यक्ष ही नाशवान् है, वैसे ही यज्ञों से प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोक भी नाशवान् और आपेक्षिक—एक-दूसरे से छोटे-बड़े, ऊँचे-नीचे हैं। इसलिये वे निर्दोष नहीं हैं। निर्दोष हैं केवल परमात्मा। न किसी ने उनमें दोष देखा है और न सुना है, अतः परमात्मा की प्राप्ति के लिये अनन्य भक्ति से उन्हीं परमेश्वर का भजन करना चाहिये।

कामान्कामयते काम्यैर्यदर्थमिह पूरुषः।
स वै देहस्तु पारक्यो भङ्गुरो यात्युपैति च॥४३॥

मनुष्य इस लोक में सकाम कर्मों के द्वारा जिस शरीर के लिये भोग प्राप्त करना चाहता है, वह शरीर ही पराया—स्यार-कुत्तों का भोजन और नाशवान् है। कभी वह मिल जाता है तो कभी बिछुड़ जाता हैं।

किमु व्यवहितापत्यदारागारधनादयः।
राज्यं कोशगजामात्यभृत्याप्ता ममतास्पदाः॥४४॥

जब शरीर की यही दशा है—तब इससे अलग रहनेवाले पुत्र, स्त्री, महल, धन, सम्पत्ति, राज्य, खजाने, हाथी-घोड़े, मन्त्री, नौकर-चाकर, गुरुजन और दूसरे अपने कहलानेवालों की तो बात ही क्या है।

किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सहदेहेन नश्वरैः।
अनर्थैरर्थसंकाशैर्नित्यानन्दमहोदधेः ॥४५॥

ये तुच्छ विषय शरीर के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। ये जान तो पड़ते हैं पुरुषार्थ के समान, परन्तु हैं वास्तव में अनर्थरूप ही। आत्मा स्वयं ही अनन्त आनन्दका महान् समुद्र है। उसके लिये इन वस्तुओं की क्या आवश्यकता है?

निरूप्यतामिह स्वार्थः कियान्देहभृतोऽसुराः।
निषेकादिष्ववस्थासु क्लिश्यमानस्य कर्मभिः ॥४६॥

भाइयो! तनिक विचार तो करो—जो जीव गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त सभी अवस्थाओं में अपने कर्मों के अधीन होकर क्लेश-ही-क्लेश भोगता है, उसका इस संसार में स्वार्थ ही क्या है।

कर्मण्यारभते देही देहेनात्मावर्तिना।
कर्मभिस्तनुते देहमुभयं त्वविवेकतः ॥४७॥

यह जीव सूक्ष्मशरीर को ही आत्मा मानकर उसके द्वारा अनेकों प्रकार के कर्म करता है और कर्मों के कारण ही फिर शरीर ग्रहण करता है। इस प्रकार कर्म से शरीर और शरीर से कर्म की परम्परा चल पड़ती है। और ऐसा होता है अविवेक के कारण।

तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः।
भजतानीहयाऽऽत्मानमनीहं हरिमीश्वरम् ॥४८॥

इसलिये निष्कामभाव से निष्क्रिय आत्मस्वरूप भगवान् श्रीहरि का भजन करना चाहिये। अर्थ, धर्म, काम—सब उन्हींके आश्रित हैं, बिना उनकी इच्छा के नहीं मिल सकते।

लोकवत् परलोक के भोगों की भी असारता बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किणीजालमालिना।
क्रीडन् न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः॥

भा. ११-१०-२५

उसका विमान वह जहाँ ले जाना चाहता है, वहीं चला जाता है और उसकी घंटियाँ घनघनाकर दिशाओं को गुञ्जारित करती हैं। वह अप्सराओं के साथ नन्दनवन आदि देवताओं की विहार-स्थलियों में क्रीड़ाएँ करते-करते इतना बेसुध हो जाता है कि उसे इस बात का पता ही नहीं चलता कि अब मेरे पुण्य समाप्त हो जायँगे और मैं यहाँ से ढकेल दिया जाऊँगा।

तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यं पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालित॥२६॥

जबतक उसके पुण्य शेष रहते हैं, तबतक वह स्वर्ग में चैन की वंशी बजाता रहता है, परन्तु पुण्य क्षीण होते ही इच्छा न होने पर भी उसे नीचे गिरना पड़ता है, क्योंकि काल की चाल ही ऐसी है।

महान्त श्रीस्वामी किशोरदास जी संसार की असारता दिखाते हुए कह रहे हैं—

मात पिता सुत बाम धाम धन त्यागि रे।
सोवत कहा गँवार उठि अब जागि रे॥
सिर परि साँधे तीर खरौ सठ काल रे।
हरि हाँ दासकिसोर भये बिन अंत बिहाल रे॥११॥

उपदेश आनन्द सत

अरे मूढ़ जन! माता, पिता, सुत, स्त्री, घर और धन ये सब महामोह की विषम जाल हैं, यदि तू परम सुख को प्राप्त करना चाहता है, तो इन सबको छोड़ और श्रीहरि की शरण ग्रहण कर। अरे बुद्धिहीन—मूर्ख! क्या सो रहा है, उठ, शीघ्र जाग, अर्थात् माया-मोह की नींद से उठ और विवेक-वैराग्यसहित चेत। अरे शठ! तू देखता नहीं है, काल तेरे शिर पर बाण चढ़ाये हुए खड़ा है।

अरे प्राणी! शीघ्र ही तू किशोर-श्रीहरि-श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि का दास हो जा—उनकी शरण लेकर उनकी भाव-भक्ति में तत्पर हो जा; नहीं तो जब अन्त समय आयेगा, तब बड़ी बेहाल दशा होगी।

यह स्वारथ कौ रूप मिल्या बिन खीजि रे।
यह परम शत्रुवत मित्र इनैं मति धीजि रे॥
इनहीं कूँ गुरु मानि रीति गहि लीजिये।
हरि हाँ दास किसोर होय सो कारिज कीजिये॥१२॥

अरे मूढ़ प्राणी! ये सब स्वार्थ के रूप हैं, अर्थात् स्वार्थमय हैं। जब तुम्हारे द्वारा कोई वस्तु-सुख आदि मिलते नहीं दिखेंगे, तब खीजेंगे–विरोध-वैर करने लगेंगे। अरे भैया! ये परम शत्रु के समान सबकुछ लूटनेवाले, सर्वनाश करनेवाले हैं। इनको सुख देनेवाले, सहायता करनेवाले मित्र के समान मानकर विश्वास मत कर। ये सब भी क्षणभंगुर हैं।

तुझे एक मर्म की बात बताता हूँ, तू उसे धारण कर। सम्पूर्ण जगत् श्रीहरिमय है। इन सबको भी गुरु मान ले, अर्थात् इन्हींके द्वारा शिक्षा ग्रहण कर कि सभी जीव अपने-अपने सुख-प्रवाह में माया के वशीभूत होकर बह रहे हैं, वे कुछ भी करने में असमर्थ हैं, परवश हैं, शक्तिहीन हैं। इसलिये एकमात्र श्रीहरि को ही अपना परम मित्र और सर्वस्व मानकर उनसे अनन्य प्रेम करना चाहिये। अथवा जैसे ये सब अपने-अपने सुख में लगे हैं, ऐसे ही तुम भी अपने इष्ट से अनन्य प्रेम करो। इसलिये इन सबसे आशा-सम्बन्ध छोड़कर जिस प्रकार दास किशोर–श्रीविहारी-विहारिणि के दास बनो, उनकी भक्ति-सेवा में दृढ़ता से लगो, वही कार्य–प्रयत्न करो।

सब कुटुम्ब मिलि लूटि लैहिं धन माल रे।
तू कोरौ रह्यौ कंगाल बजावै गाल रे॥
तौ हू छूटत नाहिं विमुख की चाल रे।
हरि हाँ दासकिसोर होहु सठ पकरै काल रे॥१५॥

अरे मूढ़ जन! सब कुटुम्ब मिलकर लूटेरे की तरह तेरा सब धन-माल लूट लेंगे। अपना मोहरूप प्रेम दिखाकर तेरी सब पुण्यपुंजरूप सम्पत्ति लूट लेंगे। अरे मोहग्रस्त प्राणी! तब तू कोरा कंगाल-दरिद्र ही रह जायगा; तेरे पास कुछ भी सम्पत्ति नहीं बची, फिर भी झूठी बड़ाई और ठसक-ऐंठ की बातें बनाता है! सब ओर से हानि, घृणा, तिरस्कार प्राप्त हो रहा है, इसको देख रहा है, तब भी इस विमुख-जड़ की चाल छूटती नहीं है, फिर-फिर वही-वही कर रहा है। अरे दीन प्राणी! शीघ्र ही श्रीकिशोर-श्रीविहारी जी का दास बन जा। नहीं, तो शठ! काल तुझे शीघ्र पकड़नेवाला है। इसलिये श्रीविहारीदास बनकर निर्भय, निश्चिन्त हो जा।

भैया या तन तें हंस उड़ानौ।
ता दिन तेरी कछु न चलेगी जम के हाथ बिकानौ ॥

श्रीआचार्यचरण कृपापरवश समझाते हुए कह रहे हैं कि भैया! तू अपने इष्ट सों विमुख होकर संसार में सुख मानकर बेहोश-बेखबर हो रहा है। तू जानता नहीं कि जब तेरे इस शरीर से यह जीवरूप हंस उड़ जायगा, उस दिन तेरी कुछ भी न चलेगी-तेरी इच्छा के अनुसार कुछ भी न होगा। तब तो तू यमराज के हाथ बिक जायगा-अर्थात् तब जो यमराज करेंगे, वही होगा।

अनरथ करि करि नर धन जोर्‌यौ सो धन भयौ बिरानौ।
चलती बेर कछु संग न लीनौ सिर धुनि धुनि पछितानौ ॥

अरे नर-प्राणी! तूने अनर्थ (छल, कपट, अन्याय, पाप) कर-करके धन को इकट्ठा किया, वह धन बिराना-अर्थात् अन्य का, दूसरे का हो जाता है-चोर, डाकू, परिवार या राज्य का हो जाता है। चलती बेर-अर्थात् मरने के समय कुछ भी संग लेकर नहीं जाता, फिर तो सिर धुन-धुन-ठोक-ठोककर पछताता है।

मात पिता सज्जन सुत बन्धु अपने करि जिनि मानौ।
ए तेरे कोऊ काम न आहैं सबै बटाऊ जानौ॥

माता, पिता, सुहृद्–मित्र, पुत्र, भाई, परिवार आदि इनको अपना करके कि मेरे हैं, ऐसा मत मानो; क्योंकि सब श्रीहरि की इच्छा–सूत्ररूप माया–बन्धन में बँधे हैं। ए तेरे कोई भी काम नहीं आ सकते, कुछ भी सहायता नहीं कर सकते। इन सबको कर्मयात्रारूप रास्ता चलनेवाले राहगिर (यात्री) जानो।

हाथ पाँय धर सीस नासिका वदन सूखि कुम्हिलानौ।
जरि बरि छार भई इक छिन में मिटि गयौ ठीक ठिकानौ॥

इस क्षणभंगुर (क्षण में नाश होनेवाली) देह के कारण ही माया–मोहवश तू अनेक अनर्थ–कर्म करता है। वही शरीर जरावस्था में हाथ, पाँव, धड़, शिर, नासिका और वदन (मुख) आदि सभी अंग सहित सूखकर कुम्हला जाता है और वही देह मरने पर जला दी जाती है, वह जलकर–भस्म होकर एक क्षण में राख हो जाती है। ठीक ठिकाना–गाँव का, जाति का, उपाधि आदि का सब मिट जाता है।

सूँघे हू गंध बहुरि नहिं आई जानें कित करि गयौ पयानौ।
श्रीरसिकबिहारी के भजन बिन दीपक सो नखतानौ॥४॥

जैसे गंध के सूँघने से या चर्चा–विचार से किसी वस्तु की खोज करते हैं कि अमुक वस्तु वहाँ है। परन्तु तेरे तो मरने पर बहुत विचार–विमर्श या प्रयत्न करने पर भी तेरा तनिक भी पता नहीं लगता कि तू किधर प्रस्थान कर गया–चला गया; जैसे सूँघने पर भी फिर तनिक भी गंध नहिं आई। रसिकवर श्रीस्वामी रसिकदेव जी महाराज कहते हैं कि श्रीरसिकविहारी के भजन बिना–उनके चिन्तन–सेवन बिना सब वस्तु–व्यक्ति आदि का बल दीपक के समान चंचल और क्षणभंगुर हैं, उनके बल पर अपने जीवन को व्यर्थ नष्ट करना है।

रसिक-अनन्य मुकुटमणि गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज उपदेश दे रहे हैं-

तरुना पै न भजन कियौ, औसर कियौ न काज।
आव घटै जोवन खसै, फूटै डफ लौं बाज॥६७॥

अरे भैया! जब तरुणावस्था-जवानी रही, शरीर में बल, उत्साह, स्फूर्ति रही, तब तो श्रीविहारी का भजन किया नहीं, सारा समय विषयभोग, माया-मोह में ही बिता दिया। वह सुन्दर मौका था भजन करने का, श्रीहरि की प्राप्ति करने का, वह अवसर तो तूने यूँ ही खो दिया और संसारसागर से पार होने और भगवत्प्राप्ति करने का अपना निज कार्य किया नहीं। अब जब आयु घट गई, यौवन खस गया, वृद्धावस्था आ गई, आलस्य-प्रमाद, शक्तिहीनता और रोग बहुलता आदि विकारों-दोषों ने घेरा लिया, ऐसे में उत्साह-उमंग-तीव्रतापूर्वक भजन कैसे हो सकता है? यह भजन करना तो ऐसे है, जैसे फूटे डफ का बजना। फूटा डफ बेस्वरा-भाँय-भाँय बजता है, ऐसे ही भजन का स्वरूप शिथिल तथा उत्साहहीन हो जायगा। इसलिये शीघ्रता से श्रीहरि के भजन में तीव्रगति से दृढ़तापूर्वक लग जाना चाहिये।

ज्यौं जग मरते देखिये, त्यौं ही आपुन देख।
श्रीबिहारीदास आलस तजौ, भजौ भक्ति कौ भेष॥६०३॥

जैसे संसार के प्राणी मर रहे हैं, मरते देखे जा रहे हैं, ऐसे तू अपने को भी मरता देख कि काल प्रतिक्षण तेरी आयु और शक्ति को हरण कर रहा है तथा एक दिन तू मर जायगा, काल तेरे को ले जायगा। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि तू किस गफलत में है, किस धोखे में है कि अभी सुख-आराम आदि का भोग कर लूँ, फिर भजन कर लूँगा, इस आलस्य को छोड़। यह आलस्य तेरा सर्वनाश

करके तुझे नरक ले जायगा। इसलिये इस आलस्य को त्याग और भक्ति के भेष या भक्त के भेष को भजो। अर्थात् सन्तों का संग और उनका सेवन-अनुसरण करते हुए भक्ति के अंग-नाम, रूप, लीला, धाम आदि का दृढ़ता से भजन करो-सेवन करो।

श्रीहरिदास चरन चिन्तन बिनु और कहा कलिजुग में हेत।
कल्पतरु फल फूल प्रेम भरु सन्मुख भये अभै पद देत॥
और कृपन काहू कछु पूछत भटकत फिरत विषै विष लेत।
श्रीबिहारिनिदास दिन दरस परस रस
आलस बिन पइयत चित चेत॥१६॥

यह भयंकर कलियुग है। इसमें सब साधनों का सार चला गया। एक श्रीहरि की शरणागतिपूर्वक उनके नाम का आश्रय और दूसरे उनके प्रिय भक्त-सन्तजनों का संग, यही परम आधार-अवलम्ब है। श्रीहरि से भी उनके भक्तों की भक्ति को उत्तम बताया है। **मद्भक्त पूजाभ्यधिका**-श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण अपने से अपने भक्तों की पूजा को श्रेष्ठ बताते हैं। भक्तों की भक्ति करने से श्रीहरि की भक्ति हो जाती है, किन्तु श्रीहरि की भक्ति करने से भक्तों की भक्ति नहीं होती। श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी कहते हैं-

गुरु सेये हरि सेइये, हरि सेये गुरु नाहिं।
गुरु छाँड़ै हरि कौं भजै, तिनसौं दोऊ जाहिं॥१३४॥

श्रीगुरु का सेवन करने से श्रीहरि का सेवन हो जाता है, किन्तु श्रीहरि का सेवन करने से श्रीगुरु का नहीं होता। श्रीगुरु को छोड़कर श्रीहरि का भजन करने से तो दोनों ही चले जाते हैं, न गुरु का सेवन होता न हरि का।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जो मेरी भक्ति करते हैं, जो मेरे भक्त हैं, उनको मैं अपना प्रिय भक्त नहीं मानता, किन्तु जो मेरे भक्तों की भक्ति करते हैं, वे मेरे उत्तम भक्त हैं।

इन सब सिद्धान्तों को देखने से, इन सबके निर्णय से सन्त-भक्तों की भक्ति ही श्रेष्ठ है और सब सन्त-भक्तों, रसिक-अनन्यों के नृपति, शिरमौर श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज हैं, वे सब गुरुओं के गुरु हैं। क्योंकि वे श्रीकुंजविहारी युगल के हृदय के प्रेम-रस-आनन्द की विग्रह श्रीललिता जी के स्वरूप हैं, अवतार हैं, इसलिये उनकी भक्ति करना, अति उत्तम भक्ति है।

दूसरा यह कि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज महामधुररस सार नित्यविहार रसरूप हैं। श्रीप्रिया-लाल और सहचरीवृन्द भी आपसे ही नित्यकेलि रस को प्राप्त करते हैं।

इन सब कारणों को लेकर यही निर्णय हुआ कि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के चरणकमल ही सेवनीय, भजनीय और चिन्तनीय हैं। इस घोर कलिकाल में और साधनों से हेत–प्रेम करने से क्या होगा? इसलिये श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के श्रीचरणों का अनन्यभाव से प्रेमपूर्वक सदा चिन्तन–सेवन करो। वे चरणकमल कैसे हैं कि महामधुर रस नित्यविहार रसमय प्रेम से परिपूर्ण एवं गौर-श्याम की नित्यकेलि-विलास रसरूप फूल-फल से भरे हुए हरे-भरे लहलहाते हुए कल्पतरु–समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेवाले देवतरु के समान हैं। कल्पतरु और श्रीचरणों में बहुत अन्तर है–कल्पतरु तो लौकिक-पारलौकिक वस्तु ही दे सकता है, परमार्थ वस्तु को नहीं दे सकता। ये चरणकमल तो परमार्थ के सार का भी सार श्रीयुगल-किशोर के महामाधुर्यमय प्रेम-रस सेवा को देनेवाले हैं। ये चरणकमलरूप कल्पतरु कुछ भी साधनादि की अपेक्षा नहीं करते, ये ऐसे निरपेक्ष परम उदार हैं कि सब ओर से मुख मोड़कर उनके सन्मुख होते ही–सच्चे भाव से शरण लेते ही अभय–अभय पद-परमधाम-नित्यविहार रसधाम श्रीवृन्दावन निकुंज रस महल को दे देते हैं।

परन्तु तू ऐसा अभागा कृपण प्राणी है कि अपने इन्द्रिय-सुख के लिये कभी किसीको पूछता–सेवन करता, कभी किसीको, अर्थात् नाना कर्म-धर्म, देव-पूजा, साधन-व्रत आदि उपासनाओं में लगा रहता है। फलस्वरूप कुछ भी परमार्थ-वस्तु हाथ नहीं लगती, उलटा भटकते-फिरते विषरूप–दु:ख-दोष-तापरूप विषय ही हाथ लगते हैं। उन्हीं विषरूप विषयों को लेकर अति सुख मानता है और परिणाम स्वरूप नरक की घोर यातना–कष्ट, पीड़ा को सहन करता है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि आलस्य--अर्थात् कर्तव्यकर्म को फिर कर लेंगे, पीछे छोड़ना और वर्तमान में मिथ्या भ्रमरूप सुख-आराम में लगे रहना अथवा मिथ्या भ्रमरूप सुख-आसक्तिमय कर्मों में लगे रहना, इस आलस्य को त्यागकर प्रेम-भक्ति-भावपूर्वक चरण-चिन्तन-भजन-साधन में लगोगे, तभी चित्त में चेत प्राप्त होगा, अर्थात् ज्ञान–सावधानता प्राप्त होगी; तभी तुम अपने स्वरूप को पहचानकर विहारिणिदासि या श्रीविहारिणि जी की सखी बनकर निभृत निकुंज में प्रवेश करोगे और सदा श्रीयुगलवर की अद्भुत केलिरस का दरस-परस प्राप्त करोगे–माने सदा दर्शन और सेवन प्राप्त करोगे।

आलस्य छोड़कर नित्य-निरन्तर नाम का स्मरण-सेवन ही युगलकिशोर के मधुर विलास रस की सेवा की प्राप्ति का सहज, सुगम और मुख्य साधन है। महान्त श्रीस्वामी किशोरदास जी नाम की अद्भुत महिमा का वर्णन करते हैं।

जिन मन हरि गुरु नाम टिकायौ।
तिन अग्यान काम मद मत्सर बल करि वदन ठुकायौ ॥१॥

जिन भाग्यशालीजनों ने अपने मन को श्रीहरि और गुरु के नाम में अथवा श्रीहरिरूप गुरु के नाम में टिका दिया अर्थात् दृढ़तापूर्वक लगा दिया, उन पुण्यवान्‌जनों ने अज्ञान का या अज्ञानरूप

काम, क्रोध, मद—नशा या गर्व, मत्सर—ईर्ष्या और मोहादिक शत्रुओं का—जो शरीर के भीतर ही घुसे हुए हैं, उनका बलपूर्वक मुख ठोक दिया अर्थात् उनको नष्ट कर दिया।

जहाँ चलि जात आत नहीं कबहूँ सो पद परम तकायौ।
अन्तर तिमिर त्रिविध तापनि के तूलनि मूल फुँकायौ॥२॥

जहाँ जाकर फिर संसार में कभी आते नहीं हैं, उस परम पद, परम धाम श्रीवृन्दावन-निकुंज रस को दिखाया, उस ओर लक्ष्य कराके दृढ़तापूर्वक लगा दिया। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

जहाँ जाकर फिर लौटते नहीं, वह मेरा परम निज धाम है।

अनादि काल से अविद्यारूप कर्मात्मक अज्ञानरूप अन्धकार अन्तर—माने हृदय में है, जो त्रिविध तापों (दैहिक, दैविक और भौतिक तापों) से भरपूर है, उसकी राशि—समूह को, जो रूई के ढेर के समान है, उसे फूँक दिया—भस्म कर दिया।

पंडित पसू प्रभु चरन सरन बिन आपुन बकत बकायौ।
चलि अन्याय न्याय वक्ता बनि सो मत मलिन मुकायौ॥३॥

करुणामय, भक्तवत्सल प्रभु—श्रीहरि के चरण की शरण लिये बिना शास्त्रों के ज्ञाता पण्डित भी अपना हित-अहित न जानने वाले पशु के समान हैं। वे शास्त्र आदि पढ़कर उनकी कथा कहते हैं और कहाते हैं, किन्तु आप स्वयं उसके अर्थ—भाव से दूर रहते हैं; तभी तो वक्ता बनकर न्याय से भरी रोचक कथा कहने पर भी अन्याय की—माया-मोहमय विषयीजनों की चाल चलते हैं। यह मलिन मत—सिद्धान्त, चाल है; इसे वे नामाश्रयी त्याग देते हैं।

कृष्न पंथ अति अमिट अकंटिक रहत न रुकत रुकायौ।
संतत संत संग करि हिलि मिलि जग परिताप लुकायौ॥४॥

वे नाम-प्रेमीजन जो कभी किसी भी प्रकार मिट नहीं सकता एवं अकंटिक-किसी भी प्रकार के माया-मोह, कुसंग आदि विघ्न-बाधाओं से रहित है, ऐसे परम पावन राजमार्ग कृष्ण-पंथ भक्ति-मार्ग, प्रेम-मार्ग है, उस मार्ग पर नित्य-निरन्तर बड़े उत्साह से चलते हैं; कोई कितने भी रोकने के कारण उपस्थित हों-चाहे शारीरिक हों या सांसारिक, वे रुकते नहीं हैं। वे रुके रहना जानते ही नहीं हैं।

ऐसे गुण उनमें कैसे आये? तो कहते हैं कि वे बड़भागीजन संतत-सदा-सर्वदा प्रेमी-अनुरागी सन्त-महानुभावों का संग करते हैं और प्रेम-भावसहित उन्हीं से हिल-मिलकर रहते हैं। इस कारण से उन्होंने जग-संसार के परिताप-सब प्रकार की ज्वालाओं को शान्त-नष्ट कर दिया है।

रसिक अनन्य धन्य वृन्दावन बसि तन मन न थकायौ।
दास किसोर बिहारी बिहारिनि सतगुरु छकनि छकायौ॥५॥

सिद्धान्त सार संग्रह-२३०

वे इसी नाम के स्मरण और प्रेम-भक्ति की रहनी से प्रेम-रस की ऊँची स्थिति पर पहुँच गये। वे रसिक-अनन्यजन परम धन्य हैं, जो तन से, मन-से सदा श्रीवृन्दावन में वास करते हैं। जिन्होंने इधर-उधर भटककर अपने तन-मन को थकाया नहीं। महान्त श्रीस्वामी किशोरदास जी कहते हैं कि ऐसे अनुरागीजनों को सद्गुरु ने अथवा सद्गुरु श्रीस्वामी जी महाराज ने श्रीकुंजबिहारी-श्रीकुंजविहारिणी की केलि रस-माधुरी की छकन से छका दिया-परितृप्त, तुष्ट-पुष्ट कर दिया।

जो कहुँ हरि गुरु नाम रटैहौ।
तौ परिसर्म जनम जनमनि के जननी जठर मिटैहौ॥१॥

जो कहुँ-माने कृपापूर्ण सौभाग्यवश श्रीहरि-गुरु के नाम की रटन-माने निरन्तर-एकरस जप में तत्पर-संलग्न हो जाओगे, तो

जन्म-जन्म के अर्थात् अनेक जन्मों के परिश्रम--ताप-दु:खों को और इनकी मूल माता के उदर की जठराग्नि में तपना–जलना, इनको जड़--मूल से मिटा दोगे, नष्ट कर दोगे।

त्रिविध ताप कलिकाल जनित जुर कठिन कुकर्म कटैहौ।
संचित सकल पाप पर्वतवत विषय विकार घटैहौ॥२॥

उसी नाम-स्मरण के प्रताप से तीन प्रकार के तापों--क्लेशों, दु:खों को, घोर कलिकालजन्य–उत्पन्न ज्वर–ताप-ज्वाला को और बड़े कठिन--दु:खमय कुकर्म--दुष्ट कर्म, खोटे कर्म हैं, जिनसे ये सब ताप मिलते हैं, इन सबको काट डालोगो--नष्ट कर डालोगे। तथा इन समस्त कर्मों से जो पाप बने हैं, उनके संचित–संग्रह किये हुए कर्म–क्लेशों-पापों का पुंज–ढेर है, जो पहाड़ के समान है, उसको और उससे उत्पन्न विषय विकारों को घटा दोगे, भस्म कर दोगे।

जक्त त्यक्त अव्यक्त भजन तन जीरन वसन फटैहौ।
वृन्दाविपिन कुंज कुंजनि मधि रसिकनि संग जुटैहौ॥३॥

उसी नाम-चिन्तन के प्रभाव से संसार को छोड़ दोगे अथवा संसार की आसक्ति–ममता को त्याग दोगे एवं अव्यक्त–जो माया से परे, त्रिगुणातीत श्रीहरि–युगलकिशोर के भजन-सेवन-चिन्तन में गूढ़ भाव से तत्पर–तल्लीन हो जाओगे। उस दशा में जीर्ण--पुराने वस्त्र के फटने के समान यह शरीररूप वस्त्र कब फट जायगा–छूट जायगा, इसकी सुधि भी न रहेगी, ऐसे शरीर को त्याग दोगे, अथवा इसके सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वों से ऊँचे उठ जाओगे। तथा अपना नया दिव्य सहचरीदेह धारण करके श्रीवृन्दावन की दिव्य रसमयी कुंज--कुंजों में रसिकजनों–सहचरीजनों के संग जुटकर–घुलमिलकर एक होकर भ्रमण–विहरण करोगे। अथवा रसिक-अनन्यजनों के संग जुटे रहोगे, मिले रहोगे।

जननी जनक कनक कामिनि तजि बड़ वैराग खटैहौ।
जीवन मुक्त भक्ति नवधा अर्चन रचि ठाठ ठटैहौ ॥४॥

नाम-स्मरण से विवेक-वैराग्य उत्पन्न होने पर माता, पिता, धन-सम्पत्ति और स्त्री आदि बन्धनकारी सब सम्बन्धों को त्यागकर बड़-महान् वैराग्य को धारण कर लोगे अर्थात् वैराग्य के श्रम का दृढ़तापूर्वक निर्वाह करोगे। इसी नाम के सेवन के प्रताप से तुम्हारी सम्पूर्ण आसक्ति-ममता-मोह दूर हो जायगा एवं जीवभाव भी नष्ट हो जायगा तथा जीवनमुक्त अर्थात् जीते ही मुक्त हो जाओगे। फिर प्रेम से पूर्ण नवधा भक्ति का सेवन करते हुए अपने प्राणवल्लभ श्रीहरि की अर्चना-पूजा की रचना करते हुए नये-नये ठाट ठटाओगे, अर्थात् साज-सजावट, उत्साह करोगे।

पित्र पवित्र पर्म पद परसत जमपुर चोट चुटैहौ।
दास किसोर दरसि सुख दुख द्रिग तन मन वचन नटैहौ ॥५॥

सिद्धान्त सार संग्रह-२३६

इस परम पावन नाम के सेवन के प्रताप से तुम्हारे शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले पितर भी पवित्र होकर परम पद-परम धाम को प्राप्त कर लेंगे और यमपुर की पीड़ा से मुक्त हो जायेंगे। तुम श्रीकिशोर-श्रीश्याम-श्याम के दास बन जाओगे-अपने स्वरूप को प्राप्त होकर सांसारिक सुख-दुःख के नेत्रों से द्रष्टा बन जाओगे और तन, मन, वचन से मायिक विकारों को दूर कर अपने निजस्वरूप में प्रतिष्ठित-स्थित हो जाओगे।

यह श्रीहरि-गुरु के नाम के सेवन-स्मरण की महिमा हुई। यदि श्रीहरि-गुरु के नाम के स्मरण-चिन्तन-सेवन से अपने को हटाओगे, तो तुम्हारी महान् कुगति-दुर्गति होगी।

जो कहुँ सुमिरत नाम हटैहौ।
यह परलोक वोक सुकृत कृत जम कर साख लटैहौ ॥१॥

यदि कहीं विमुख मति के होने से नाम के स्मरण-चिन्तन-सेवन से रसना को हटा लोगे या नाम स्मरण नहीं करोगे, तो उसके अपराध से तुम्हारे जितने सुकृत—पुण्य किये हैं—इस लोक-परलोक-वास के वे सब नष्ट हो जायेंगे। यमराज के पूछने पर कि कौन-से कर्म किये, तो साख—साक्षी देने में शिथिल हो जाओगे, चुप हो जाओगे, अर्थात् दे नहीं पाओगे।

नरक फंद परि अंध मंद मति करत जुबाब सिटैहौ।
कर्म अकर्म विकर्म किये तिनके फल मलिन मिटैहौ॥२॥

नाम-स्मरण से विमुख अंध—ज्ञानहीन और मन्द—मलिन मति प्राणी! तू नरक फंदों में पड़कर अनेक दुःख भोगेगा। यमराज तुझसे धर्म-भक्ति के विषय में प्रश्न करेंगे, तब जवाब—उत्तर देने में सिटपिटा जाओगे—भय आदि से घबड़ाकर उत्तर न देते बनेगा, सहम जाओगे।

कर्म—शास्त्रानुकूल कर्म; अकर्म—कर्तव्य-कर्म न करना और विकर्म—शास्त्र-विरुद्ध कर्म, अनुचित कर्म, पाप-कर्म किये हैं, उनके मलिन फल भोगते-भोगते मर मिटेगा, बरबाद हो जायेगा, नष्ट हो जायेगा।

मुगदर मार प्रहार वदन परि कदन अपार पिटैहौ।
अपनी कृत्य मानि मन ही मन धुनि धुनि सीस मटैहौ॥३॥

यमदूत मुगदल—मूसल तेरे वदन पर प्रहार करेंगे, तब अपार कदन—पीड़ा होगी, ऐसे तेरे को बार-बार पिटते रहेंगे। तब तू अपनी निन्द्य कृत्य—करनी को स्मरणकर मन ही मन बहुत कुढ़ेगा—दुःखी होगा और सिर धुन-धुनकर मर मिटेगा।

सतगुरु चरन सरन सेवन पन बिन विभचार डटैहौ।
दास किसोर अनन्य भजन रवि प्रगटत तिमिर छुटैहौ॥४॥२३७॥

तूने सद्गुरु के चरणों की शरण नहीं ली, उनके सेवन का दृढ़ प्रण नहीं किया, इसीसे इन्द्रियों के व्यभिचार—स्वच्छन्द विषयभोगों में डटा रहेगा, स्थिर रहेगा, प्रवृत्त, संलग्न रहेगा।

महान्त श्रीस्वामी किशोरदास जी कहते हैं कि सद्‌गुरु कृपा से, संत-कृपा से श्रीकिशोरी-किशोर-श्रीवृन्दावन युगलविहारी का अनन्य भजन–सर्वात्मा से अनन्य भाव से एकरस भजनरूप रवि जब अन्तःकरण (हृदय) में उदय होगा, तभी यह महामायामय मोहान्धकार छूटेगा–दूर होगा; तभी भवसागर से पार होकर अपने इष्ट के निकट सेवा में पहुँच जाओगे।

-: इति दशम (१०) पद का भावार्थ :-



अथ एकादश पद—अवतरण

अब और भी माया-प्रपंच में पड़े हुए जीवों की ओर संकेत करते हुए उनकी शिक्षा के लिये पूर्वोक्त अर्थ को स्पष्ट करते हैं।

पद— **देखौ इन लोगनि की लावनि।**

बूझत नाहिं हरि चरन कमल कौं मिथ्या जन्म गवाँवनि॥

जब जमदूत आनि घेरत तब करत आप मन भावनि।

कहिं श्रीहरिदास तबहि चिरजीवौ

जब कुंजबिहारी चितावनि॥११॥

अर्थ—करुणासिन्धु श्रीस्वामी जी महाराज जीवों की दयनीय दशा देखकर करुणार्द्र चित्त होकर कह रहे हैं—अहो रसिकजनो! इन संसारासक्त मनुष्यों की जो लावनि—माने लगन, आसक्ति है, सो तुम देखो कि उस मिथ्या सुख में निमग्न ये परमानन्दस्वरूप, सौन्दर्य-माधुर्य के सिन्धु श्रीहरि-श्रीविहारी जी के चरणकमल को बूझते भी नहीं हैं; अर्थात् भगवान् कौन वस्तु हैं, यह तनिक भी जानते नहीं हैं, उस ओर ध्यान भी नहीं देते हैं। इसलिये भगवच्चरण को न जानकर अपने दुर्लभ मनुष्यजन्म को वृथा (व्यर्थ) ही गँवाते—खोते हैं।

जब अन्त समय में यम के दूत आकर घेर लेते हैं, तब वे अपनी मनभायी बात करते हैं। रसिक-अनन्य चक्र चूड़ामणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि जब कुंजविहारी—नित्य निकुंज विलासी युगलकिशोर चित्त में आवेंगे अथवा तुम्हारा चित्त उनका निरन्तर चिन्तवन (चिन्तन) करेगा, उनमें लगेगा, तभी तुम चिरंजीव होओगे, अजर-अमर होओगे, अर्थात् तभी नित्य शाश्वत शान्ति—नित्य भगवत्सेवा-श्रीयुगल-सेवा प्राप्त होगी। ऐसा नहीं करोगे, तो बार-बार जन्मोगे और मरोगे।

मूल- **देखौ इन लोगनि की लावनि।**

बूझत नाहिं हरि चरन कमल कौं मिथ्या जन्म गवाँवनि॥

अर्थ—करुणामय श्रीस्वामी जी जीवों की दयनीय दशा कि बार-बार संसार की दु:ख-ज्वाला को प्राप्त हो रहे हैं, को देखकर करुणार्द्रचित्त होकर कह रहे हैं—हे प्रिय रसिकजनो! इन संसारासक्त मनुष्यों की असत्य-दु:खरूप संसार के व्यवहार में कितनी लगन—आसक्ति है, सो तो तुम देखो कि उस मिथ्यासुख में निमग्न ये सच्चिदानन्दमय परम सौन्दर्य-माधुर्यरससिन्धु श्रीविहारी जी के चरणकमल को जानते भी नहीं है, ध्यान देते भी नहीं हैं कि श्रीहरि कौन वस्तु हैं। इसलिये भगवच्चरण को न जानने के कारण अपने देवदुर्लभ मनुष्यजन्म को व्यर्थ ही गँवा (खो) रहे हैं।

भावार्थ—शास्त्र में कहते हैं—

कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान् कामानलं मधुलवैः शमयन्दुरापैः॥

भा. ७-९-२५

श्रीप्रह्लाद जी कहते हैं—विषयभोग की बातें सुनने में ही अच्छी लगती हैं, वास्तव में वे मृगतृष्णा के जल के समान नितान्त असत्य हैं और यह शरीर भी, जिससे वे भोग भोगे जाते हैं, अगणित रोगों का उद्गमस्थान है। कहाँ वे मिथ्या भोग और कहाँ यह रोगयुक्त शरीर। इन दोनों की क्षणभंगुरता और असारता जानकर भी मनुष्य इनसे विरक्त नहीं होता। वह कठिनाई से प्राप्त होनेवाले भोग के नन्हें-नन्हें मधुबिन्दुओं से अपनी कामना की आग बुझाने की चेष्टा करता है।

आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु।
निरूढमूलहृदय आत्मानं बहु मन्यते॥

भा. ३-३०-६

भगवान् श्रीकपिलदेव जी कहते हैं—यह मूर्ख अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, धन और बन्धु-बान्धवों में अत्यन्त आसक्त

होकर उनके सम्बन्ध में नाना प्रकार के मनोरथ करता हुआ अपने को बड़ा भाग्यशाली समझता है।

मनुष्य-शरीर धारण करने पर इतना ज्ञान तो प्राय: सभीको होता है कि एक दिन यह शरीर मिट्टी में मिल जायगा। सूर्य भगवान् के आने-जाने में दिन-दिन शरीर की जीवन-शक्ति क्षीण हो रही है। फिर भी थोड़े-से दिनों का जीवन बचा है, यदि यह चाहे तो श्रीविहारी जी को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि मनुष्यशरीर के द्वारा ही श्रीहरि के चरणकमलों का भजन--सेवन किया जा सकता है।

दूसरी बात यह भी है कि यह शरीर जीवात्मा के अधीन है। उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई भी काम नहीं करता। उसकी आज्ञानुसार यह हितैषी, सुहृद्, प्रियजन के समान आचरण करता है। जब शरीर इतना अनुकूल है, तब श्रीहरि की अनुकूलता का तो कहना ही क्या है? क्योंकि श्रीहरि तो जीवमात्र के सच्चे हित करनेवाले, प्रियतम एवं आत्मा ही हैं और सदा-सर्वदा जीव को अपनाने के लिये तैयार ही रहते हैं। इतनी सुगमता होने पर भी जो प्राणी श्रीगुरु की शरण होकर उनके बताये हुए मार्गपर चलकर श्रीहरि की उपासना-भक्ति नहीं करता, उनके चरणों में प्रेम नहीं करता और इस विनाशी, असत् शरीर तथा इसके सम्बन्धियों में आसक्त हो जाता है, उन्हींकी उपासना करने में लग जाता है, इस प्रकार अपनी आत्मा का हनन (नाश) करता है, उसे अधोगति में ले जाता है, यह कितने दु:ख की बात है।

सम्पूर्ण पाप-तापों को हरनेवाले श्रीहरि के चरणकमल की भक्ति ही इस संसार में कल्याण एवं मंगलकारी है। मनुष्यजन्म में श्रीहरि के चरणों की शरण लेने में ही जीवन की सफलता है। नरशरीर पाकर भी जिनकी श्रीहरि के चरणकमलों में लगन नहीं

लगी, वे प्राणी गधे, कुत्ते, सूअर के समान निन्दनीय विषयों का सेवन करते हुए इस संसार में व्यर्थ जीते हैं।

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥

भा. २-३-१९

जिसके कान में भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-कथा कभी नहीं पड़ी, वह नर पशु, कुत्ते, ग्रामसूकर, ऊँट और गधे से भी गया बीता है।

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥२०॥

सूतजी! जो मनुष्य भगवान् श्रीकृष्ण की कथा कभी नहीं सुनता, उसके कान बिल के समान हैं। जो जीभ भगवान् की लीलाओं का गायन नहीं करती, वह मेढक की जीभ के समान टर्र-टर्र करनेवाली है; उसका तो न रहना ही अच्छा है।

भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा॥२१॥

जो सिर कभी भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में झुकता नहीं, वह रेशमी वस्त्र से सुसज्जित और मुकुट से युक्त होने पर भी बोझमात्र है। जो हाथ भगवान् की सेवा-पूजा नहीं करते, वे सोने के कंगन से भूषित होने पर भी मुर्दे के समान हैं।

बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥२२॥

जो आँखें भगवान् की याद दिलानेवाली मूर्ति, तीर्थ, नदी आदि का दर्शन नहीं करतीं, वे मोरों के पाँख में बने हुए आँखों के चिह्न के समान निरर्थक हैं। मनुष्यों के वे पैर चलने की शक्ति रखने पर भी न चलनेवाले पेड़ों-जैसे ही हैं, जो भगवान् की लीला-स्थलियों की यात्रा नहीं करते।

जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्॥ २३॥

जिस मनुष्य ने भगवत्प्रेमी संतों के चरणों की धूल कभी सिरपर नहीं चढ़ायी, वह जीता हुआ भी मुर्दा है। जिस मनुष्य ने भगवान् के चरणों पर चढ़ी हुई तुलसी की सुगन्ध लेकर उसकी सराहना नहीं की, वह श्वास लेता हुआ भी श्वासरहित शव के समान है।

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥ २४॥

सूतजी! वह हृदय नहीं, लोहा है, जो भगवान् के मंगलमय नामों का श्रवण-कीर्तन करने पर भी पिघलकर उन्हींकी ओर बह नहीं जाता। जिस समय हृदय पिघल जाता है, उस समय नेत्रों में आँसू छलकने लगते हैं और शरीर का रोम-रोम खिल उठता है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं–

कहा भयौ मानुष जन्म लहै। पसु समान बिन स्यामै कहैं॥
कहत सुनत उत्तम नर देह। जो न ढर्‍यौ इत स्याम सनेह॥

देवदुर्लभ मनुष्य-जन्म प्राप्तकर भी लिया, तो क्या हुआ, यदि श्यामसुन्दर–श्रीविहारी जी की भक्ति नहीं की, उन्हें हृदय में धारण नहीं किया, तो वह गधा, कुत्ता, सूअर आदि पशु के समान है। शास्त्रों में-कथा में कहते-सुनते भी हैं कि और देहों से मनुष्य देह अति उत्तम है, तो भी क्या हुआ, यदि वह इधर–श्यामसुन्दर के स्नेह–प्रेम में ढला नहीं, प्रेम में तत्पर-तल्लीन नहीं हुआ।

श्रवन कथा न भक्ति सौं हेत। मृतक समान जीवन ही प्रेत॥
ताकौ मांस न कोऊ खाइ। यौं ही गयौ जन्म डहकाइ॥
जीवत मरत न लाग्यौ नेग। यौं ही खोये जन्म अनेग॥

यदि श्रीहरि की कथा के श्रवण–सुनने में और भक्ति–भजन–भाव सों हेत–प्रेम नहीं किया–दृढ़ अनुराग नहीं किया,

तो वह जीते हुए भी मृतक—मुर्दे के समान प्रेत--भूत ही है। इस प्रकार जो भक्ति-भजन-भाव से विमुख प्राणी होता है, वह महापतित—नीच होता है, उसका मांस कोई मांसाहारी जीव भी खाता नहीं है। वह प्राणी संसार के असत् पदार्थों और व्यक्तियों में सुख मानकर मोहान्धता में यौं ही—इसी प्रकार अपने सुन्दर जन्म को डहका—सुख के धोखे में गँवा गया, नष्ट कर गया। ऐसे ही जीवत—जन्म लेते और मरते नेग—द्रव्य आदि वस्तु देना, न्यौछावर करना, यह नेग कुछ भी नहीं लगा। इसी प्रकार विमुखता में अनेक जन्म खो दिये, फिर भी संसार से ऊबे नहीं, घबराये नहीं, अरुचि नहीं हुई।

सन्तनि सेवौ साधन करौ। प्रेम भक्ति भव सागर तरौ॥
साकत भक्त बीच बड़ भेदा। श्रीबिहारीदास यौं वरनत वेदा॥८॥

इस संसारासक्तिरूप दुर्गति—दुर्दशा से पार होना चाहते हो, तो श्रीहरि-स्वरूप अनुरागी सन्तों का सेवन करौ, सत्संग करौ और सत्संग से प्राप्त ज्ञानद्वारा साधन करौ तथा साधन-भक्ति से प्रेम-भक्ति प्राप्तकर दुस्तर भवसागर से पार हो जाओ। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि श्रीहरि के श्वासरूप वेद ऐसा वर्णन करते हैं कि शाक्त और भक्त के बीच में बहुत बड़ा भेद है। शाक्त—माने शक्ति-उपासक, जो शक्ति-उपासना करके संसार के विषय-सुख को ही चाहता है, जो भव-बन्धनकारक है। शाक्त में—देवी, गणेश, शिव, सूर्य आदि उपासक भी आ गये। इनसे भव-बन्धन नहीं छूटता। भव-बन्धन तो एकमात्र श्रीहरि के चरणों की शरणागति से ही छूटता है, जो भक्तों की निज सम्पत्ति है। इसलिये श्रीहरि के चरणकमलों की शरण लेकर अनन्यभाव से भक्ति करनी चाहिये।

मूल- जब जमदूत आनि घेरत तब करत आप मन भावनि।

अर्थ—जब यम के दूत आकर घेर लेते हैं, तब वे अपने मन की भायी बात करते हैं।

भावार्थ– एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्माजितेन्द्रियः।
म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयास्तधीः॥

भा. ३-३०-१८

इस प्रकार जो मूढ़ पुरुष इन्द्रियों को न जीतकर निरन्तर कुटुम्ब-पोषण में ही लगा रहता है, वह रोते हुए स्वजनों के बीच अत्यन्त वेदना से अचेत होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ।
स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृन्मूत्रं विमुञ्चति॥१९॥

इस अवसर पर उसे लेने के लिये अति भयंकर और रोषयुक्त नेत्रवाले जो दो यमदूत आते हैं, उन्हें देखकर वह भय के कारण मल-मूत्र कर देता है।

यातनादेह आवृत्य पाशैर्बद्ध्वागले बलात्।
नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा॥२०॥

और फिर जिस प्रकार सिपाही किसी अपराधी को ले जाते हैं, उसी प्रकार उसके गले में रस्सी बाँधकर बलात् यमलोक की लम्बी यात्रा में उसे ले जाते हैं।

तयोर्निर्भिन्नहृदयस्तर्जनैर्जातवेपथुः।
पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्तोऽघं स्वमनुस्मरन्॥२१॥

उनकी घुड़कियों से उसका हृदय फटने और शरीर काँपने लगता है, मार्ग में उसे कुत्ते नोचते हैं। उस समय अपने पापों को याद करके वह व्याकुल हो उठता है।

क्षुत्तृट्परीतोऽर्कदवानलानिलैः सन्तप्यमानः पथि तप्तबालुके।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कशया च ताड़ितश्चलत्यशक्तोऽपि निराश्रमोदके॥२२॥

भूख-प्यास उसे बेचैन कर देती है तथा घाम, दावानल और लूओं से वह तप जाता है। ऐसी अवस्था में जल और विश्रामस्थान

से रहित तप्त बालुकामय मार्ग में जब उसे एक पग आगे बढ़ने की भी शक्ति नहीं रहती, यमदूत उसकी पीठपर कोड़े बरसाते हैं, तब बड़े कष्ट से उसे चलना ही पड़ता है।

तत्र तत्र पतञ्छ्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः।
पथा पापीयसा नीतस्तमसा यमसादनम्॥२३॥

वह जहाँ-जहाँ थककर गिर जाता है, मूर्च्छा आ जाती है, चेतना आने पर फिर उठता है। इस प्रकार अति दुःखमय अँधेरे मार्ग से अत्यन्त क्रूर यमदूत उसे शीघ्रता से यमपुरी को ले जाते हैं।

योजनानां सहस्राणि नवतिं नव चाध्वनः।
त्रिभिर्मुहूर्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः॥२४॥

यमलोक का मार्ग निन्यानबे हजार योजन है। इतने लम्बे मार्ग को दो-ही-तीन मुहूर्त में तय करके वह नरक में तरह-तरह की यातनाएँ भोगता है।

हरि-विमुख होकर इन्द्रिय के विषयों में आसक्त तथा निरन्तर कुटुम्ब के भरण-पोषण में लगे रहनेवाले मूढ़ पुरुष अन्त में अपने सम्बन्धियों को रोते हुए छोड़ चले जाते हैं तथा यमदूतों से भयंकर मार खाते हैं। उस अत्यन्त कष्टप्रद पीड़ा में अपने पापों को याद कर वे अत्यन्त व्याकुल हो उठते हैं और यमदूतों से क्षमा-प्रार्थना करते हैं। तब यमदूत कहते हैं—

यतस्त्वं धर्महीनोऽसि सततं ताड्यसे भृशम्।
क्षमापराधकुरुते भगवान् हरिरीश्वरः॥

अरे मूढ़-दुष्ट! तू भगवत्-धर्म से विमुख है। इसीलिये तू हमारे द्वारा निरन्तर प्रताड़ित होगा, हम तुझे निरन्तर दण्ड देंगे। भगवान् श्रीहरि-ईश्वर ही अपराधों को क्षमा किया करते हैं।

वयं तु सापराधानां दण्डदा नात्रसंशयः।
एवमुक्त्वा च ते दूता निर्दयं ताडयन्ति तान्॥

हम लोग तो अपराधियों को केवल दण्ड देनेवाले हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। ऐसा कहकर वे यमदूत अत्यन्त निर्दयतापूर्वक पापियों पर प्रहार करते हैं।

केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः।
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम्॥

भा. ३-३०-३३

जो लोग केवल अधर्मपूर्वक (निरी पाप की कमाई से ही) अपने परिवार का पालन करने में व्यस्त रहते हैं, वे अन्धतामिस्र नरक में जाते हैं, जो नरकों में चरम (अन्तिम) सीमा का कष्टप्रद स्थान है।

इस तरह मनुष्य श्रीहरि से विमुख होकर तरह-तरह की कष्टप्रद यातनाएँ भोगता हुआ अत्यन्त व्याकुल रहता है।

मूल— कहिं श्रीहरिदास तबहि चिरजीवौ
जब कुंजबिहारी चितावनि॥११॥

अर्थ—रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि तभी तुम अपने अजर-अमर-अविनाशी चिन्मय नित्यस्वरूप (शरीर) को प्राप्त करोगे, जब नित्य निकुंजविलासी श्रीकुंजविहारी तुम्हारे चित्त में आवेंगे (विराजेंगे) अथवा तुम्हारा चित्त नित्य-निरन्तर चिन्तवन (चिन्तन) करते हुए सदा श्रीविहारी जी में बसेगा।

भावार्थ—संसार में मनुष्यों के लिये सबसे बड़ी कल्याण की प्राप्ति यही है कि उनका चित्त भक्तियोग के द्वारा श्रीविहारी जी में लग जाय। जिस भाग्यवान् का चित्त सम्पूर्ण सौन्दर्य-माधुर्य-रसामृतसिन्धु श्रीविहारी जी में लग गया, उसके हृदय में इस लोक और परलोक में साथ जानेवाले वासनामय लिङ्गशरीर का तथा शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले धन, पशु और घर आदि समस्त पदार्थों की आसक्ति का स्थान कहाँ हो सकता है? अर्थात् जड़-मूल से नष्ट हो जाती है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

गीता १२-६

परन्तु जो सम्पूर्ण कर्मों को मेरे अर्पण करके और मेरे परायण होकर अनन्ययोग (सम्बन्ध) से मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम्॥७॥

हे पार्थ! मुझमें आविष्ट चित्तवाले उन भक्तों का मैं मृत्युरूप संसारसागर से शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ।

शृणवन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते॥

भा. १०-२-३७

देवता स्तुति करते हुए कहते हैं—जो पुरुष आपके मंगलमय नामों और रूपों का श्रवण, कीर्तन, स्मरण और ध्यान करता है, आपके चरणकमलों की सेवा में ही अपना चित्त लगाये रहता है, उसे फिर जन्म-मृत्युरूप संसार के चक्र में नहीं आना पड़ता है।

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥

भा. ३-२५-४४

संसार में मनुष्य के लिये सबसे बड़ी कल्याणप्राप्ति यही है कि उसका चित्त तीव्र भक्तियोग के द्वारा मुझमें लगकर स्थिर हो जाय।

खत फाटै बिन क्यौं कटै, रोग भोग रिन ब्याज।
श्रीबिहारीदास अनन्य बिन, क्यौं छाँड़ै जमराज॥६०५॥

जैसे ऋण लिया हुआ धन ब्याजसहित पूरा दे देने पर ऋण–खत–पत्र फाड़ दिया जाता है। ऋण–खत के फटते ही ऋण और ब्याज चुक गया–खाता भर पाया मान लिया जाता है। रसिक–अनन्य मुकुटमणि श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि इसी प्रकार श्रीहरि की मन, वचन, कर्म, सर्वात्मा से अनन्य–भक्ति किये बिना अथवा सर्वात्मा से श्रीहरि–श्रीविहारी जी के अनन्य हुए बिना अनादि अविद्याजन्य कर्म–खत नहीं फटता और उसके फटे बिना कर्मरूप ऋण और रोग–भोगरूप ब्याज नहीं कटते–नहीं मिटते; तबतक यमराज कैसे छोड़ सकते हैं? अर्थात् नहीं छोड़ सकते हैं। करुणामय श्रीहरि की सच्चे भाव से शरण लेते ही यमराज उस जन का कर्म–खत फाड़ देते हैं। फिर यमराज उस जीव की ओर देखते तक नहीं हैं। वे सोचते हैं कि यह तो मेरे प्रभु का हो गया, अब इस पर मेरा अधिकार कुछ भी नहीं है।

रसिक मुकुटमणि श्रीस्वामी रसिकदेव जी महाराज भक्ति–सिद्धान्तमणि में कहते हैं–

कर्म धर्म करत परै जु चूक। ताहि मारि जम करै जु टूक॥
स्याम कौ भक्त होइ अपराधी। हरि तारन कौं फेंट जु बाँधी॥३०॥
मेरौ भगत नास नहिं जाई। श्री भगवान सु कही बजाई॥
संस्कार होइ भगत कौ मंद। ताकौ जम दै सकै न फंद॥३१॥
फिरि जगत में जनम धरावै। हरि की भक्ति चौगुनी पावै॥

कर्म–धर्म करते हुए यदि भूल हो जाती है, तो उसे कोई बचानेवाला नहीं है, क्योंकि वह स्वतन्त्र है, उसने श्रीहरि की शरण नहीं ली, उसे यमराज मारकर दो टूक कर देते हैं, अर्थात् भयंकर दण्ड देते हैं। परन्तु श्रीहरि–श्यामसुन्दर का भक्त मन्द संस्कारवश यदि अपराधी बन जाता है, पतित हो जाता है, तो उसे तारने–उद्धार

करने के लिये श्रीहरि स्वयं फेंट से कमर कस लेते हैं, अर्थात् तारने के लिये आतुर और तत्पर हो जाते हैं।

श्रीमद्भगवत् गीता और श्रीभागवत में भगवान् श्रीकृष्ण ने बजाकर कहा–माने खुले–स्पष्ट कहा कि मेरे भक्त का नाश हो नहीं सकता है। क्योंकि उसका मैं रक्षक, पोषक और सर्वस्व हूँ। यदि भक्त का संस्कार मंद–शिथिल होता है, तो भी यमराज उसे दण्ड नहीं दे सकते। क्योंकि वह प्रभु का जन हो चुका है, वह तो प्रभु के अधिकार की वस्तु है। प्रभु की इच्छा से फिर उसका संसार में उत्तम श्रीमान् या वैष्णव-कुल में जन्म होता है तथा इस जन्म में श्रीहरि की चौगुनी भक्ति पाकर वह अपने भक्ति-साधन में तत्पर हो जाता है, जुट जाता है।

वैष्णव होइ संकल्पै गाइ। जम के दूत ताहि लै जाइ॥३७॥
जमपुर एक नदी वैतरनी। गऊ की पूँछ तहाँ है धरनी॥
नदी उतरि भये जब पार। ठाढ़े करे जम के दरबार॥३८॥
तिनैं देखि जमराय हँसे। तुम क्यौं फिर आनि इतै फँसे॥
हरि कौ सरन जाइ तुम लीनौं। कागद छेकि तुम्हारौ दीनौं॥३९॥

यदि कोई वैष्णव–श्रीहरि का भक्त–दास होकर भक्ति से विमुख कर्म की ओर दृष्टि करके गाय-दान का संकल्प करता है (गाय-दान करता है), तो मरने के बाद यमराज के दूत उसे ले जाते हैं। यमपुरी के मार्ग में वैतरनी नाम की मल-मूत्र, रक्त-पीव आदि एवं मगर, मच्छ, कच्छ आदि जंतुओं से भरी हुई भयंकर विशाल नदी मिलती है। उसे जीव को पार करना पड़ता है, जोकि अति कष्टदायक है। गौ-दान करनेवाले को वह कष्ट भोगना नहीं पड़ता है। गाय सामने खड़ी हो जाती है। वह पूँछ पकड़कर पार हो जाता है। उस गौ-दान करनेवाले वैष्णव के लिये भी ऐसा ही हुआ। उसे नदी से पार करके

यमराज के दरबार में खड़ा किया। उन वैष्णव को देखते ही यमराज हँसे और बोले–तुम फिर क्यों यहाँ आकर कर्मबन्धन में फँस गये। जिस दिन तुमने श्रीहरि के सन्मुख जाकर उनकी शरण ली, उसी दिन से तुम्हारा कर्मखत–कर्म–कागज (पत्र) फाड़ दिया, जिसमें तुम्हारे पाप–पुण्य कर्म का खाता (हिसाब–किताब) रहता है।

अनन्य होइ हरि भक्ति न करी। कर्मठ बुद्धि तुम्हरी न टरी॥
अब तुम जाइ भुगतौ संसार। जाकौ कछु न वारापार॥४०॥

भक्तिसिद्धान्तमणि

तुमने सब प्रकार से अनन्य होकर श्रीहरि की भक्ति नहीं करी, तुम्हारी कर्मठ–बुद्धि नष्ट नहीं हुई। अब तुम जाकर भयंकर–दुःख–ताप से परिपूर्ण संसार को भुगतो, जिसका कुछ भी वार–पार नहीं है, जो असीम, अगाध है।

सब अनर्थ कौ करै जु त्याग। तब हरिसौं बाढ़ै अनुराग॥

श्रीस्वामी रसिकदेव जी कृत–पूजा–विलास १९

सब–जितने भी वासना–विकाररूप अनर्थ–दोष हैं, उनका त्याग करके हृदय निर्मल हो, तभी श्रीहरि सों शुद्ध अनुराग–प्रेम वृद्धि को प्राप्त होता है, बढ़ता है।

श्रीबिहारीदास अनन्य भजन बल ढाइ कर्म की ढेरी॥

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि हे श्रीविहारीजी के दास–जन! तुम उनके अनन्य भजन–निरन्तर–एकरस भजन के प्रताप से कर्म की ढेरी को ढाह दो–नष्ट कर दो, तब तुम्हारा हृदय निर्मल अनुराग–प्रेम से भर जायेगा तथा उस प्रेमपूर्ण हृदय में श्रीविहारीजी आकर विराजमान हो जायेंगे, तभी तुम चिरंजीव–जीवन्मुक्त होओगे।

रसिक अनन्य भये सुख पैयै।
जो जुग सहस जनम कोटिक धरि और उपाय न हैयै॥८०॥

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि जब तुम रसिक-अनन्य होओगे, अर्थात् देहाभिमान को त्यागकर निजस्वरूप-सहचरीस्वरूप में स्थित होकर युगलवर श्रीप्रिया-लाल की नित्य केलि-सेवा में तत्पर होओगे, तभी दिव्य, चिन्मय, महाप्रेम-माधुर्य रस सुख-नित्यविहार सेवासुख को प्राप्त करोगे। यदि इस साधन से करोड़ों जन्म और हजारों युग भी बीत जाएँ, तो भी और कोई उपाय नहीं हैं। यही एक उपाय है।

महान्त श्रीस्वामी किशोरदास जी कहते हैं-

रसिक अनन्य भये अघ जरिहैं।
द्वादस चन्द्र नक्षत्र मिलैं सब रवि बिन रैनि न टरिहै॥२३८॥

जब अपने देहाभिमान को त्यागकर नित्यसिद्ध निजस्वरूप में स्थित रसिक-अनन्य होकर युगलवर श्रीलाड़िली-लाल की सेवा में स्थित होओगे, तभी तुम्हारे विघ्नरूप सम्पूर्ण पाप जरेंगे, तभी तुम निर्मल होओगे, तभी नित्य जीवन प्राप्त करोगे। जैसे बारह-मास के बारह चन्द्रमा और तारागण मिलकर सब एक साथ उदय हों, तब भी रात्रि ही रहेगी; सूर्य के बिना रात्रि नहीं टल सकती; ऐसे ही रसिक-अनन्य हुए बिना अघरूप-जीवभाव नष्ट नहीं हो सकता।

रसिक अनन्य भये हरि ढरिहैं।
जे प्रतिकूल महाखल पाँवर जमपुर फिरि फिरि घिरिहैं॥२३९॥

जब तुम रसिक-अनन्य-रसरूप प्रेममयी सरसभक्ति में तत्पर-संलग्न होओगे, तभी श्रीहरि-युगलकिशोर-श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि रीझेंगे और गले का हार बना लेंगे। जो प्रतिकूल-विमुख, महाखल-दुष्ट, पतित हैं, वे बार-बार यमपुर में घिरेंगे-दुःख भोगेंगे।

रसिक अनन्य लगत मोहिं प्यारे।
रसना रसत महामधुरे रस प्रेम मगन मतवारे॥१॥

रसिक-अनन्य-सरस प्रेम-भक्ति में लीन प्रेमी रसिकजन मुझे अति प्यारे लगते हैं। इनके बिना संसार में परम हितु-परम प्रेमी

और कोई नहीं है। वे रसिक-अनन्यजन कैसे हैं? तो कहते हैं कि जो अपनी रसना (जीभ) से महाप्रेम-माधुर्यमय गुणसमूह से युक्त नित्यकेलि रस का गायन द्वारा पान करते हुए स्रवते हैं, रस की वर्षा करते हैं तथा उसके उमड़ते हुए प्रेम में मग्न-सराबोर रहते हैं एवं उसी रस में मत्त-छके रहते हैं-झूमते-घूमते रहते हैं।

दुखित सकल संसार भार सिर जनमत मरत सुखारे।
बहे जात जग जीव अधम अघ कर गहि करत किनारे॥२॥

वे इतने महान् करुणामय हैं कि उनसे प्राणियों का दुःख देखा नहीं जाता। सारे संसार के प्राणी अपने कर्म-भार (बोझ) को सिर पर लादे हुए बार-बार जन्मते-मरते हुए अत्यन्त दुःखी हैं, फिर भी मोहग्रस्त प्राणी उसीमें सुख मान रहे हैं। आप कैसे उदार एवं समर्थ हैं कि संसार के अधम जीव अपने पापों का फल भोगते हुए संसार के प्रबल प्रवाह में बहे जा रहे हैं, उन बहते हुए प्राणियों का हाथ पकड़कर किनारे कर देते हैं—सुखमय श्रीहरि की सुखद शरण में पहुँचा देते हैं।

कर्मठ कृपन कृषी रत निसिदिन जनमत मरत न हारे।
स्वर्ग मर्त्य पाताल काल बस तम न तिरत नहीं तारे॥३॥

जो भक्ति-विमुख कर्मासक्त, कर्मठ हैं, कृपण हैं और कर्मरूप खेती करने में ही रात-दिन रत—आसक्त रहते हैं। वे बार-बर जन्मते-मरते रहते हैं, फिर भी हारते नहीं, उन्हीं कर्मों में लगे रहते हैं। उन्हीं कर्मों के परिणामस्वरूप कभी स्वर्ग, कभी मृत्युलोक और कभी पाताल आदि लोकों में काल के अधीन होकर भटकते रहते हैं। वे कभी अज्ञानरूप मोह-माया-प्रवाह से तर नहीं सकते और न कोई उन्हें तार सकता है।

श्रीवन धाम स्याम स्यामा संतत द्रिग दरसि दुलारे।
चरन परत परतीति जीति जग जुग मग टरत न टारे॥४॥

रसिक-अनन्यजन कैसे हैं कि श्रीवनधाम—श्रीवृन्दावन निकुंज-महल में महामधुरातिमधुर विहार रस विलास करते हुए

श्रीश्यामा-श्याम को सन्तत–सदा-निरन्तर नेत्रों से देखते हुए दुलार–लाड़-प्यारसहित सेवा करते हुए उनके रस-सुख की वृद्धि करते रहते हैं। जो भी जन उनके चरणों की शरण ग्रहण करते हैं, वे श्रीयुगल–श्यामा-श्याम की प्रीति-प्रतीति से संसार को सहज जीत लेते हैं और उन्हें इतनी अनुराग की प्रबलता प्राप्त हो जाती है कि वे युग–मग–प्रिया-लाल के अनन्य प्रेमरसमय मार्ग से अनेक विघ्न-बाधाओं के आने पर और टालने पर भी टलते नहीं है, अडिग, सुदृढ़, सुस्थिर होकर अनन्य प्रेममार्ग पर आरूढ़ रहते हैं।

जनम मरन जुर विटप बाढ़ कूँ उत्कट कृया कुढ़ारे।
पाप ताप संताप ताप त्रय तासु दारु हित आरे ॥५॥

जीव के लिये जन्म-मरण के ज्वर–तापरूप विकट पेड़ों की बाढ़–वृद्धि को काटने–दूर करने के लिये उनकी तीव्र ज्ञान-वैराग्य-भक्तिमयी क्रिया कुढ़ारी–कुल्हाड़ी के समान छिन्न-भिन्न करनेवाली है और वे भयंकर पापों के ताप एवं त्रिविध तापों के संताप–दुःख-दाह-जलनरूप दारु–लकड़ी के लिये आरा के समान चूर्ण करनेवाले हैं।

गंगादिकनि पवित्र करत पद जासु भवन मधि धारे।
दास किसोर प्रनित जे प्रनजुत लै संग धाम पधारे ॥६॥२४०॥

वे अपनी चरण-रज से गंगादिक तीर्थों को भी पवित्र करते हैं। जिस भाग्यशालीजन के घर में वे अपने चरण धरते हैं, उसे तो पवित्र करके भगवत्धाम ही बना देते हैं। महान्त श्रीस्वामी किशोरदास जी महाराज कहते हैं कि जो जन दृढ़ विश्वास-भक्ति-भाव के प्रणसहित उनकी शरण लेते हैं, उसे तो वे अपने संग परम पद–परम धाम श्रीवृन्दावन में श्रीयुगलविहारी के निकट सेवा में ले जाते हैं। यह चिरजीवन की प्राप्ति है।

–: इति एकादश (११) पद का भावार्थ :–



अथ द्वादश पद—अवतरण

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैर्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः॥

भा. २-२-४

जब जमीन पर सोने से काम चल सकता है, तब पलंग के लिये प्रयत्न करने से क्या प्रयोजन। जब भुजाएँ अपने को भगवान् की कृपा से स्वयं मिली हैं, तब तकियों की क्या आवश्यकता। जब अञ्जलि से काम चल सकता है, तब बहुत-से बर्तन क्यों बटोरें। वृक्ष की छाल पहनकर या वस्त्रहीन रहकर भी यदि जीवन धारण किया जा सकता है, तो वस्त्रों की क्या आवश्यकता।

चिराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥५॥

पहनने को क्या रास्तों में चिथड़े नहीं हैं? भूख लगने पर दूसरों के लिये ही शरीर धारण करनेवाले वृक्ष क्या फल-फूल की भिक्षा नहीं देते? जल चाहनेवालों के लिये नदियाँ क्या बिलकुल सूख गयी हैं? अरे भाई! सब न सही, क्या भगवान् भी अपने शरणागतों की रक्षा नहीं करते? ऐसी स्थिति में बुद्धिमान् लोग भी धन के नशे में चूर घमंडी धनियों की चापलूसी क्यों करते हैं?

एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः।
तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत संसारहेतूपरमश्च यत्र॥६॥

इस प्रकार विरक्त हो जाने पर अपने हृदय में नित्य विराजमान, स्वतःसिद्ध, आत्मस्वरूप, परम प्रियतम, परम सत्य जो अनन्त

भगवान् हैं, बड़े प्रेम और आनन्द से दृढ़ निश्चय करके उन्हींका भजन करे; क्योंकि उनके भजन से जन्म-मृत्यु के चक्कर में डालनेवाले अज्ञान का नाश हो जाता है।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥

भा. ११-१८-२८

ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, मुमुक्षु और मोक्ष की भी अपेक्षा न रखनेवाला मेरा भक्त आश्रमों की मर्यादा में बद्ध नहीं है। वह चाहे तो आश्रमों और उनके चिह्नों को छोड़-छाड़कर, वेद-शास्त्र के विधि-निषेधों से परे होकर स्वच्छन्द विचरे।

बुधो बालकवत् क्रीड़ेत् कुशलो जडवच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तवद् विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत्॥ २९॥

वह बुद्धिमान् होकर भी बालकों के समान खेले। निपुण होकर भी जड़वत् रहे, विद्वान् होकर भी पागल की तरह बातचीत करे और समस्त वेद-विधियों का जानकार होकर भी पशुवृत्ति से (अनियत आचारवान्) रहे।

वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः।
शुष्कवादविवादे न कञ्चित् पक्षं समाश्रयेत्॥ ३०॥

उसे चाहिये कि वेदों के कर्मकाण्ड-भाग की व्याख्या में न लगे, पाखण्ड न करे, तर्क-वितर्क से बचे और जहाँ कोरा वाद-विवाद हो रहा हो, वहाँ कोई पक्ष न ले।

नोद्विजेत जनाद् धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
देहमुद्दिश्य पशुवद् वैरं कुर्यान्न केनचित्॥ ३१॥

वह इतना धैर्यवान् हो कि उसके मन में किसी भी प्राणी से उद्वेग न हो और वह स्वयं भी किसी प्राणी को उद्विग्न न करे। उसकी कोई निन्दा करे, तो प्रसन्नता से सह ले; किसीका अपमान न करे। प्रिय उद्धव! संन्यासी इस शरीर के लिये किसीसे भी वैर न करे। ऐसा वैर तो पशु करते हैं।

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च॥३२॥

जैसे एक ही चन्द्रमा जल से भरे हुए विभिन्न पात्रों में अलग-अलग दिखायी देता है, वैसे ही एक ही परमात्मा समस्त प्राणियों में और अपने में भी स्थित है। सबकी आत्मा तो एक है ही, पञ्चभूतों से बने हुए शरीर भी सबके एक ही हैं, क्योंकि सब पाञ्चभौतिक ही तो हैं। (ऐसी अवस्था में किसीसे भी वैर-विरोध करना अपना ही वैर-विरोध है)।

अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित्।
लब्ध्वा न हृष्येद् धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम्॥३३॥

प्रिय उद्धव! संन्यासी को किसी दिन यदि समय पर भोजन न मिले, तो उसे दु:खी न होना चाहिये और यदि बराबर मिलता रहे, तो हर्षित न होना चाहिये। उसे चाहिये कि वह धैर्य रखे। मन में हर्ष और विषाद दोनों प्रकार के विकार न आने दे; क्योंकि भोजन मिलना और न मिलना दोनों प्रारब्ध के अधीन हैं।

यदाऽनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोकेवेदे च परिनिष्ठिताम्॥

प्रेमपूर्ण हृदय से आराधित भगवान् श्रीहरि जब प्रसन्न होकर अनुग्रह करते हैं, तब वह भक्त लोक-वेद के धर्मों में निष्ठापूर्वक लगी हुई मति को त्याग देता है और स्व-स्वरूप में स्थित होकर श्रीहरि की प्रेममयी भक्ति में तत्पर-तल्लीन हो जाता है।

इत्यादि वचनों से वैराग्य होना परमावश्यक है। क्योंकि वैराग्य के बिना न ज्ञान की स्थिति है न भक्ति की। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं—

बिन वैरागै भक्ति न ज्ञान। प्रगट पुकारैं वेद पुरान॥
बात बनाये मन न पत्याइ। भाव बिसारै भजन भंड्याइ॥

वेद पुराण-शास्त्रादि प्रकट पुकारकर कहते हैं कि शरीर और संसार से वैराग्य हुए बिना न भक्ति हो सकती है और न ज्ञान ही हो सकता है। बहुत-सी ज्ञान-भक्ति आदि की बातें बनाते रहो—कहते-सुनते रहो, जबतक देह-गेहादि विषयों से वैराग्य—उपरामता नहीं प्रकट होगी, तबतक मन अपने स्वरूप में—भक्ति में प्रतीति नहीं करेगा, नहीं लगेगा। अपने भाव—प्रेम-सम्बन्ध स्वरूप को भूल जाने से तो भजन ही नष्ट हो जाता है।

सो अब वैराग्य का उपदेश दर्शाते हैं कि कौन तरह से वैराग्य होता है।

पद—

मन लगाइ प्रीति कीजै कर करवा सौं ब्रज बीथिन दीजै सोहनी।
वृन्दावन सौं वन उपवन सौं गुंजमाल हाथ पोहनी॥
गो गो सुतनि सौं मृगी मृग सुतनि सौं और तन नेंकु न जोहनी।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी सौं चित्त
ज्यौं सिर पर दोहनी॥१२॥

अर्थ—मन लगाकर—मन को स्थिर—एकाग्र करके प्रिया-प्रियतम में प्रीति करे और सबका परित्याग करके हाथ में केवल मृत्तिका (मिट्टी) का पात्र—करुवा धारण करे तथा इतना निरभिमान हो जाय कि व्रज की सुन्दर गलियों—मार्गों में सोहनी—बुहारी देता रहे।

श्रीवृन्दावन तथा अन्य बारह वन और बारह उपवन हैं, इनके अन्तर्गत जो भूमण्डल—व्रजभूमि—श्रीकृष्ण-विहार-स्थल है,

उसका सेवन करना और उन वनों से वन्यपुष्प और गुञ्जादि को तोड़कर, उनकी माला गूँथकर श्रीविहारी जी को–प्रियालाल को धारण कराना चाहिये।

जैसे अनेक गौ हैं और मृगी अनेक हैं तथा उनके बच्चे भी बहुत हैं और एक ठिकाने ही रहते हैं; परन्तु गायों की और मृगियों की स्नेह भरी दृष्टि अपने-अपने बच्चाओं पर ही रहती है, दूसरे बच्चाओं की ओर तनिक भी जाती नहीं है। अथवा गायों के बछड़ा और मृगियों के बच्चा अपनी-अपनी माताओं से ही प्रीति करते हैं, समूह में भी अपनी माताओं के पास पहुँच जाते हैं, दूसरी की ओर तनिक भी नहीं देखते हैं। इसी प्रकार साधक भी श्रीविहारी जी के सिवा अन्यत्र मन को न लगाये।

रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज आगे कहते हैं कि ऐसे सेवा-कार्य करते हुए भी अथवा और इन्द्रियों से और भी सेवा के निमित्त कार्य करते हुए भी उस समय मन को प्रभु–श्रीप्रिया-लाल में ही लगाये रखे; जैसे कोई गूजरी दूध की भरी हुई दोहनी–मटकी को माथे पर धरकर चलती है। उस समय संग की सखियों से बातें भी करती जा रही है, मार्ग भी देखती जा रही है, परन्तु चित्त दोहनी में ही लग रहा है। दोहनी ऐसी साध रखी है कि हिल भी नहीं सकती। इसी प्रकार अन्य सभी कार्य करते हुए भी मन श्रीप्रिया-प्रियतम–श्यामा-कुंजबिहारी में अडिग रहे। उनके श्रीचरणों में चित्त-वृत्ति का निरन्तर तीव्र अनन्य प्रवाह प्रवाहित होता रहे।

मूल—मन लगाइ प्रीति कीजै कर करवा सौं
ब्रज बीथिन दीजै सोहनी।

अर्थ—मन लगाकर–मन को स्थिर-एकाग्र करके प्रिया-प्रियतम में प्रीति करे और सबका परित्याग करके हाथ में केवल मृत्तिका का पात्र–करुवा धारण करे तथा इतना निरभिमान हो जाय कि ब्रज की सुन्दर गलियों में सोहनी–बुहारी देता रहे।

भावार्थ—उक्तार्थ में शास्त्र-सम्मति भी इस प्रकार है—

प्रीतिर्न यावन्मयिवासुदेवे न मुच्यते देह योगेन तावत्।

श्रीभगवान् कहते हैं कि जबतक मुझ वासुदेव श्रीहरि में दृढ़ प्रीति—प्रेमलक्षणा भक्ति नहीं हो जाती, तबतक जीव देह-सम्बन्ध से मुक्त नहीं होता।

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥

भा. ३-२५-४४

संसार में मनुष्य के लिये सबसे बड़ी कल्याण की प्राप्ति यही है कि उसका चित्त तीव्र भक्तियोग के द्वारा मुझमें लगकर स्थिर हो जाय।

विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम्।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये॥

भा. ३-२५-४०

जो शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले हैं, उन सबको और अन्यान्य संग्रहों को भी छोड़कर अनन्य भक्ति से सब प्रकार मेरा ही भजन करते हैं, उन्हें मैं मृत्युरूप संसारसागर से पार कर देता हूँ।

साधक को सुदृढ़-स्थिर मन से अपने इष्ट से प्रेम करना चाहिये। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं—

साधन श्रवन सुने सब कीने। तन पचि मरे बिना मन दीने॥
जहँ मन तहँ मन की मनसा धरि। अपने प्रभु सौं खेल नित निडरि॥१७१॥

जितने भक्ति-साधन शास्त्रों में सुने, वे सब किये, किन्तु मन के दिये बिना—लगाये बिना शरीर से साधन का श्रम करके मर मिटे, तो भी परमार्थ-सिद्धि—भगवत्प्राप्ति नहीं हुई। इसलिये जहाँ मन में इष्ट-सेवन की प्राप्ति की दृढ़ इच्छा है, वहाँ मन के साथ

मन की मनसा–वृत्ति को भी लगाना चाहिये, तब अपने प्रभु सों निर्भय होकर नित्य खेलो–उनके विहार का सेवन करो।

आगे विरक्ति–वैराग्य का उपदेश करते हैं कि वैराग्यपूर्ण रहनी से रहना। क्योंकि शरीर और संसार असत्य दुःखरूप और दुःखों के घर हैं, जबतक यह प्रतीति नहीं होगी, तबतक इनसे वैराग्य नहीं होगा, और वैराग्य हुए बिना न भक्ति है न ज्ञान।

बिन वैरागै भक्ति न ज्ञान। प्रगट पुकारैं वेद पुरान॥

गुरुदेव श्रीबिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि वेद-पुराण-शास्त्रादि प्रकट पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि वैराग्य के बिना भक्ति-ज्ञान की स्थिति नहीं है। इसलिये परम करुणामय श्रीस्वामी जी महाराज अपने आश्रितजनों को तीव्र वैराग्य का उपदेश दे रहे हैं कि इसके बिना प्रेमधर्म को धारण नहीं कर सकते।

करुवा धारण करना वैराग्य की चरम सीमा है, सर्वोच्च अधिकार की बात है। जो अपने नित्य स्वरूप में निरन्तर स्थित हैं, जो भोग्य और भोक्तापने के भाव से ऊपर उठ गये हैं, देहाभिमानियों के लिये प्रवर्तित विधि-निषेध प्रतिपादक शास्त्र भी जिनसे निवृत्त हो जाते हैं, वे परमहंस महात्मा ही श्रीगुरुदेव के द्वारा करुवा प्राप्त करते हैं। ऐसे रज के करुवा के ग्रहण करने का अधिकार पाकर उसे मनोयोग के साथ दृढ़ता से धारणकर अपने इष्ट श्रीप्रिया-लाल से सुदृढ़ प्रीति करनी चाहिये।

श्रीगुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी विरक्त रहनी और गूदरी–करुवा की महिमा बताते हुए कह रहे हैं–

द्वै कौपीन गूदरी करुवौ। श्रीबिहारीदास इतने ही सरुवौ॥
स्याम सुजस रस गावत गरुवौ। लागत जग तृन हू तें हरुवौ॥४७॥

दो कोपीन, एक गूदरी और करुवा यही विरक्त की सम्पत्ति है। हे श्रीविहारीदास!–श्रीविहारी-विहारिणि के दास! इतने ही से

तुम्हारा निर्वाह हो जायगा और इतने ही से निर्वाह करना चाहिये तथा श्याम–श्रीविहारी जी के सुन्दर-मधुररस-सुयश जो अति भारी–महान्, श्रेष्ठ है, उसको उमँग-उमँगकर गान करने में तत्पर-तल्लीन रहना चाहिये। उस रस सुयश के गान के प्रभाव से सम्पूर्ण जग तृण से भी हलका–फीका, सारहीन लगने लगेगा।

काँध कमरिया फाटरी, हाथ करवरा फूट।
श्रीबिहारीदास निर्भय भये, सुख ज्यौं भावै त्यौं लूट॥४८२॥

कंधे पर कमरिया–छोटा कम्बल है। वह कमरिया भी फाटरी–जहाँ-तहाँ से फटी हुई है और हाथ में मिट्टी का करुवा है, वह भी फूटा हुआ है, अर्थात् उसका गला या टोंटी या दोनों फूटे हुए हैं। देखने में तो दरिद्री का–गरीबी का-सा स्वरूप दिखता है, परन्तु है महाविरक्ति–वैराग्य का, परमहंस का स्वरूप। जो लोक–परलोक के सुख-दु:खादि द्वन्द्वों से मुक्त हो गये हैं, जिनका मन राग-द्वेष से रहित हो गया है, जो सर्वथा निर्दोष, निष्काम हो चुके हैं, ऐसे महानुभावों का यह परम शोभनीय उत्तम शृंगार है। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि ऐसे श्रीविहारीदास–श्रीकुंजविहारी-विहारिणि के दास लोक-परलोक के द्वन्द्वों से निधरक-निधड़क–निर्भय, निश्चिन्त होकर ज्यों अच्छा लगता है, जैसी इच्छा होती है, वैसे ही श्रीप्रिया-लाल के प्रेमरसानन्दमय परम सुख को लूटते हैं–सरस रसमय गुणगान, चिन्तन और सेवनद्वारा परम रसानन्द का उपभोग करते हैं।

करुवौ लाग्यौ जगत कौं, मीठौ लाग्यौ मोहिं।
श्रीबिहारीदास हरिदास बल, कर गहि गाऊँ तोहिं॥ ४८३॥

गुरुदेव श्रीबिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि यह करुवा (करुवाधारणपूर्वक परम वैराग्यपूर्ण रहनी) जगत्–माने जो संसारी हैं, देह-गेह के सुख में आसक्त हैं, उन्हें कड़ुवा लगा-अर्थात् उन्हें बहुत

दु:खमय, कष्टकर लगा; किन्तु मुझे तो मीठा लगा-अर्थात् परम सुखमय और दिव्य, चिन्मय प्रेमरसानन्द देनेवाला लगा। इसे अपने बल से कोई धारण नहीं कर सकता। महामाधुर्य रसमय नित्यविहार रस के परम उपासक रसिक-अनन्य शिरोमणि परम गुरु श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के बल पर ही मैं तुझे (करुवा को) हाथ में धारण करके तेरे प्रताप, गुण, रसमयी कीर्ति को गाता हूँ। तू देह-गेहमय समस्त माया-प्रपंच से मुक्तकर परम श्रेष्ठ रसमय वस्तु को देनेवाला-उपभोग करानेवाला है।

मीठे सौं करुवौ कहै, यौं भूल्यौ संसार।
करवे ते मीठौ भयौ, जब कीनौं विमल विचार॥४८४॥

आप करुवा का अक्षरार्थ करते हुए कह रहे हैं कि संसार की असत्य, भ्रमपूर्ण विपरीत बुद्धि है कि जो करुवा मीठा है-प्रेमरसमय सुखपूर्ण है, उसे कड़ुवा कहते हैं-अत्यन्त दु:खपूर्ण, कष्टकर कहते हैं और असत्य, दु:खमय संसार की दु:ख-दावाग्नि से पूर्ण वस्तु-रीति को सुखपूर्ण मानते हैं। श्रीगुरुदेव जी कहते हैं कि जब विमल--वासनाहीन उज्ज्वल तत्त्व-विचार किया तो दु:ख-कष्टमय भासनेवाला करुवा कडुवे से मीठा हो गया। अर्थात् परम प्रेमभक्ति रस सुखमय और सुख को देनेवाला हो गया।

ब्रज रज कौ करुवौ गढ़्यौ, संतत सुखद प्रसाद।
श्रीबिहारीदास रस परस बिन, को जानै सुख स्वाद॥४८५॥

अब करुवे की स्वरूप-महिमा को वर्णन कर रहे हैं कि यह करुवा श्रीश्यामा-श्याम, सहचरिगण और रसिक-अनन्य महानुभावों की परम पावन-दिव्य रसरूप चरणरज-व्रजरज से गढ़ा-बना हुआ है, इसलिये संतत-निरन्तर, सदा, सहज सुखदायी है तथा प्रसादस्वरूप है। अथवा उन्होंने व्रजरज का आस्वादन किया है-मुख सों चाखा है, इसलिये सदा सुखदायक, परम पावन प्रसादस्वरूप है। अथवा जब नवीन करुवा धारण करते हैं, तब उसमें जल या शरबत आदि

भरकर श्रीहरि-गुरु को भोग लगाते हैं, इसलिये वह नित्य, सुखद प्रसादस्वरूप है। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि जबतक श्रीविहारी-विहारिणि के दास बनकर परम उज्ज्वल प्रेम रस भक्तिद्वारा उनके परमोज्ज्वल दिव्य रस–नित्यविहार रस का परस–आस्वाद-अनुभव नहीं किया, तबतक उस रसास्वादी बिना कौन ऐसा है जो इसके (करुवा के) सुख-स्वाद को जान सके? अर्थात् कोई नहीं जान सकता।

चौरे मुँह साँकरे गरे, सुवन ऐंटनी सूल।
तन हरुवौ गरुवौ सजल, करुवौ मीठौ मूल॥४८६॥

अब करुवा का स्वरूप वर्णन कर रहे हैं कि वह करुवा कैसा है कि जिसका मुख चौड़ा है और गला सँकरा है तथा ऐंटनी–टोंटनी सुन्दर गोल-लम्बी बनी हुई एवं उसमें सूल–छेद भी सुन्दर–गोल है। उस करुवे का तन–शरीर हरुवौ–हलका है, किन्तु उसमें जल बहुत आता है; इसलिये सजल–जल से युक्त होने पर वह गरुवौ–भारी हो जाता है। ऐसा करुवा मीठे का मूल–कारण है, अर्थात् ऐसी विरक्तिपूर्ण रहनी समस्त तृष्णाओं को निर्मूलकर परम सुख को देनेवाली है।

श्रीबिहारीदास ब्रज यौं बसौ, करवौ कामरि ख्यात।
यथा लाभ संतोष गहि, ब्रजवासिन कौ भात॥४८७॥

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि हे श्रीविहारीदास श्रीयुगल-उपासकजनो! तुम्हें परम प्रेम रस की प्राप्ति करनी है तो तुम ब्रज–ब्रज-वृन्दावन में यौं–माने ऐसी विरक्तिपूर्ण रहनी से बसौ–रहो। उस रहनी को बताते हैं कि **करुवौ कामरि ख्यात**–हाथ में करुवा और कंधे पर कामरी–कमरिया, यही रहनी परम-अत्यन्त प्रसिद्ध है–शास्त्र-पुराण-सन्तजनों से प्रशंसित है। इस विरक्तिपूर्ण रहनी का दूसरा अंग बताते हैं कि विरक्त का धन सन्तोष है। श्रीबिहारीवल्लभ जी कहते हैं–

सील सार संतोष जो आया। सुख सम्पति सुपने सम भाया॥
श्रद्धा सान्ति समानता आई। साधक सिद्ध सिद्ध सुभाई॥

सखी सुखसार सिद्धान्त

यदि साधक के मन में सब गुणों का सार शील–नम्र, संकोच, विनय–शील गुण और सन्तोष–प्रभु ने जो कुछ दिया सो बहुत दिया, उसीमें सन्तुष्ट–प्रसन्न रहना–यह गुण आ जायें, तथा लोक–परलोक की समस्त सुख–सम्पत्ति स्वप्न के समान असत्य भ्रमरूप लगने लगे एवं श्रद्धा, शान्ति, समानता आ जायें, तो साधक सिद्धस्वरूप को प्राप्त कर लेता है और सिद्ध की तो इससे स्वाभाविक ही शोभा वृद्धि को प्राप्त होती है।

श्रीगुरुदेव जी कहते हैं कि व्रजवासियों के यहाँ से भात–चावल, रोटी के टूक आदि (मधुकरी) यथालाभ–जो कुछ भी अल्प या विशेष मिल जाय, उसीमें सन्तोष ग्रहणकर युगल के परम पावन नाम–गुण को गाते–सेवन करते हुए समय बिताना चाहिये।

श्रीबिहारीदास सँवारि सर, लियें सिंधौरा हाथ।
सनमुख सती सराहिये, जरै खसम के साथ॥४८८॥

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि ऐसी विरक्तिपूर्ण रहनी से रहनेवाले विरक्तजन दृढ़ प्रणधारी होते हैं। वे अपने अनन्य धर्म को सती स्त्री के समान सदा अनन्य प्रण से दृढ़तापूर्वक निबाहते हैं। जैसे सती स्त्री पति के मरने पर सर–माने चीता के सँवारने–सजाने पर अपना सोलह श्रृंगार करके हाथ में सिंधोरा–सिंदूर आदि श्रृंगार का पात्र लेकर सन्मुख–पति के साथ चीता पर चढ़ जाती है और सबके देखते–ही–देखते खसम–पति के साथ जल जाती है। सभी उसके सन्मुख–सामने ही उसकी भूरि–भूरि–बहुत सराहना–प्रशंसा करते हैं, गुण गाते हैं।

हाथ करवरा सिंधौरा, माथे तिलक सिंदूर।
श्रीबिहारीदास सत जानिये, जरत जुरत रन सूर॥४८९॥

रसिक-अनन्य प्रणधारी रसिक-अनन्यजनों के हाथ में करुवा ही सिंधोरा है और माथे का तिलक ही सिंदूर है। यही उनका परम विरक्तता से पूर्ण शृंगार है। वे इसी विरक्तिमय शृंगार से सदा भूषित रहकर अपने अतिशय प्राणप्रियतम श्रीयुगलवर को नित्य लड़ाते-दुलारते हैं। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि उनके सत की-पतिव्रतवत् अनन्य धर्म की सत्यता-दृढ़ता तो तभी सत्य-सच्ची जानिये-जैसे सतीस्त्री पति के साथ सहज हँसते हुए जल जाती है और शूर-वीर उत्साह-साहसपूर्वक रण में जुड़ा रहता है-लड़ते-लड़ते मर मिटता है, किन्तु पीछे हटता नहीं है, ऐसे ही जब वे परम विरक्तियुक्त रहनी के साथ अपने अनन्य धर्म के सेवन में सदा-सर्वदा, तत्परता से उत्साह से संलग्न रहें-लगे रहें।

रसिक महानुभावों ने करुवा का अति महत्त्व-प्रताप गाया है। श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं-

परम पावन करुवा कौ पानी।
जाके पियत हृदय में आवत मोहन राधा रानी॥
अनुभव प्रगट होत क्रीड़ा कौ मोद विनोद कहानी।
भगवतरसिक निकुंज महल की टहल मिलै मनमानी॥१०॥

करुवा परम पावन-अत्यन्त पवित्र है, उसके जल की महिमा का क्या कहना? वह भी अत्यन्त-अति श्रेष्ठ पावन है। जिनकी प्राप्ति ऋषि-मुनि, सिद्ध और ईश्वरोंतक को भी अति दुर्लभ है। उन श्रीवृन्दावनेश्वर मोहन-श्रीकुंजविहारी और श्रीराधारानी की प्राप्ति जिसके जल को-करुवा के जल को पीते ही सहज हो जाती है-वे हृदय में आ विराजते हैं। इतना ही नहीं, उन श्रीयुगलकिशोर की अत्यन्त रहस्यमयी क्रीड़ा का-नित्यविहार का अनुभव-रसास्वाद

प्रकट हो जाता है। तथा उनकी क्रीड़ा की मोद-विनोद-रहस्यानन्दयुक्त हास्य-परिहास्यमयी कहानी—सरस-मधुर चर्चा को कहने-सुनने में वह आनन्दोन्मत्त हो जाता है। इतना ही नहीं, उसे श्रीयुगल के अतिगूढ़—रहस्यमय निकुंजमहल की मनमानी—इच्छानुसार उन्मुक्त, प्रतिबन्धरहित टहल—सेवा मिल जाती है। वह परम धन्य-धन्य हो जाता है।

जिस करुवा के जल का इतना बड़ा प्रभाव है, उससे विशेष प्यारी और कौन वस्तु हो सकती है?

ब्रज बीथिन दीजै सोहनी—से भाव यह है कि व्रजरज की अद्भुत-अनूप महिमा है। जिसका सेवन समस्त साधनों का सार है। जो सहज ही सभी भ्रम-सन्देहों को नष्ट करके और अज्ञानजन्य श्रम-क्लेशों को दूरकर परम प्रेम की प्राप्ति कराकर इष्ट-श्रीयुगलवर की सेवा को देनेवाली है।

सोहनी सेवा से शरीर सहज ही व्रजरज की सेवा में लग जाता है। इससे विशेष लाभ यह होता है कि ब्रजकण उड़-उड़कर शरीर के छिद्रों से भीतर प्रवेश करते हैं और बाहर भी रोम-रोम में लगते हैं, जिससे जन्म-जन्म के अशुभ संस्कार उसीक्षण नष्ट हो जाते हैं और परम प्रेम की प्राप्ति होती है।

इसीलिये परम भागवत उद्धव, ब्रह्मादिक आदि व्रजरज की प्राप्ति के लिये सदा लालायित रहते हैं। परम भागवत श्रीउद्धव जी तो लता-गुल्मरूप होकर रज की प्राप्ति के लिये अपनी प्रबल लालसा व्यक्त करते हैं।

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

भा. १०-४७-६१

मेरे लिये तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस श्री वृन्दावन धाम में कोई झाड़ी, लता अथवा ओषधि–जड़ी-बूटी ही बन जाऊँ। अहा! यदि मैं ऐसा बन जाऊँगा, तो मुझे इन व्रजाङ्गनाओं की चरणधूलि निरन्तर सेवन करने के लिये मिलती रहेगी। इनकी चरणरज में स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा। धन्य हैं ये गोपियाँ। देखो तो सही, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजन सम्बन्धियों तथा लोक-वेद की आर्य-मर्यादा का परित्याग करके इन्होंने भगवान् की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है–औरों की तो बात ही क्या–भगवद्वाणी, उनकी निःश्वासरूप समस्त श्रुतियाँ, उपनिषदें भी अबतक भगवान् के परम प्रेममय स्वरूप को ढूँढ़ती ही रहती हैं, प्राप्त नहीं कर पातीं।

जिस रज के लिये श्रीब्रह्मा जी भी सदा तरसते रहते हैं और कहते हैं कि–

षष्ठि वर्ष सहस्राणि मया तप्तं तपः पुरा।
नन्दगोपव्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये॥
तथापि न मया प्राप्तास्तासां वै पादरेणवः॥

व्रजाङ्गनाओं की चरणरेणु प्राप्त करने के लिये मैंने प्राचीन काल में साठ हजार वर्षतक महान् तप किया था, परन्तु फिर भी मुझे उन व्रजदेवियों की चरणरज प्राप्त नहीं हुई। तो फिर इस रज की महिमा का वर्णन कोई क्या कर सकता है?

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं–

ब्रज रज काज कियौ रज राखी।
उद्धव आदि ब्रह्मादिक दुर्लभ परी प्रवान जु ही सुक भाखी।
जाकौ सुजस बखानत श्रीमुख स्यामा स्याम सहस मुख साखी॥
श्रीबिहारीदास विस्वास तिहीं बल उमड़ि मैंड मरजादा नाखी।
रह्यौ न मन भै भ्रम क्रम श्रम कछु ब्रज रज काज कियौ रज राखी॥६१॥

जिसने व्रजरज राखी–व्रजरज का सच्चे भाव से सेवन किया, उसका काज–मायाबन्ध से मुक्त होकर परम प्रेम की प्राप्ति कर लेना, यह कार्य व्रजरज ने सहज ही कर दिया। यह श्रीउद्धव आदि भक्त और ब्रह्मादिक देवताओं को भी दुर्लभ पड़ी है–माने दुर्लभ है। जिसका वर्णन स्वयं श्रीशुकदेव जी ने ही किया है, उनके वचन ही प्रमाण हैं। जिस रज का सुयश महामधुर रस विलासी श्रीश्यामा-श्याम भी अपने श्रीमुख से बार-बार वर्णन करते हैं, इसकी साक्षी अनन्त भगवान् श्रीशेष जी अपने हजार मुख से देते हैं।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं कि हमने रज की इसी महिमा के विश्वास के बल पर उमड़कर–उमँगकर लोक-वेद की सभी मर्यादाओं की सीमा को त्याग दिया और रज के अनन्य आश्रित होकर उसका सेवन करते हैं। उसी रज के प्रताप से मन में माया-मोह के भ्रम के भय और कर्मों के श्रम आदि का कुछ भी भ्रम-क्रम-श्रम नहीं रहा–सब दूर हो गया। इसी प्रकार व्रजरज ने मानवशरीर धारण का कार्य–श्रीयुगलवर के श्रीचरणों की सेवा-प्राप्ति को सहज ही कर दिया, उसीने व्रजरज के सेवन की अनन्य निष्ठा प्रदान की।

और भी कहते हैं–

प्रेम पदारथ दूर है बिन सेये रज रूख।

श्रीवृन्दावन की रज और रूख–वृक्ष-लता का सेवन किये बिना श्रीयुगलवर-श्यामा-श्याम के अति उज्ज्वल, महामधुर सरस प्रेम-पदार्थ की प्राप्ति होना अति दूर है।

श्रीवृन्दावन कौ सो सुख कहूँ न लह्यौ।
धर्म अर्थ कामना मुक्ति पद भेद भक्ति बहु भाँति कह्यौ ॥

श्रीवृन्दावन के सेवन के, उनके वास के, उनकी रस-उपासना के सेवन के समान सुख और लोकों तथा वैकुण्ठ आदि धामों में, कहीं भी नहीं मिला। और स्थानों पर धर्म का, अर्थ-पुण्यों का,

कामना-भोगों का, मुक्ति पद का विशेष वर्णन है। तथा भगवद् धामों में भक्ति का विशेष वर्णन है। उसमें भी शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य एवं श्रृंगार रस के भेद तथा मिश्रण को लेकर बहुत प्रकार के भक्ति के भाव-भेदों का वर्णन किया है, अनेक प्रकार के भेदों को कहा गया है।

परम पवित्र पुलिन सौरभ कन पावन जमुना नीर बह्यौ।
तिहिं सरिता सीतल मन कीनौं जिन संतापनि जगत दह्यौ॥

किन्तु श्रीवृन्दावन तो निकुंजेश्वर श्रीप्रियालाल का महामाधुर्य प्रेमरस विहारमय धाम है। जहाँ सभी वस्तुएँ दिव्य प्रेमरसमयी हैं। श्रीयमुना जी का पुलिन (नदी का रेतीला किनारा) तो परम-अत्यन्त पवित्र एवं दिव्य सौरभ से युक्त है, जिसके दर्शन से ही श्रीयुगलकिशोर के प्रेमरस की प्राप्ति होती है। श्रीयमुना जी का नीर तो परम पावन है ही, जो श्रीयुगलवर के प्रेमविहार रस का स्वरूप ही है, वह बह रहा है। उस दिव्य प्रेम रसमयी सरिता-नदी ने अपने दर्शन-स्पर्श और सेवन से सन्तापों से--जिन त्रिविध संतापों से सारा संसार जल रहा है, उससे मुक्तकर और विरह-संताप से भी मुक्तकरके हमारे मन को शीतल कर दिया-प्रेम रस रंग में डुबा दिया।

और लोक वैकुंठ आदि दै अनत कहूँ कछु बचि न रह्यौ।
कामधेनु गनत न कल्पद्रुम सोई दिन देत जोई जु चह्यौ॥

जिन सन्तापों से और लोकादि तथा वैकुण्ठादि अकुण्ठित-दिव्य धाम एवं अनत-अन्य और कहीं भी कुछ भी बचा न रहा, सर्वत्र व्याप्त हो गये, श्रीवृन्दावन उन संतापों से सर्वथा मुक्त करनेवाला है, अपने शरणागतजनों के मन को परम सुशीतल करनेवाला है। श्रीवृन्दावन इतने महान् उदार-दयालु, दाता हैं कि कामधेनु और कल्पवृक्ष उनके आगे कौन गिनती में हैं? अर्थात् कुछ भी गिनती में नहीं हैं। ये तो

सीमित और लौकिक फल देनेवाले हैं और श्रीवनराज असीमित तथा चिन्मय, दिव्य भगवदीय परम प्रेम फल को देनेवाले हैं। श्रीवृन्दावन दिन–सदा जो चाहते–इच्छा करते हैं, वही फल–सुख सहज दे देते हैं।

नित नौतन रस छाँड़ि विषै बसि कितक मान अपमान सह्यौ।
परम उदार श्रीबिहारी बिहारिनि दासि जानि जिय सरन गह्यौ॥१७॥

ऐसे नित्य नौतन–नवीन दिव्य महामाधुर्य प्रेम रसमय धाम के नित्य नवल रस को छोड़कर मैं माया-मोह के अधीन होकर विषय रस के वशीभूत हो इधर-उधर–लोक-परलोक में भटकता रहा और कितना मान एवं अपमान तथा दुःख सहन करता रहा, जिसकी कोई गिनती नहीं है। अब कृपा करके परम उदार–अत्यन्त महान् दयालु–दानी शिरोमणि श्रीवृन्दावन के अधीश्वर श्रीविहारी-विहारिणि ने अपना दास जान–निजजन जानकर मेरे को-मेरे जिय–जीव-आत्मा-हृदय को अपनी शरण–अपने आश्रय में दृढ़ करके ग्रहण कर लिया, पकड़ लिया। अथवा अपना निजजन जानकर जिय से–प्रेमपूर्वक हृदय से अपनी शरण में दृढ़ता से ग्रहण कर लिया, ले लिया।

रसिकवर श्रीस्वामी रसिकदेवजी कहते हैं-

और तीरथ के फल कौं धावै। कुंज कौ पत्र पूजि सो पावै॥

सकामीजन अन्य तीर्थादि के लिये श्रद्धापूर्वक तीव्रता से जाते हैं, किन्तु श्रीवृन्दावन के वासी आश्रितजनों को वनराज के पेड़, लता के एक पत्र को पूजने से वह समस्त फल सहज ही मिल जाता है, बल्कि उससे परे–श्रेष्ठ दिव्य फल–परम प्रेम रस तत्त्व भी सहज ही प्राप्त हो जाता है।

श्रीस्वामी भगवतरसिक जी कहते हैं–

अष्टसिद्धि नव निद्धिन के लक्षन तिन माहीं।
चिन्तामनि सुरधेनु कलप द्रुम देखि लजाहीं॥

श्रीनित्य वृन्दावन ध्यान

श्रीवृन्दावन के पेड़ और लता-वेलि आदि का अद्भुत, विचित्र ऐश्वर्य-माधुर्यमय स्वरूप है। उनमें अनन्त गुण, प्रभाव, प्रताप है। उनमें अष्ट सिद्धियों और नव निद्धियों के लक्षण और उनसे भी बिशेष लक्षण हैं। सखीजन श्रीयुगलवर की सेवा के लिये जो इच्छा करती हैं, वही वस्त्र, आभूषण आदि वे सहज प्रदान कर देते हैं; वस्त्र, आभूषण आदि उनमें सहज ही लटकते हुए दिखने लगते हैं।

वाराह पुराण में भी कहा है-

अनन्त कोटि ब्रह्माण्डे तद्बाह्यान्तर संस्थिते।
वैकुण्ठादि अंशाशं स्वयं वृन्दावनं भुवि॥

जो महाकाश के समान अनन्त करोड़-असंख्य ब्रह्माण्डों के बाहर-भीतर व्याप्त होकर विराजमान हैं और वैकुण्ठ, महावैकुण्ठ, गोलोकादि धाम भी जिसके अंश के भी अंशमात्र हैं, ऐसा महाप्रतापवान् परम ऐश्वर्य-माधुर्य रसमय श्रीवृन्दावन धाम पृथ्वी पर विराजित, सुशोभित है।

रसिकवर श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी कहते हैं-

नित्य ही राधा कृष्ण हैं, नित्य विपिन विलास।
कोटि कोटि गोलोक लौं, एक पत्र प्रकास॥१८२॥

श्रीराधा-श्रीकुंजविहारिणि-श्रीकृष्ण-श्रीकुंजविहारी ये जन्म-कर्म से रहित नित्य हैं और इनका निज धाम भी नित्य-सदा सर्वदा एकरस विराजमान है तथा इनका विलास-नित्यविहार नित्य एकरस है। श्रीवृन्दावन का ऐसा अद्भुत महान् वैभव-प्रताप है कि और धामों की क्या, करोड़ों गोलोक भी जिनके पेड़-लता के एक पत्ते से प्रकाशित होते हैं।

वैकुण्ठ महा वैकुण्ठ तें, गोलोक परे धाम।
ए सब सेवत वृन्दावनहिं, जहाँ बिहरैं स्यामा स्याम॥१८८॥

वैकुण्ठ से परे महावैकुण्ठ, जिसमें साकेत आदि अनेक धाम हैं। उससे परे–श्रेष्ठ ऊपर गोलोक धाम है। ये सब श्रीवृन्दावन का सेवन करते है; जहाँ श्रीश्याम-कुंजविहारिणि और श्याम श्रीकुंजविहारी निरन्तर विहार करते हुए विराजमान हैं।

रसिकवर श्रीस्वामी रसिकदेव जी कहते हैं–

भाग बड़ौ वृन्दावन पायौ।
जा रज कौं सुर नर मुनि वंछित विधि संकर सिर नायौ॥

अनेक जन्मों के पुण्यों के फल से और अकारण करुणामय श्रीहरि की कृपा से बड़ा भाग्य प्राप्त हुआ, जिससे नित्य निज धाम वृन्दावन को पाया–वास मिला। जिसकी रज (धूलि) को भक्त देवता, मनुष्य, श्रीनारदादि मुनिगण चाहते हैं–लालायित रहते हैं एवं श्रीब्रह्माजी, श्रीशंकर जी सिर नवाते हैं–भक्ति-भाव से वन्दना–प्रणाम करते हैं।

बहुतक जुग या रज बिन बीते जन्म जन्म डहकायौ।
सो रज अब कृपा करि दीनी अभै निसान बजायौ॥

इस रज के सेवन बिना बहुत युग बीत गये। जन्म-जन्म–प्रत्येक जन्म में माया ने विषय–वासना मोहान्धकार में बहका दिया–भ्रमित कर दिया। अब करुणानिधि श्रीश्यामा-श्यामा ने कृपा करके वही रज प्रदान की; जिससे त्रिविध ताप और अनेक संतापमय माया-मोह से मुक्त होकर अभय पद–परम प्रेमपद को प्राप्तकर, अभय निशान–नगाड़ा बजाया, अर्थात् निर्भय, निश्चिन्त होकर श्रीप्रिया-लाल के परम पावन सरस रसमय गुणों का प्रेम-मगन होकर गान करता रहता हूँ।

आइ मिल्यौ परिवार आपनौ हरि हँसि कंठ लगायौ।
स्यामा स्याम जू बिहरत दोऊ सखी समाज मिलायौ॥

इसी रज के प्रभाव से अपने निज सखी-परिवार से आकर मिल गया और जैसे बिछुड़े हुए प्रेमी को उमँगकर प्रेमी कण्ठ से

लगा लेता है, ऐसे श्रीहरि–श्रीविहारी-विहारिणि ने हँसकर कण्ठ से लगाया–लगा लिया तथा जहाँ श्रीश्यामा-श्याम दोनों अद्भुत सरस विहार करते हैं और श्रीललितादिक सखियाँ उन्हें अपने हृदय के विचित्र प्रेम रस से लाड़ लड़ाती हैं, उसी सखी-समाज (समूह) में मुझे भी उनके अनुरूप सरस सखीस्वरूप से मिला लिया। अब मैं भी उन नित्य सखीजनों के संग रहकर श्रीप्रिया-लाल को लाड़ लड़ाता हूँ।

सोग संताप करौ मति कोई दाव भलौ बनि आयौ।
श्रीरसिकबिहारी की गति पाई धनि धनि लोक कहायौ।।३।।

अब कोई भी शरीर छूटने आदि का शोक-संताप–विरह–दुःख मत करो, सुन्दर दाँव बन आया–ऐसा अवसर और कब मिलेगा? श्रीरसिकविहारी की गति पाई–प्राप्ति की, अंग–संग रहकर सेवा-लाड़–चाव प्राप्त कर लिया है। अब मैं धन्य-धन्य–कृतकृत्य, सफल मनोरथ, कृतार्थ हो गया हूँ। देव, मुनि, नर आदि सभी लोकजन मुझे धन्य-धन्य कह रहे हैं, प्रशंसा, बड़ाई कर रहे हैं।

श्रीवृन्दावन का और उसके सेवन का ऐसा महामहिमामय रूप है।

अब व्रजभूमि कितनी है, उसका विस्तार कहते हैं–

मूल- वृन्दावन सौं वन उपवन सौं गुंजमाल हाथ पोहनी।।

भावार्थ–श्रीवृन्दावन और उपवन मिलाकर बारह वन तथा बारह अन्य उपवन हैं, इनके अर्न्तगत जो भूमण्डल–व्रजभूमि श्रीकृष्ण विहारस्थल है, उसका सेवन करना।

मत्स्य पुराण में कहते हैं–

व्रजमण्डलं भूगोलं शेषनागफणावरम्।
कुमुदाख्यं महाश्रेष्ठं सर्वेषां मध्यसंस्थितम्।।१।।

श्री अनन्त–शेषनाग की श्रेष्ठ फण पर विराजित पृथ्वी पर व्रजमण्डल शोभित है। पृथ्वीमण्डल में सबके मध्य में स्थित कुमुद नामक महाश्रेष्ठ स्थान है।

तस्यो परिस्थितं लोकं सर्वस्थानमहाफलम्।
कृष्णलीलाविहारार्थमुच्चस्थानविराजितम्।।२।।

उसके ऊपर विराजमान जो लोक–धाम है, वह सर्वस्थानों–लोकों, धामों का महाफल–महान् सुख की प्राप्ति–स्थानरूप है। वह सबसे ऊँचा स्थान श्रीकृष्ण की लीला–विहार के लिये विराजित है।

चतुरशीति क्रोशेन परिपूर्णविराजितम्।
महावनं महाश्रेष्ठं तथा काम्यवनं शुभम्।।३।।

वह व्रजमण्डल चौरासी कोश में परिपूर्णरूप से रस लीलायुक्त परिशोभित है। पहला–१. महान् श्रेष्ठ महावन, दूसरा–२. परम शुभ कामवन है।

मध्वाख्यं तृतीयञ्च तुर्यं तालवन तथा।
पञ्चमं कुमुदाख्यं च षष्ठं भाण्डीर संज्ञकम्।।४।।

और तीसरा–३. मधुवन एवं चौथा–४. तालवन तथा पाँचवाँ–५. कुमुद नाम का वन और छठा–६. भाण्डीर नामक वन है।

नाम्ना वृन्दावनं श्रेष्ठं सप्तमं परिकीर्तितम्।
अष्टम खदिरं प्रोक्तं नवमं लोहजङ्घजम्।।५।।

सातवाँ–७. वृन्दावन नाम का सर्व श्रेष्ठ वन जो है, जिसकी महिमा बहुत प्रकार गायी हुई है। आठवाँ–८. खदिर नाम का वन है, नववाँ–९. लोहजङ्घ (लोह) नाम का वन है।

नाम भद्रवनं श्रेष्ठं दशमं बहुपुण्यदम्।
एकादशसमाख्यातं बहुलावन संज्ञकम्।।६।।

दशवाँ–१०. बहुत पुण्यों को देनेवाला श्रेष्ठवन भद्रवन नाम का वन है। ग्यारहवाँ–११. बहुलावन नाम का प्रसिद्ध वन है।

नाम बिल्ववनं श्रेष्ठं द्वादशं कामनाप्रदम्।
इति द्वादश संज्ञानि वनानि शुभदानि च॥७॥

और बारहवाँ-१२. सर्व कामनाओं को देनेवाला श्रेष्ठ वन बिल्व (बेल) वन है। इस प्रकार परम शुभ--मंगल को देनेवाले बारह वनों की नामावली है।

ये वन वृन्दावन के चारों ओर विराजित हैं।

अथ उपवनान्याह—अब उपवनों का वर्णन करते हैं।

आदौ ब्रह्मवनं नाम द्वितीयं अप्सरावनम्।
तृतीयं विह्वलं नाम कदम्बाख्यं चतुर्थकम्॥१॥

पहला-१. ब्रह्मवन नाम का वन, दूसरा-२. अप्सरावन, तीसरा-३. विह्वलवन नाम का वन, चौथा-४. कदम्ब वन नाम का वन है।

नाम स्वर्णवनं श्रेष्ठं पञ्चमं परिकीर्तितम्।
सुरभिवननामानं षष्ठमाह्लादवर्धनम्॥२॥

पाँचवाँ-५. स्वर्णवन नाम का श्रेष्ठ वन है, छठवाँ-६. आह्लाद—आनन्द बढ़ानेवाला सुरभिवन नाम का वन है।

श्रेष्ठं प्रेमवनं नाम सप्तम शुभदं नृणाम्।
मयूरवननाममष्टमं परिकीर्तितम्॥३॥

सातवाँ-७. मनुष्यों को शुभ—मंगल का देनेवाला श्रेष्ठ प्रेमवन नाम का वन है, आठवाँ-८. मयूरवन नाम का वन शोभित है।

मानेङ्गितवनं श्रेष्ठं नवमं मानवर्धनम्।
शेषशायीवनं श्रेष्ठं दशमं पापनाशनम्॥४॥

नववाँ-९. मान को बढ़ानेवाला मानेङ्गितवन नाम का श्रेष्ठ वन है, दशवाँ-१०. सब पापों का नाश करनेवाला शेषशायी वन नाम का श्रेष्ठ वन है।

एकादशसमाख्यातं नारदाख्यं शुभोदितम्।
द्वादशं परमानन्दवनं सर्वार्थदायकम्॥५॥

ग्यारहवाँ-११. सभी शुभ-कल्याणों को उदय करनेवाला अति प्रसिद्ध नारदवन नाम का वन है, और बारहवाँ-१२. सभी अर्थों-सुखों, फलों को देनेवाला परमानन्दवन नाम का वन है।

पुण्यं लक्षगुणं लब्ध्वा कृतेऽस्मिन् व्रजमण्डले।
कृष्णेन निर्मितास्तीर्थाः सार्धद्वयसहस्रकाः॥६॥

इस व्रजमण्डल में पुण्य करने पर उनका लाख गुणा फल विशेष होता है। व्रज में जितने भी तीर्थ हैं, वे श्रीकृष्ण के द्वारा निर्मित-बनाये हुए हैं, उन्होंने अपनी दिव्य चिन्मयी प्रेममयी लीला करके उनका निर्माण किया है।

एषां प्रदक्षिणीकुर्वन् धनधान्यसुखं लभेत्।
दानार्चावासतो लोको विष्णुलोकमवाप्नुयात्॥
आवासान् मृयते चेह पुर्नजन्म न विद्यते॥७॥

इनकी प्रदक्षिणा-परिक्रमा करने से धन-धान्य और सुख की प्राप्ति होती है। यहाँ दान, अर्चा-पूजा और वास करने से मनुष्य विष्णुलोक-श्रीकृष्ण के धाम को प्राप्त होता है तथा यहाँ वास करते हुए मरने पर फिर जन्म नहीं होता, वह प्राणी मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार साधक का निवास कहकर अब श्रीहरि की सेवा करने की आज्ञा कर रहे हैं। सो जब सबका परित्याग कर दिया, तब वित्तजा (धन से) सेवा तो हो नहीं सकती। इसलिये तनुजा सेवा के लिये कहते हैं कि **गुंजमाल हाथ पोहनी**-श्रीवृन्दावन में और वन-उपवन में जा-जाकर नाना प्रकार के सुगन्धित पुष्पों को और गुंजा-घुँघची, चिरमिटी के दानों को वन से लाकर हाथ से सुन्दर माला पोहनी-गूँथनी और श्रीप्रिया-प्रियतम को धारण करानी, यह तनुजा-शरीर से होनेवाली सेवा का उपदेश किया।

अब वन-उपवनों में भ्रमण करता हुआ और शरीर से सेवा करता हुआ भी श्रीविहारी जी के अलावा अन्य का आश्रय नहीं लेना, मन को अन्यत्र नहीं भटकाना, अर्थात् उनका निरन्तर अनन्य चिन्तन करना, यह उपदेश दृष्टान्त द्वारा कह रहे हैं।

मूल-गो गो सुतनि सौं मृगी मृग सुतनि सौं और तन नेकु न जोहनी।

अर्थ-जैसे वात्सल्यवती अनेक गौ हैं और अनेक मृगी हैं तथा उनके बच्चे भी बहुत हैं एवं एक ठिकाने पर ही रहते हैं, परन्तु गायों और मृगियों की स्नेहभरी दृष्टि अपने-अपने बच्चाओं पर ही रहती है, दूसरे बच्चाओं की ओर तनिक भी जाती नहीं हैं, अथवा गायों के बछड़ा और मृगियों के बच्चा अपनी-अपनी माताओं से ही प्रीति करते हैं, समूह में भी अपनी माताओं के पास पहुँच जाते हैं, दूसरी ओर तनिक भी नहीं देखते हैं। इसी प्रकार साधक भी प्रेमपूर्वक अपने परमाराध्य श्रीविहारी जी में अपने मन को लगाये, नेत्रों से उनकी रूप-माधुरी का पान करता रहे, और अन्यत्र किसी ओर मन को न लगाये तथा नेत्रों को चंचल न करे।

भावार्थ-अथवा **गो गो सुतनि सौं**- में एक और भाव है कि अपने इष्ट से अनन्य प्रेम करे, उनके नाम-रूप-लीला चिन्तन, सेवन में सदा लगा रहे और **मृगी मृग सुतनि सौं**-में यह भाव है। कि मृगी-मृग अपने बच्चों को अपने झुण्ड में रखते हैं, जिससे उसकी सुरक्षा हो सके, विघ्न की आशंका से आहट पाते ही भगाकर ले जायें। ऐसे ही सदा सत्संग में रहे, सत्संग का सदा सेवन करता रहे, जिससे माया-मोह से सुरक्षा हो और भक्ति तुष्ट-पुष्ट हो। **और तन नेकु न जोहनी**-इन दोनों बातों के अलावा और की ओर तनिक भी दृष्टि न करे, अन्यत्र मन न लगाये। क्योंकि अन्यत्र दृष्टि जाते ही माया-मोह के प्रभाव का असर हो जाता है।

गुरुदेव श्रीस्वामी विहारिणिदेव जी कहते हैं-

तित जिनि चितवहु बितवहु बुधि जित चलत जगत अभिमानी।

जिधर संसार के विषयासक्त अभिमानी लोग चलते हैं, उधर देखो भी मत। क्योंकि देखते ही तुम्हारी बुद्धि बीत जायगी, नष्ट हो जायगी, संसार की आसक्ति से भर जायगी।

अब आगें यह उपदेश करते हैं कि यदि और इन्द्रियों से भगवत्-सेवा के निमित्त उपरोक्त ये सब कार्य अथवा प्रत्येक कार्य भी भगवत्-सेवा के लिये करते हुए भी सब समय मन को श्रीहरि-श्रीविहारी जी में ही लगाये रखे, सो दृष्टांत द्वारा कह रहे हैं-

मूल- श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी सौं चित ज्यौं सिर पर दोहनी॥

अर्थ-श्रीस्वामी जी महाराज कहते हैं कि भगवत्-सेवा के निमित्त सभी कार्य करते हुए भी श्रीहरिदास के स्वामी श्यामा और कुंजबिहारी में चित्त को ऐसे लगाये रखे, चित्त का अनन्य, निरंतर प्रवाह ऐसा हो, जैसे कोई गूजरी दूध की भरी दोहनी-मटकी को सिर पर धरकर चलती है, उस समय संग की सखियों से बातें भी करती जाती है, हाथ भी हिलाती जाती है और मार्ग भी देखती जा रही है, परन्तु चित्त दोहनी में ही लग रहा है, दोहनी ऐसे साध रखी है कि हिल भी नहीं सकती।

अथवा जैसे कोई नटनी सिर पर घड़ा रखकर कुशलता से नृत्य दिखाती है। वह मुख से संगीत-कला की चतुरताद्वारा श्रोताओं के मन को खैंचने की चेष्टा करती है और हाथों से भाव दिखती है, परन्तु उसकी चित्तवृत्ति सिर पर रखे हुए घड़े में ही लगी रहती है, तनिक भी घड़ा हिल नहीं सकता। इसी प्रकार अन्य कार्य करते हुए भी मन श्री प्रिया-प्रियतम-श्यामा-कुंजविहारी में अडिग रहे, तनिक भी हिलने न दे। उनके श्रीचरणों में चित्तवृत्ति का निरन्तर, अनन्य प्रवाह होना चाहिये।

जब सब ओर से सिमिटकर, सब आशाओं को त्यागकर अपने इष्ट श्रीहरि–श्रीविहारी जी में मन अनन्यरूप से लग जाता है, तब उसकी सब चेष्टाएँ अपने इष्ट के लिये ही होती हैं, वह उनके बिना एक क्षण भी रह नहीं सकता, सदा विरह-व्याकुल रहता है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं–

प्रेम जो होय तौ रहै न छानौ।
जदपि इत चलि जात विवस तन मन उत ही तकि तानौ॥

यदि तन-मन-प्राणों में सच्चा प्रेम होता है, तो छाना (छिपा) नहीं रह सकता। यद्यपि प्रेमी का शरीर कर्मवश इत–माने इधर-उधर दूर चला जाता है, किन्तु मन उत ही–उधर ही–अपने प्रिय की ओर तकि तानौ–तीव्र चाह से तना–तत्पर, तल्लीन रहता है, वह प्रिय को मिलने के लिये विह्वल–विकल रहता है।

जोजन सहस अकास बसै ससि कुमुद उदै रति मानौ।
तैसीयै चौंप चकोर चन्द की किरनै प्रान समानौ॥

दृष्टान्त देते हैं कि चन्द्रमा हजार योजन दूर आकाश में बसता है और कुमुद तृण–जड़ पृथ्वी पर सरोवर में रहती है, किन्तु इतना विशेष प्रेम है कि चन्द्रमा के उदय होते ही रति–प्रेम मानकर प्रफुल्ल (खिल) हो जाती है, उन्मत्त हो जाती है। उसी प्रकार चकोर की भी प्रेमपूर्ण चौंप–लगन, चाव, उत्साह को देखो कि चन्द्रमा की किरणों को प्राणों में समा लेता है। वह गर्दन भी इधर-उधर न मोड़ते हुए एकटक चन्द्रमा की ओर देखते हुए मग्न हो जाता है।

स्वाँति बूँद चातक पिक पावस मोर गगन घहरानौ।
ए सब साखि समझिवे कौं सुनि हित हितूनि हितानौ॥

उसी प्रकार चातक पक्षी का स्वाति के बूँद के प्रति प्रेम है, उसके लिये वह सदा व्याकुल-विह्वल रहता है और पिक–कोयल

का पावस–वर्षा के जल से प्रेम है, उसके लिये वह सदा आतुर रहती है एवं मोर का बादल से प्रेम है। आकाश में बादलों को घहराते–उमड़ते-गरजते हुए देखकर मोर उन्मत्त हो नाच उठता है और कुहक की धूम मचा देता है।

श्रीगुरुदेव जी कहते हैं कि ये सब साक्षी–प्रमाण हित–प्रेम को समझने के लिये हैं कि उसको सुनकर समझ कि इन प्राणियों के समान ही हितून–प्रेमीजनों ने अपने प्रेमास्पद–प्रियतम से ऐसे अनन्य प्रेम किया है। बल्कि प्रेमीजनों का प्रेम तो इनसे हजारों गुना विशेष होता है, क्योंकि प्रेमीजन विवेक सम्पन्न होते हैं और ये मूढ़ प्राणी हैं, इनका ऐसा स्वभाव ही बना हुआ है, इनका यह विषय है।

जिनसौं प्रकृति विरोध न बनई ते धर्म विरोधी जानौ।
दरस परस जस सुनत धुनत सिर हँसत वदन बिलखानौ॥

जिनसौं अपनी प्रकृति–स्वभाव का विरोध नहीं बन सकता, अर्थात् जो अपने स्वभाव के प्रतिकूल नहीं कर सकता, स्वभाव को रोक नहीं सकता, जीत नहीं सकता, जो मन-इन्द्रियों के अनुरूप बर्ताव करता है, वे धर्म-विरोधी–प्रेम-धर्म के विरोधी हैं, प्रतिकूल हैं। उनको कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। प्रेमीजनों के अपने इष्ट के सुख में सुखी–तत्सुख-सुखी होने के निर्मल सुयश को सुनकर उनके प्रेममय स्वरूप का दर्शन-स्पर्शकर वे अपना सिर धुनते हैं–पीटते हैं। प्रेमीजनों के हास्यमय प्रसन्न वदन–मुख को देखकर वे विलखते हैं–कूढ़ते, रोते, पछताते हैं। अथवा वे ऊपर से प्रसन्न वदन दिखते हैं, किन्तु अन्तर्मन से उनका चेहरा–मुख विलखता हुआ दिखता है।

रसिक अनन्य ते धन्य धर्म बल रहत गर्व गर्वानौ।
श्रीबिहारीदास बलि बलि प्रेमिन पद राखत रज सिर सानौ॥३३१॥

जो रसिक-अनन्य जन हैं—मन, इन्द्रिय, सर्वात्मा से श्रीयुगलकिशोर के दिव्य प्रेम-माधुर्य-रसामृत का अहर्निश पान करते रहते हैं, वे धन्य हैं—परम भाग्यशाली, महाकृतकृत्य और परम वन्दनीय हैं। वे सदा रसिक-अनन्य प्रेम-धर्म में अडिग रहते हैं। वे सदा उसीके बल पर गर्व से गर्वित रहते हैं—सदा उसीके रस में छके मदमस्त रहते हैं। वे उसी रस से परिपूर्ण, उन्मत्त रहते हैं, फिर वे क्यों माया, काल आदि से दीन हों? फिर वे क्यों और किसीसे आशा करें? गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि ऐसे परम प्रेमीजनों के ऊपर मैं अपने तन, मन, प्राण बलि-बलि—न्यौछावर करता हूँ। श्रीप्रियालाल की असीम कृपा और स्नेह-ममता से ही ऐसे प्रेमी महानुभावों का दर्शन, मिलन होता है, यह बड़ा सौभाग्य है। मैं अपना सिर ऐसे प्रेमीजनों की चरण-रज से साने रखता हूँ, लिप्त रखता हूँ।

साधक-प्रेमी की मन, वाणी, शरीर की प्रत्येक चेष्टाएँ अपने इष्ट के लिये समर्पित होती हैं। वह जो कुछ भी करता है, अपने इष्ट को लेकर, उनके सुख को लेकर ही करता है। इष्ट का सुख क्या है? श्रीश्यामा कुंजविहारिणि और श्रीकुंजविहारी का सुख—उनका नित्यविहार रस ही है। इसलिये श्रीस्वामी जी महाराज कहते हैं कि करुवा सों—माने त्याग-वैराग्य सों प्रेम करना, व्रजवीथियों—गलियों में सोहनी देना, वृन्दावन, वन, उपवनादि सों पुष्प एवं गुंजा की मालाएँ गूँथना, भक्ति के अंगों का सेवन करना और सत्संग करना तथा अन्य जो कुछ भी भगवत्सेवा के निमित्त करना, वह भी श्रीप्रियालाल के नित्यविहार में चित्त लगाकर, नित्यविहार का स्मरण, चिन्तन, सेवन करते हुए ही करना चाहिये। ऐसा समर्पित जीवन प्रेमी का नित्य सरस जीवन है।

इसी प्रकार प्रेमपूर्ण समर्पित जीवन के रूप में प्रेमस्वरूपा गोपियों की दशा का वर्णन श्रीमद्भागवत में श्रीशुकदेव जी कर रहे हैं।

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥

भा. १०-३०-४४

परीक्षित्! गोपियों का मन श्रीकृष्णमय हो गया था। उनकी वाणी से श्रीकृष्ण-चर्चा के अतिरिक्त और कोई बात नहीं निकलती थी। उनके शरीर से केवल श्रीकृष्ण के लिये और केवल श्रीकृष्ण की ही चेष्टाएँ हो रही थीं। कहाँतक कहूँ, उनका रोम-रोम, उनकी आत्मा श्रीकृष्णमय हो रही थी। वे केवल उनके गुणों और लीलाओं का ही गान कर रही थीं और उनमें इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हें अपने शरीर की भी सुध नहीं थी, फिर घर की याद कौन करता?

इससे भी विशेष अति उत्कृष्ट रसिक-अनन्यों की दशा होती है। उसका श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी वर्णन करते हैं।

भगवत रसिक अनन्य मनि गौर स्याम रंग रात।
अमर कोश के धूम लौं मृगमद छोड़ि न जात॥
मृगमद छोड़ि न जात गही जिमि हारिल लकड़ी।
चुम्बक लोह न तजै दारु पावक जिमि पकड़ी॥
गुण बयारि तन लगै डिगै नहीं मनसा नगवत।
संतत स्यामा स्याम धाम कीनौं उर भगवत॥

श्रीप्रियालाल के रस में निमग्न जो रसिक-अनन्य जन हैं, उनके भी शिर की मणि-श्रेष्ठ जन हैं, वे सदा गौर-श्याम-श्री विहारी-विहारिणि के रंग में रंगे रहते हैं, अनुरक्त-आसक्त रहते हैं। कैसे आसक्त रहते हैं, तो कहते हैं कि विक्रमादित्य के नव रत्नों में एक अमरसिंह हो गये हैं, जिन्होंने अमरकोश नाम का शब्दकोश बनाया है। उस अमरकोश में शब्दों की धूम-धाम, बहुलता, उत्सव है। ऐसे रसिक-अनन्यजनों के हृदय में गौर-श्याम के विहार रंग की

धूम है, विहार रंग का उत्सव है। मृगमद—कस्तूरी भीतर-बाहर सुगन्ध से ओत-प्रोत, भरपूर रहती है, उसकी सुगन्ध सदा बनी रहती है। इसी तरह वे नित्य केलि रंग से परिपूर्ण रहते हैं। जैसे हारिल पक्षी पैरों से लकड़ी को पकड़े रहता है, जहाँ जाता है, लकड़ी को साथ लिये रहता है, ऐसे ही रसिक-अनन्यजनों के लिये श्रीश्यामा-श्याम का नित्य विहार-रंग सुदृढ़ आधार, जीवनसर्वस्व है। जैसे चुम्बक लोहे को पकड़ लेता है, फिर छोड़ता नहीं है और पावक—अग्नि दारु—लकड़ी को पकड़ लेती है, लकड़ी में लग जाती हैं, फिर छोड़ती नहीं है, ऐसे ही रसिक-अनन्यजनों का सुदृढ़ जीवनसर्वस्व, आधार, श्रीश्यामा-कुंजविहारी का विहार रंग है, वे उसमें तन-मन-प्राणों से ओत-प्रोत, लवलीन रहते हैं। वे नित्य केलि रंग-रस आनन्द में सुदृढ़ रंगे, रत, उन्मत्त रहते हैं कि शरीर को प्रकृति के गुणों—सुख-दुःख आदि विषयों की बयार—हवा प्रबलरूप से लगती है, तब भी उनकी मनसा—मन की वृत्ति नगवत्—पहाड़ के समान अचल, सुदृढ़, स्थिर रहती है, डिगती नहीं है। उन रसिक-अनन्यजनों के उर—हृदय में परात्पर परम प्रेममाधुर्य रस तत्त्वस्वरूप परिपूर्ण ऐश्वर्य-माधुर्य से युक्त ठाकुर श्री नित्य विहारी-विहारिणि—श्रीश्यामा-श्याम ने संतत—सदा-सर्वदा के लिये अपना धाम—निवासस्थान, क्रीड़ा-विहार का स्थान बना लिया है।

ऐसी रसिक-अनन्यता, रसिक-अनन्य-रहनीयुक्त जीवन रसिक-अनन्य उपासकजनों का जीवन-सर्वस्व है।

ज्यौं सिर पर दोहनी में एक और भाव है—गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं—

तन पर बस ह्वै जानि दै, मन अपने बस राखि।
जैसे कच्छप कुंज लौं, काज होत सब साखि।।६५७।।

यदि शरीर अपने कर्मवश परबश—पराधीन है—साधन-भजन करने में स्वतन्त्र नहीं है, तो जैसे अहीरनी या नटिनी का चित्त

दोहनी–मटकी में लगा रहता है, इसी प्रकार अपने चित्त–मन को इष्ट में लगाये रखो–मन से उनका चिन्तन-सेवन करते रहो; इसीसे सब कार्य हो जायगा। श्रीआचार्यचरण इसमें दो दृष्टान्त दे रहे हैं–

पहला–कच्छप–कछुवे का, दूसरा–कुंज नाम के पक्षी का।

पहला–कछुआ जब अण्डा देता है, तब उस अण्डे को नदी से बाहर रेती में गाढ़ आता है। फिर वह उसके पास नहीं जाता है। मन से ही उसके चिन्तन के द्वारा ही पालन, पोषण, रक्षण आदि सेवन करता है। उसीसे अण्डा पककर फूटता है और समयानुसार बच्चा बड़ा होकर माता-पिता से मिल जाता है।

दूसरा–कुंज नाम का पक्षी पहाड़ों में रहता है। अधिक सर्दी–ठण्डी पड़ने पर वह पहाड़ों से बहुत दूर नीचे उतर आता है। किन्तु मन से ही उसके अण्डे के चिन्तन के द्वारा ही पालन, पोषण, रक्षण आदि सेवन करता है। उससे बच्चा बड़ा होकर माता-पिता से मिल जाता है।

वह चिन्तनद्वारा अपने बालक का सेवन कैसे करता है, श्रीआचार्यचरण आगे बता रहे हैं–

चुनैं चिंतारै फिर चुनैं, चुनि चुनि चिंतारेह।
कुंजा लाल बसाइयाँ, छिन नाहिं बिसारेह॥६६२॥

पक्षी का स्वभाव होता है, वे सदा दाना चुगते रहते हैं। ऐसे ही कुंजा पक्षी आहार के लिये दाना चुगता है। किन्तु अपने लाल–बालक के प्रति प्रेम विशेष होने से चोंच उठाकर बच्चे की चिन्ता करता है–चिन्तन करता है कि अब अण्डा बड़ा हुआ। फिर चुनैं–दाना चुगता है, फिर चिन्ता–विचार करता है कि अब अण्डा फूट गया और बच्चा निकल आया। बच्चे को अण्डे से निकलते ही कुछ खाने को चाहिये तो वह पक्षी मन के चिन्तनद्वारा ही बच्चे को

दाना चुगाता है और प्यार करता है। इसी प्रकार वह कुंजा पक्षी दाना चुगते हुए बार-बार चोंच उठाकर अपने लाल की चिन्ता–चिन्तनद्वारा सेवन, रक्षण पोषण करके उसे बड़ा कर लेता है और वहाँ जाने पर वह बच्चा अपने माता-पिता से मिल जाता है। इस प्रकार कुंजा ने अपने लाल को बसाइयाँ–अपने हृदय में बसा रखा है। एकक्षण भी वह भूलता नहीं है। यदि भूल जाय तो अण्डा सड़ जायगा, बच्चा मर जायगा। इसीप्रकार के चिन्तन द्वारा कुंजा-पक्षी और कछुआ अपने बच्चों का पालन, पोषण, रक्षण करके उनको प्राप्त कर लेते हैं, उनसे मिल जाते हैं।

श्रीगुरुदेव जी महाराज कहते हैं कि इस भाँति मन को अपने इष्ट के चिन्तन में सदा-सर्वदा लगाये रखना चाहिये। इसीसे सब काज–सब कार्य–माने माया से पार होने और इष्ट के प्रेम, सेवा की प्राप्ति के सब कार्य पूर्ण हो जायँगे। मन के चिन्तन-सेवन से ही प्रिया-लाल अपने उर का हार बना लेंगे। श्रीगुरुदेव जी कहते हैं कि यह बात मैं ही नहीं कह रहा हूँ; इस बात के वेद, शास्त्र, पुराण, ऋषि, मुनि, सन्त, महानुभाव सभी साक्षी हैं–प्रमाण हैं।

-: इति द्वादश (१२) पद का भावार्थ :-



अथ त्रयोदश पद—अवतरण

यन्माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन् सांसारिके पथिचरंस्तदभिश्रमेण।
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोके युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण॥

भा. ३-३१-१५

भगवान् कपिलदेव जी माताजी से जीव की दशा वर्णन करते हैं। माता के गर्भाशय में झिल्ली से लिपटा जीव अपनी दु:खमयी दशा को विचार विकल-व्यथित हुआ प्रकृति-पुरुष के नियन्ता, सर्वज्ञ परम पुरुष की वन्दना करते हुए कहता है–

उन्हींकी माया से अपने स्वरूप की स्मृति नष्ट हो जाने के कारण यह जीव अनेक प्रकार के सत्त्वादि गुण और कर्म के बन्धन से युक्त इस संसारमार्ग में तरह-तरह के कष्ट झेलता हुआ भटकता रहता है, अत: उन परम पुरुष परमात्मा की कृपा के बिना और किस युक्ति से इसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो सकता है?

इत्यादि शास्त्र वचनों से नष्ट स्मृति जीव संसार में जन्म और मरण को धारण करते हैं। सो संसार में आसक्त जीव को वैराग्य कराने के लिये भगवत्प्राप्ति का विरोधी जो संसार है, उसका मिथ्यात्व-स्वप्नतुल्यत्व दिखाते हैं।

पद- **-राग कल्याण**

हरि कौ ऐसौई सब खेल।
मृगतृष्ना जग व्यापि रह्यौ है कहूँ बिजौरौ न बेल॥
धन मद जोवन मद राज मद ज्यौं पंछिन में डेल।
कहिं श्रीहरिदास यहै जिय जानौ तीरथ कैसौ मेल॥१६॥

अर्थ–ऐसौ–नाम जिस प्रकार का यह संसार–प्रपंच दीख रहा है, सो सब हरि का खेल है, अर्थात् श्रीहरि का खेल सब ऐसा ही है। मृग-तृष्णा–जो भ्रम है, उसके समान भ्रम से यह संसार व्याप्त हो रहा है। न तो इस संसार का कहीं बिजौरौ–नाम बीज ही

है और न बेलि–लता है। धन–अभिमान, यौवन–अभिमान और राज्य–अभिमान, इत्यादि मद–अभिमान के कारण प्राणी दूसरे को कुछ भी नहीं समझते हैं। परन्तु जितने ये मद हैं, उतने सब क्षणभंगुर हैं, अर्थात् एक क्षण में नष्ट होनेवाले हैं। जैसे पक्षियों का समूह बैठा हुआ हो और उनके बीच में एक डेल फेंक देनेमात्र से सबके सब एकदम उड़ जाते हैं, इसी प्रकार ये सब मद क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं। रसिक–अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि यह जो संसार का नाता है, वह कैसे है कि जैसे तीर्थ का मेल–मिलाप। अर्थात् जैसे पर्व में तीर्थ में अनेक जगह के मनुष्य–प्राणी आकर एकत्र होते हैं–मिलते हैं और एक–दो दिन में जो जहाँ से आये हैं, वह वहाँ चले जाते हैं। इसी प्रकार इस संसार में माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु इत्यादि और यहाँ की सब वस्तुओं का व्यवहार–संयोग–मेल–मिलाप अल्पकाल का है।

मूल- हरि कौ ऐसौई सब खेल।

अर्थ–ऐसौ–नाम जिस प्रकार का यह संसार–दीख रहा है, सो सब हरि का खेल है, अर्थात् श्रीहरि का खेल सब ऐसा ही है।

भावार्थ–

अंशांशास्ते देव मरीच्यादय एते ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः।
क्रीड़ाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूमन् तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम॥

भा. ४–७–४३

गन्धर्वों ने कहा–देव! मरीचि आदि ऋषि और ये ब्रह्मा, इन्द्र, तथा रुद्रादि देवतागण आपके अंश के भी अंश हैं। महत्तम! यह सम्पूर्ण विश्व आपके खेल की सामग्री है। नाथ! ऐसे आपको हम सर्वदा प्रणाम करते हैं।

भाव यह है कि जैसे यह दृश्य (आँखों से दिखायी देनेवाला) जगत् प्रतिक्षण परिवर्तनशील और नाना प्रकार के शोक, मोह, सुख, दुःख आदि द्वन्द और वृद्धि, ह्रास, जन्म, मृत्यु आदि विकारों से युक्त है, वैसे ही अन्य लोक भी हैं। सारांश यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उन सर्वेश्वर सर्वातीत श्रीहरि की माया का खेल है। श्रीहरि प्रकृति और पुरुष दोनों के नियामक हैं। वे प्रभु केवल अपनी शक्तिरूप काल के द्वारा ही अपनी त्रिगुणमयी माया को क्षुब्ध करते हैं। उससे पहले क्रियाशक्तिरूप प्रधानसूत्र (महत्तत्त्व) की रचना करते हैं। यह सूत्र महत्तत्त्व ही तीनों गुणों का पहला प्राकट्य है।

यह महत्तत्त्व ही सब प्रकार की सृष्टि का मूल कारण है। उसीमें सब संसार सूत में ताने-बाने की तरह ओत-प्रोत है। इसीके कारण जीव को जन्म-मरण के चक्कर में पड़ना पड़ता है। जैसे मकड़ी अपने हृदय से मुँहद्वारा जालों का विस्तार करती है, उसीमें क्रीड़ा करती है और फिर उसको निगल जाती है! ऐसे ही परमेश्वर भी इस जगत् को अपने में से उत्पन्न करते हैं, जीवरूप से जगत् में रमते हैं और फिर उसको अपने में लीन कर लेते है। यह सत्त्व, रज और तम के कारण प्रतीत होनेवाले दृश्य आदिक माया के खेल हैं।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं—

अद्‌भुत नट नागर जग बाँध्यौ जंजारा।
वेद रिचा रिजु विवस भ्रमैं ज्यौं पसु बस बंजारा॥

अद्भुत नटनागर—विचित्र, बाजीगर—जादूगर उसमें भी चतुर शिरोमणि—ऐसे विचित्र नट नागर ने अपनी मायाद्वारा विचित्र रचना करके भ्रमरूप सम्पूर्ण संसार को जंजाल—प्रपंच में बाँध रखा है। जैसे बञ्जारे के वश में पशुओं के झुण्ड बोझ ढोते हुए इधर-उधर देश-विदेश में घूमते रहते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण संसार के प्राणी—देव,

मनुष्य, राक्षस आदि वेद की ऋचाएँरूप रस्सी में बँधे विवश हुए स्वर्ग, मृत्यु, पाताल, नरक आदि लोकों में भ्रमण करते रहते हैं।

स्वर्ग नर्क द्वै पंथ करै पुन्य पाप चल्यौ लारा।
भक्ति हीन हरि न चीन्हैं बिथक्यौ धन दारा।।

नटनागर–श्रीहरि–विहारी जी ने स्वर्ग और नरक दो मार्ग बनाये तथा शुभ-अशुभ कर्म करने से पुण्य और पापरूप पूँजी (सम्पत्ति) प्राप्त होती है, वे ही मार्ग में लार–माने संग चलते हैं। पुण्यकर्म करनेवाले स्वर्ग एवं पापकर्म करनेवाले नरक को जाते हैं तथा स्वर्ग में सुख और नरक में दुःख भोगते हैं। किन्तु प्रभु की माया के अधीन होकर जिनके भक्ति–ज्ञानरूपी नेत्र नहीं हैं, वे भक्ति-भावशून्य प्राणी सच्चिदानन्दमय परम प्रेम–माधुर्य रससिन्धु-विविध लीलाविहारी श्रीहरि को पहचान नहीं सकते। उस भक्ति-प्रेममयी पहचान के बिना वे धन, स्त्री, परिवार आदि को सुखस्वरूप मान उसीमें विथकित–आसक्त, लुब्ध होकर अपना सम्पूर्ण जीवन यों ही–व्यर्थ ही खो देते हैं और महान् दुःख का भार सिर पर उठा लेते हैं।

संतत सौच असौच महासठ काम क्रोध अहंकारा।
बाजी हरि साजी बहु रूप रच्यौ संसारा।।

वे महाशठ–महान् मूढ़ प्राणी सदा-सर्वदा व्रत, दान, तपस्या आदि शौच–पवित्र आचरण द्वारा शौच–पवित्र बनते हैं, किन्तु फिर भी उनके भीतर काम, क्रोध, अहंकार आदि मलिन, अशुद्ध विकार रहने से वे सदा अशौच–अपवित्र, अशुद्ध ही रहते हैं। यह सब श्रीहरि की माया की बाजी का जादू है। नटनागर श्रीहरि ने बहुत रूप से–नाना प्रकार के रूप से अपनी माया की बाजी–तमाशा, खेल सजा रखा है। यह सारा संसार उन्हींकी रचना है। इसलिये उसीको सत्य और सुखरूप मानकर सभी जीव भूले हुए अटके पड़े हैं, सुख-दुःख के प्रबल प्रवाह में बह रहे हैं।

जाति पाँति भाँति वरनाश्रम बुद्धि विकारा।
घट घट जल थल चराचर व्यापक नन्दकुमारा॥

सभी जीव श्रीहरि के सच्चिदानन्द प्रेम-रसमय विशुद्ध जन हैं, सेवक हैं, किन्तु प्रभु की इसी माया नटिनी के खेल-जादू के वशीभूत होकर अपने को भूले हुए हैं और विविध विकारों से लिप्त हो रहे हैं। इस विचित्र माया नटिनी के प्रभाव से नाना प्रकार के अनेक जाति भेद, अनेक पाँति-व्यवहार और ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अनेक वर्ण तथा ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ आदि अनेक आश्रम आदि की कल्पनारूप भेदों के विकार-दोष उनकी बुद्धि में प्रवेश कर गये हैं, जिससे वे भ्रमित हो रहे हैं। परन्तु घट-घट-प्रत्येक के हृदय में, जल में-जल के प्राणी-पदार्थों में और थल में-स्थल के प्राणी-पदार्थों में तथा चर-चलनेवाले प्राणियों में एवं अचर-न चलनेवाले जड़-पेड़-पत्थर आदि जड़ प्राणियों में नन्दकुमार-श्रीकृष्ण-श्रीहरि ही व्यापक हैं-सदा-सर्वदा एकरस विराजमान हैं। यह मेरा ही नहीं, ऋषि-मुनि और स्वयं श्रीहरि ने ऐसे ही पुकार के वर्णन किया है।

व्यासदेव सुकदेव महामुनि महंतनि कौ निरधारा।
साखि सहस आगम निगम श्रीमुख पुनि आपु पुकारा॥

महामुनि श्रीव्यासदेव, श्रीशुकदेव और अनेक ऋषि-मुनि तथा और भी अनेक आचार्य-महान्त आदि का यही निर्धार-निर्णय है कि वे घट-घट, चराचर सर्वत्र एकरस व्याप्त हैं-विराज रहे हैं। आगम-शास्त्रों और निगम-वेदों में इस बात के प्रमाण की हजारों साक्षियाँ हैं, अथवा हजार मुखवाले श्रीशेषजी साक्षी हैं। फिर और विशेष बात यह है कि गीता, भागवत, पुराण आदि शास्त्रों में स्वयं श्रीहरि ने पुकारकर यही वर्णन किया है कि सब प्राणियों के भीतर मैं ही सदा-सर्वदा विराजमान रहकर विहार करता हूँ।

भर्म न छूटै क्यौं कर्म खूटै अंत लहै न अपारा।
श्रीबिहारीदास निर्बैर भजौ मुरलीधर प्रान पियारा॥१०२॥

इतना सब सुनते हुए भी उनका भ्रम–सन्देह छूटता–नष्ट होता नहीं है, वे सन्देहशून्य हो श्रीहरि की शरण ग्रहण नहीं करते, फिर उनकी कर्मराशि कैसे नष्ट हो? वे इसी तरह अपार संसारसागर में भटकते हुए अन्त–किनारा (नाश) प्राप्त नहीं कर सकते। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि इस भयंकर असीम अपार संसारसागर से पार होकर श्रीहरि–श्रीविहारी जी की प्रेम माधुर्य रसमयी सेवा को प्राप्त करना चाहते हो, तो सबसे निर्वैर होकर–राग–द्वेषादि से रहित होकर प्राणप्यारे, जीवनसर्वस्व मुरलीधर–श्रीनित्यविहारी को प्रेमभावपूर्वक नित्य–निरन्तर भजो–सेवन करो।

मूल-　　मृग तृष्णा जग व्यापि रह्यौ है कहूँ बिजौरौ न बेल॥

अर्थ–मृग–तृष्णा जो भ्रम है, उसकी तरह भ्रम से यह संसार व्याप्त हो रहा है। इस संसार का बिजौरौ–नाम बीज और बेलि कुछ भी नहीं है।

भावार्थ–बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरितिचोच्यते।
मायामात्रमिदं राजन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि॥

भा. १२–४–२५

परिक्षित्! जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति–ये तीनों अवस्थाएँ बुद्धि की ही हैं। अतः इनके कारण अन्तरात्मा में जो विश्व, तैजस और प्राज्ञरूप नानात्व की प्रतीति होती है, केवल मायामात्र है। बुद्धिगत नानात्व का एकमात्र सत्य आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यथा जलधरा व्योम्नि भवन्ति न भवन्ति च।
ब्रह्मणीदं तथा विश्वमवयव्युदयाप्ययात्॥२६॥

यह विश्व उत्पत्ति और प्रलय से ग्रस्त है, इसीलिये अनेक अवयवों का समूह अवयवी है। अतः यह कभी ब्रह्म में होता है और

कभी नहीं होता, ठीक वैसे ही जैसे आकाश में मेघमाला कभी होती है और कभी नहीं होती।

सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह।
विनार्थेन प्रतीयेरन् पटस्येवाङ्ग तन्तवः॥२७॥

परीक्षित्! जगत् के व्यवहार में जितने भी अवयवी पदार्थ होते हैं, उनके न होने पर भी उनके भिन्न-भिन्न अवयव सत्य माने जाते हैं। क्योंकि वे उनके कारण हैं। जैसे वस्त्ररूप अवयवी के न होने पर भी उसके कारणरूप सूत का अस्तित्व माना जाता है, उसी प्रकार कार्यरूप जगत् के अभाव में भी इस जगत् के कारणरूप अवयव की स्थिति हो सकती है।

यत् सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः।
अन्योन्यापाश्रयात् सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यत्॥२८॥

परन्तु ब्रह्म में यह कार्य-कारणभाव भी वास्तविक नहीं है। क्योंकि देखो, कारण तो सामान्य वस्तु है और कार्य विशेष वस्तु। इस प्रकार का जो भेद दिखायी देता है, वह केवल भ्रम ही है। इसका हेतु यह है कि सामान्य और विशेष भाव आपेक्षिक हैं, अन्योन्याश्रित हैं। विशेष के बिना सामान्य और सामान्य के बिना विशेष की स्थिति नहीं हो सकती। कार्य और कारणभाव का आदि और अन्त दोनों ही मिलते हैं, इसलिये भी वह स्वाप्निक भेद-भाव के समान सर्वथा अवस्तु है।

विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा।
न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत्॥२९॥

इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रपंचरूप विकार स्वाप्निक विकार के समान ही प्रतीत हो रहा है, तो भी यह अपने अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप आत्मा से भिन्न नहीं है। कोई चाहे भी तो आत्मा से भिन्नरूप में अणुमात्र भी इसका निरूपण नहीं कर सकता। यदि आत्मा से पृथक्

इसकी सत्ता मानी भी जाय तो यह भी चिद्रूप आत्मा के समान स्वयंप्रकाश होगा और ऐसी स्थिति में वह आत्मा की भाँति ही एकरूप सिद्ध होगा।

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः॥

भा. १०-८७-३७

भगवन्! वास्तविक बात तो यह है कि यह जगत् उत्पत्ति के पहले नहीं था और प्रलय के बाद नहीं रहेगा, इससे यह सिद्ध होता है कि यह बीच में भी एकरस परमात्मा में मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है। इसीसे हम श्रुतियाँ इस जगत् का वर्णन ऐसी उपमा देकर करती हैं कि जैसे मिट्टी में घड़ा, लोहे में शस्त्र और सोने में कुण्डल आदि नाममात्र हैं, वास्तव में मिट्टी, लोहा और सोना ही हैं। वैसे ही परमात्मा में वर्णित जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या और मन की कल्पना है। इसे नासमझ—मूर्ख ही सत्य मानते हैं।

भाव यह है कि यह त्रिगुणात्मक जगत् मन की कल्पनामात्र असत् है। भ्रम के सिवाय इसका कोई बीज या बेलि नहीं है। जैसे ग्रीष्मकाल में मध्याह्न समय के प्रचण्ड सूर्य की प्रखर किरणें बालू के मैदान में पड़कर जल से भरे हुए सागर का भ्रम उत्पन्न करती हैं। यद्यपि वहाँ तीनों काल में जल नहीं है, तो भी तृषातुर हरिण अच्छी प्रकार जल पीने के प्रयोजन से उसी ओर दौड़ते हुए अपने प्राण गमा देते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् के वस्तु, व्यक्ति आदि पदार्थ स्वरूप से ही सारहीन और सत्ताहीन हैं, तो भी सभी जीव श्रीभगवान् की माया से भ्रम में भटक रहे हैं। अपने को आनन्दघन

श्रीहरि से, जो सबके अन्तःकरण में विराजमान हैं, पृथक् मानकर सुख की अभिलाषा से संसार के दुःखरूप, नाशवान् विषयों की ओर दौड़ रहे हैं, जहाँ सुख का लेश भी नहीं है।

इस प्रकार जन्म-मृत्युरूप संसार का कोई कारण नहीं है, कोरा अज्ञान ही मूल कारण है। अपना वास्तविक स्वरूप प्रकृति और प्राकृत जगत् से सर्वथा परे है। जब देही (जीव) अपने को देह मान लेता है, तब वह देह की जड़ता, अनित्यता, स्थूलता आदि गुणों से सब प्रकार अलग होने पर भी उनसे युक्त जाना जाता है। श्रीहरि के द्वारा रचे हुए माया के गुणों ने ही सूक्ष्म और स्थूल शरीर का निर्माण किया है। जीव को शरीर और शरीर को जीव समझ लेने के कारण ही स्थूल शरीर के जन्म, मरण और सूक्ष्म शरीर के आवागमन का आरोप किया जाता है। जीव को जन्म-मृत्युरूप संसार इसी भ्रम के कारण प्राप्त होता है। अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर संसार की जड़ कट जाती हैं।

श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं-

देही कौं देखैं नहीं जो देखैं सो देह।
तीनि भाँति ह्वै जात सो विष्ठा कृमि कै खेह॥
विष्ठा कृमि कै खेह गेह मल मूत्र जान कौ।
तौल नहीं तरवार मोल सब करत म्यान कौ॥
सारासार विचार नहीं श्रुति सुमृति तेही।
तिनहिं न भगवत मिलैं देह मानत जे देही॥१९॥

देही-जीवात्मा को कोई नहीं देखता, अर्थात जीवात्मा को सत्य और सुखरूप जानकर कोई प्रेम नहीं करता, जो देखता है, सो देह को ही सत्य और सुखरूप जानकर प्रेम करता है। वह देह क्षणभंगुर-क्षण में नष्ट होनेवाली है। उसके तीन प्रकार-भेद हैं। वह अन्त में तीन

प्रकार की हो जाती है–कोई जीव खा लेता है, सो विष्ठा–मल बन जाती है, जमीन में गाड़ देने से कृमि–कीड़े बन जाती है और जला देने से खेह–राख बन जाती है तथा वह देह मल-मूत्र, मेद, मज्जा आदि का गेह–घर है। ऐसी असत्य, नश्वर देह को पोषने–सुखी करने के लिये प्राणी शुभ-अशुभ कर्म करके कर्मराशि का भारी बोझ सिर पर लाद लेता है और भोगता है। परम सुखरूप सत्य तत्त्व-वस्तु–आत्मा का कोई विचार नहीं करता। दृष्टान्त देते हैं कि तलवार का कोई तौल–मोल नहीं करता। सब म्यान का ही मोल करते हैं, जो अल्प और असत्य है। इसी प्रकार देही–जीवात्मा को कोई नहीं जानते, सब क्षणभंगुर, असत्य, दुःखरूप देह में ही आसक्त रहते हैं।

वे लोग वेद-स्मृति-पुराण-शास्त्र के उपदेशानुसार सार क्या है और असार–असत्य, दुःख-दोष क्या है, इस बात पर विचार नहीं करते। माया-मोह में अन्धे होकर मोहमयी वृत्ति, कृति–क्रिया, व्यवहार में लगे रहते हैं। श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं कि जो शरीर को ही देही–जीवात्मा–अपने को मान लेते हैं, उन्हें भगवत–श्रीहरि-स्यामा-स्याम नहीं मिलते। श्यामा-श्याम उन्हींको मिलते हैं जो अपने को–अपने आत्मस्वरूप को देह से भिन्न जानकर उनसे–श्रीहरि से अनन्य प्रेम करता है।

मूल- धन मद जोवन मद राज मद ज्यौं पंछिन में डेल।

अर्थ–धन, जोवन, राज इत्यादि मद–अभिमान के कारण प्राणी दूसरे को कुछ भी नहीं समझते। परन्तु जितने ये मद हैं, वे सब क्षणभंगुर हैं, अर्थात् एकक्षण में नष्ट होनेवाले हैं। जैसे पक्षियों का समूह बैठा हुआ हो और उनके बीच एक डेल फेंक देनेमात्र से सब-के-सब एकदम उड़ जाते हैं, इसी प्रकार ये सब मद क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ–शास्त्र में कहा है–

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै-
स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां
सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे॥

भा. १०-८७-३४

भगवन्! आप अखण्ड आनन्दस्वरूप और शरणागतों के आत्मा हैं। आपके रहते स्वजन, पुत्र, देह, स्त्री, धन, महल, पृथ्वी, प्राण और रथ आदि से क्या प्रयोजन है? जो लोग इस सत्य सिद्धान्त को न जानकर स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध से होनेवाले सुखों में ही रम रहे हैं, उन्हें संसार में भला, ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सुखी कर सके। क्योंकि संसार की सभी वस्तुएँ स्वभाव से ही विनाशी हैं, एक-न-एक दिन मटियामेट हो जानेवाली हैं। और तो क्या, वे स्वरूप से ही सारहीन और सत्ताहीन हैं, वे भला, क्या सुख दे सकती हैं?

विषयतृषो नरपशवो य उपासते विभूतीर्न परं त्वाम्।
तेषामाशिष ईश तदनु विनश्यन्ति यथा राजकुलम्॥

भा. ६-१६-३८

जो नरपशु केवल विषयभोग ही चाहते हैं, वे आपका भजन न करके आपके विभूतिस्वरूप इन्द्रादि देवताओं की उपासना करते हैं। प्रभो! जैसे राजकुल का नाश होने के पश्चात् उसके अनुयायियों की जीविका भी जाती रहती है, वैसे ही क्षुद्र उपास्यदेवों का नाश होने पर उनके दिये हुए भोग भी नष्ट हो जाते हैं।

अधुना पुत्रिणां तापो भवतैवानुभूयते।
एवं दारा गृहा रायो विविधैश्वर्यसम्पदः॥

भा. ६-१५-२१

शब्दादयश्च विषयाश्चला राज्य विभूतयः।
मही राज्यं बलं कोशो भृत्यामात्याः सुहृज्जना॥२२॥

महर्षि अङ्गिराजी राजा चित्रकेतु से कहते हैं—अब तुम स्वयं अनुभव कर रहे हो कि पुत्रवानों को कितना दुःख होता है। यही बात स्त्री, घर, धन, विविध प्रकार के ऐश्वर्य, सम्पत्तियाँ, शब्द-रूप-रस आदि विषय, राज्य, वैभव,पृथ्वी, राज्य, सोना, खजाना, सेवक, अमात्य (मंत्रीवर्ग), सगे-सम्बन्धी, इष्ट-मित्र सबके लिये है, क्योंकि सब-के-सब अनित्य हैं।

सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोकमोहभयार्तिदा।
गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः॥२३॥
दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवाः।
कर्मभिर्ध्यायतो नानाकर्माणि मनसोऽभवन्॥२४॥

शूरसेन! अतएव ये सभी शोक, मोह, भय और दुःख के कारण हैं, मन के खेल-खिलौने हैं, सर्वदा कल्पित और मिथ्या हैं, क्योंकि ये न होने पर भी दिखायी पड़ रहे हैं। यही कारण है कि ये एकक्षण दीखने पर भी दूसरे क्षण लुप्त हो जाते हैं। ये गन्धर्वनगर, स्वप्न, जादू और मनोरथ की वस्तुओं के समान सर्वथा असत्य हैं। जो लोग कर्म-वासनाओं से प्रेरित होकर विषयों का चिन्तन करते रहते हैं, उन्हींका मन अनेक प्रकार के कर्मों की सृष्टि करता है।

अयं हि देहिनो देहो द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः।
देहिनो विविधक्लेशसन्तापकृदुदाहृतः॥२५॥

जीवात्मा का यह देह, जो पंचभूत, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का संघात है—जीव को विविध प्रकार क्लेश और सन्ताप देनेवाली कही जाती है।

तस्मात् स्वस्थेन मनसा विमृश्य गतिमात्मनः।
द्वैते ध्रुवार्थविश्रम्भं त्यजोपशममाविश॥२६॥

इसलिये तुम अपने मन को विषयों में भटकने से रोककर शान्त करो, स्वस्थ करो और फिर उस मन के द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप का विचार करो तथा द्वैत–भ्रम में नित्यत्व की बुद्धि छोड़कर परम शान्तिस्वरूप परमात्मा में स्थित हो जाओ।

भाव यह है कि इन्द्रियों के द्वारा बाहर दिखनेवाले सभी पदार्थ क्षणिक हैं। संसार की जितनी भी विभूति हैं, जिनको पाकर अन्ध जीव मिथ्याभिमान से गर्वित हो रहे हैं। वे सभी स्वभाव से ही क्षणभंगुर–विनाशी हैं।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं–

सो सुख कहा सराहिये, कसै न अन्त खटाय।
तन धन जोवन पाहुनौ, देखत ही जग जाय॥७१॥

उस सुख की क्या सराहना–प्रशंसा–बड़ाई करैं, जो सत्यता और सुखरूपता की कसौटी पर टिकता नहीं और अन्ततक ठहरता नहीं है। यह शरीर, धन, दौलत, नव यौवन आदि सभी वस्तुएँ पाहुने के समान दो दिन की हैं। इस तरह सारा संसार ही देखते–देखते जा रहा है–नष्ट हो रहा है।

धन धुआँ कौ धौरहर, सपने पायौ राज।
श्रीबिहारीदास ममता तजौ, भुस कुटत बिन नाज॥७२॥

धन–सम्पत्ति, राज्यादि सभी वस्तुएँ धुआँ के धौरहर–महल और स्वप्न में राज्य पाने के समान अल्प समय की, कुछ क्षणों की हैं। इसलिये गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि इनसे ममता को छोड़ो। ये सब तुम्हारी नहीं हैं, ये तो काल के अधीन नष्ट हो रही हैं। तुम क्यों बिना अन्न के भुस को कुट रहे हो? अर्थात्

जिसमें सुखरूप अन्न ही नहीं है, ऐसे भुसरूप सम्पत्ति, स्वजनादि को क्यों कूट रहे हो?—क्यों सेवन कर रहे हो? परम सुख आनन्द और प्रेम रस के सिन्धुस्वरूप सर्वदा से अपने श्रीहरि-श्रीविहारी जी का अति प्रेमपूर्ण ममता से सेवन करो।

मूल—कहिं श्रीहरिदास यहै जिय जानौ तीरथ कैसौ मेल॥१३॥

अर्थ—रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि यह जो संसार का नाता है, सो कैसे है कि जैसा तीर्थ का मेल-मिलाप। अर्थात् जैसे पर्व में-तीर्थ में अनेक जगह के मनुष्य-प्राणी आकर एकत्र होते हैं—मिलते हैं और एक-दो दिन में जो जहाँ से आये हैं, वह वहाँ चले जाते हैं। इसी प्रकार इस संसार में आकर माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु इत्यादि और यहाँ की सब वस्तुओं का व्यवहार-संयोग-मेल-मिलाप अल्प काल का है।

भावार्थ—उसके लिये कहा भी है-

यथा प्रयान्ति संयान्ति श्रोतोवेगेन बालुकाः।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः॥

भा. ६-१५-३

जैसे जल के वेग से बालू के कण एक-दूसरे से जुड़ते और बिछुड़ते रहते हैं, वैसे ही समय के प्रवाह में प्राणियों का भी मिलन और बिछोह होता रहता है।

यथा धानासु वै धाना भवन्ति न भवन्ति च।
एवं भूतेषु भूतानि चोदितानीशमायया॥४॥

राजन्! जैसे कुछ बीजों से दूसरे बीज उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही भगवान् की माया से प्रेरित होकर प्राणियों से अन्य प्राणी उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं।

नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च॥

भा. १०-८२-४३

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—सखियो! निःसन्देह भगवान् ही प्राणियों के संयोग और वियोग के कारण हैं।

भाव यह है कि जैसे तीर्थ के मेला में जगह-जगह के असंख्य यात्री आते हैं, परस्पर मिलते-जुलते हैं और स्नान, दान, दर्शनादि करके अपने-अपने स्थानों को चले जाते हैं। इसी प्रकार संसार में जीव भिन्न-भिन्न वर्णानुसार प्रकट होते हैं और प्रारब्ध के अनुसार ही उनका आपस में संयोग-वियोग होता रहता है तथा अन्त में अपने-अपने कर्म-फलों को भोगकर चले जाते हैं। इस संसार की सब ही वस्तु, स्वजन, सम्बधी आदि थोड़ी देर के हैं—अल्प समय के हैं।

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्॥

भा.११-१७-५२

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्रिय उद्धव! कल्याण की इच्छा करनेवाले पुरुष को बहुत सावधान रहना चाहिये। गृहस्थ पुरुष कुटुम्ब में आसक्त न हो। बड़ा कुटुम्ब होने पर भी भजन में प्रमाद न करे। बुद्धिमान् को यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि जैसे लोक की सभी वस्तुएँ नाशवान् हैं, वैसे ही स्र्वगादि परलोक के भोग भी नाशवान् ही हैं।

पुत्रदाराप्तबन्धूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा॥५३॥

यह जो स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु और गुरुजनों का मिलना-जुलना है, यह वैसा ही है, जैसे किसी प्याऊ पर कुछ बटोही इकट्ठे हो गये हों। सबको अलग-अलग रास्ते जाना है। जैसे स्वप्न नींद टूटनेतक ही रहता है, वैसे ही इन मिलने-जुलनेवालों का सम्बन्ध ही बस, शरीर के रहनेतक ही रहता है, फिर तो कौन किसको पूछता है।

इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद् वसन्।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहङ्कृतः॥५४॥

गृहस्थ को चाहिये कि इस प्रकार विचार करके घर-गृहस्थी में फँसे नहीं, उसमें इस प्रकार अनासक्तभाव से रहे मानो कोई अतिथि निवास कर रहा हो। जो शरीर आदि में अहंकार और घर आदि में ममता नहीं करता, उसे गृहस्थी के फंदे बाँध नहीं सकते।

आये संग नहिं संग गये मग में भयौ मिलाप।
मोह फाँस जग बँधि रह्यौ बिछुरे करत विलाप॥
बिछुरे करत मिलाप मानि सुत पितु पति माता।
स्वसुर जमाई जुवति सुहृद गुरु सिष धन भ्राता॥
निज अनुभव की भूल विभव भगवत बिरमाये।
को हम कहँ को जात कहाँ तें किहिं लगि आये॥३४॥

श्रीभगवतरसिकदेव जी कहते हैं—न कोई संग आया और न संग गया, सबका मग में—संसार-यात्रा के मग-रास्ते में ही मिलाप—मिलन होता है। उतने ही मिलनमात्र से वे परस्पर मोह—आसक्ति की फाँस—फंदे, रस्सी में बँध जाते हैं। इसी तरह सारा संसार मोहासक्ति के फंदे में बँध रहा है और जब बिछुड़ जाते हैं—मर जाते या चले जाते हैं, तब विलाप करते हैं—व्याकुल होते हैं, रोते-कलपते हैं। उसी संसार की कर्मभोग-यात्रा के पथिक पुत्र, पिता, माता, पति, स्त्री, श्वसुर, जमाई, सुहृद्—मित्र, हितू, भाई, गुरु, शिष्य, धन-सम्पत्ति आदि में अनेक नाते मानकर उसमें उलझे रहते हैं और अपने भगवत्प्राप्तियोग्य अमूल्य जीवन को यौं ही—व्यर्थ ही गवाँ देते हैं। उन्हें भगवत—भगवान् श्रीहरि की माया के वैभव—सुख सम्पत्ति-ऐश्वर्य ने बिरमा दिया—भटका दिया, मोहित कर लिया, इसलिये निज अनुभव—अपने नित्य चिन्मय प्रेम-रसानन्दमय सुखस्वरूप को भूल गये कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति से, चिन्मय ब्रह्मानन्द से भी अति परे, विलक्षण चिन्मय, दिव्य प्रेम रस माधुर्यरूप लाड़-चाव

सेवामय अपना निजस्वरूप है, जो सदा श्रीयुगलकिशोर के निकट सेवा में उपस्थित है।

वे प्रभु की माया में इतने मोहित–विवश हो गये कि उन्हें अपने स्वरूप का विचार करने का, अपना उद्धार करने के लिये विचार करने का भी अवकाश नहीं है। वह विचार यह है कि हम कौन हैं? जीव नित्य श्रीकृष्ण–श्रीकुंजविहारी का दास है, अविनाशी, चिन्मय सुखस्वरूप अंश है। उनकी सेवामय इसका स्वरूप है।

कहँ को जात–कौन कहाँ जा रहा है? उनकी अनन्य भक्ति करके उनके पास चिन्मय दिव्य धाम में जाने के लिये ही आये हैं। अथवा न कोई जा रहा है और न कोई आ रहा है, उनकी माया के द्वारा यह भ्रम उत्पन्न हो रहा है।

कहाँ तें आये हैं? जो परम ब्रह्म, रसरूप, रसनिधि श्रीहरि हैं, उनके पास से, उनके धाम से आये है और वहीं जाना है। श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी कहते हैं-

अरिल्ल-आये हैं इह देस जहाँ नहीं आस है।
बहुरि जाहिं वह देस जहाँ हरिदास हैं।।
वृन्दविपिन बिहार नित्य इक ठाँव रे।
हरि हाँ, काम केलि की सेज जुगल चित चाव रे।।५२७।।

हम इस त्रिगुणमय मायिक देश में आये हैं, जहाँ हमारी कुछ भी आशा–इच्छा नहीं है, क्योंकि यहाँ सबकुछ स्वप्नरूप असत्य हैं। फिर उनकी कृपा से अनन्य भक्ति करके वहीं जायँगे, जहाँ रसिक–अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज श्रीललितास्वरूप से श्रीयुगल वर को नित्य विहार द्वारा अद्भुत लाड़ लड़ा रहे हैं। वह देश है, सभी धामों का मुकुटमणि धाम श्रीवृन्दावन। वही नित्य विहार का एकमात्र चिन्मय स्थान है, जहाँ नव यौवन के जोर में

विभोर श्रीयुगलकिशोर का कामकेलि–नित्यविहार की सेज पर विहरने का सदा चित्त में चाव–तीव्र उत्कण्ठा, उत्साह रहता है।

गुरु हमकौं उपदेस कियौ वा देस कौ।
जहाँ न माया काल त्रिगुन परवेस कौ।।
जनम मरन गयौ छूटि सरन हरिदास की।
हरि हाँ, गौर स्याम सुखरासि निरखि निजु आस की।।५२८।।

परम दयालु श्रीगुरुदेव ने हमें उस देश का उपदेश किया, जहाँ माया, काल और त्रिगुण आदि का लवलेश भी प्रवेश नहीं है। रसिक–अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज की शरण के प्रताप से अब हमारा जन्म–मरण–आवागमन छूट गया। अब तो सुख की राशि–सुखसमुद्र श्रीगौर–श्याम को सदा नित्यविहार रस में मत्त, मग्न देखते रहते हैं। यही हमारी निज आशा है, निज चाह है।

दोहा-कोऊ काहू कौ नहीं, अपने लै पहिचानि।
श्रीबिहारी बिहारिनि दासि भजि, तजि लोक वेद की कानि।।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि इस संसार में कोई किसीका नहीं है। सभी माया के बंधन में पड़े भ्रमण कर रहे हैं। इसलिये तुम इनमें से अपने पहचान लो। अपने हैं दिव्य निकुंज मन्दिर में नित्य क्रीड़ा करनेवाले श्रीकुंजविहारी, श्रीकुंजविहारिणि, उनके दासि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज और उनको अनन्य भाव से भजनेवाले रसिक–अनन्यजन। लोक की और वेद की विधि–मर्यादा को छोड़कर, क्योंकि वह त्रिगुणमयी है, इनको अनन्य भाव से प्रेमपूर्वक भजो–सेवन करो।

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी कहते हैं-

अपनौ है निज केलि सुख, और न अपनौ कोय।
चलै रीति हरिदास की, सोई अपनौ होय।।४०९।।

अपना तो एकमात्र निज केलि सुख—निज नित्यविहार सुख ही है। क्योंकि हम उसके स्वरूप ही हैं और संसार में अपना कोई नहीं है। सभी अनादि कर्मात्मक अविद्याजन्य मोह-माया में बँधे हुए भटक रहे हैं। और जो रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी के रसिक-अनन्य धर्म की रीति पर चलते हैं, वे रसिक-अनन्यजन अपने हैं और कोई अपना नहीं है।

सब ही सपनौ जानि, श्रीस्वामी हरिदास बिनु।
हर्ष सोक नहीं मानि, रूठैं तूठैं जगत के।।४१०।।

परम महामाधुर्य रसमय नित्यविहारस्वरूप श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के बिना सम्पूर्ण संसार को ही स्वप्न के समान असत्य, भ्रमरूप जानो। इसलिये जगत् के (त्रिभुवन के) कोई भी प्राणी रूठें—अप्रसन्न हों, या तूठें—प्रसन्न हों, तो इसमें हर्ष और शोक मत मानो। वे तुम्हारा क्या बिगड़ सकते हैं और तुम्हें क्या दे सकते हैं? कर्ता तो एकमात्र नित्यविहारस्वरूप श्रीस्वामी हरिदास जी हैं और सब भ्रम के समान असत्य एवं परतन्त्र हैं।

सोई अपनौ जानि, जाकी हरि सौं प्रीति है।
सत्रु मित्र सम मानि, सेवौ नित्य बिहार कौं।।४११।।

उसीको अपना जानो, जिसकी श्रीहरि—श्रीश्यामा-श्याम में प्रीति है, उनका अनन्यभाव से प्रेमपूर्वक भजन करता है। इसके अलावा कोई वैर करनेवाला शत्रु है या प्रेम करनेवाला मित्र है, दोनों को समान मानो। क्योंकि दोनों ही माया से युक्त हैं, माया से घिरे हुए हैं। इस तरह समझकर अपने अमूल्य समय को न खोते हुए मन, वचन, सर्वात्मा से श्रीयुगलवर के नित्यविहार का सेवन करो।

-: इति त्रयोदश (१३) पद का भावार्थ :-



अथ चतुर्दश पद–अवतरण

यह संसार असत्य और भ्रमरूप है। यह श्रीहरि की रचना होने से विचित्र आकर्षक है। परम चतुरवर श्रीहरि ही इसके आदि, मध्य, अन्त कारणरूप हैं। उनकी शरण लिये बिना इसकी निवृत्ति होना अत्यन्त दुर्गम है।

पद- **राग कान्हरौ**

झूठी बात साँची करि दिखावत हो हरि नागर।
निसिदिन बुनत उधेरत जात प्रपंच कौ सागर।।
ठाट बनाइ धर्‍यौ मिहरी कौ हे पुरुष ते आगर।
सुनि हरिदास यहै जिय जानौ सुपने कौ सौ जागर।।१४।।

अर्थ–हो–अहो हरि! अर्थात् सबके मन को हरनेवाले। हो नागर–चतुर शिरोमणि! चतुराई बताते हैं कि झूठी बात–माने मिथ्या जो संसार है, उसे साँची करि दिखावत–माने सत्य प्रतीति कराते हो। इस प्रपंच कौ–नाम विश्व को दिन में बुनत–माने बनाते हो और निसि–नाम रात्रि में उधेरत–नाम नाश करते हो। अर्थात् जब ब्रह्मा का दिन होता है, तब सृष्टि होती है और जब ब्रह्मा की रात होती है, तब प्रपंच–संसार तिरोहित हो जाता है–मिट जाता है। सो आप इस प्रपंच के सागर हो–न जाने कितना प्रपंच आपके भीतर भरा है।

हे पुरुष! ते–नाम तुम्हारी जो मिहरी–माया है, उसके द्वारा आपने यह ठाट–विश्व बनाकर धर्‍यौ–माने धारण कर रखा है। आपकी सत्ता से ही यह संसार है। सो आप बड़े आगर–नाम चतुर, श्रेष्ठ हो। रसिक-अनन्य कमल-कुल दिवाकर श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि साधक! तू श्रीहरि का दास है, तूने उनकी शरण ली है, तो सुन, अपने जिय में यही जान कि यह सब संसार

स्वप्न के जागने के समान है। जैसे मनुष्य सत्यरूप में सोता हुआ भी स्वप्न में अपना जागना देखता है; परन्तु उसका वह जागना मिथ्या है, क्योंकि वास्तव में सो ही रहा है। ऐसे ही शुभ-अशुभमय संसार सत्य के समान प्रतीत होता हुआ भी वास्तव में मिथ्या ही है।

मूल- **झूठी बात साँची करि दिखावत हो हरि नागर।**

अर्थ—हो—अहो हरि! नाम सबके मन को हरण करनेवाले। हो नागर—चतुर शिरोमणि! चतुराई बताते हैं कि झूठी बात—माने मिथ्या जो संसार है। उसे सत्य करके दिखाते हो, सत्य प्रतीति कराते हो।

भावार्थ—सो श्रीव्यासदेव जी ने कहा है-

यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।

भा. १-१-१

यत्र त्रयाणां मायागुणानां सत्त्वरजस्तमसां सर्गो भूतेन्द्रियदेवता रूपोऽमृषा सत्यः; यत्सत्यतया तमो रजः सत्त्वानां मिथ्यासर्गोऽपि सत्यवत् प्रतीयते तं परं सत्यमित्यर्थः।

जो माया के तीन गुण—सत्त्व, रज और तम की सृष्टि—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वि आदि पाँच महाभूत, आँख, नाक, कान आदि दश इन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि आदि अन्तकरण चतुष्टय एवं इनके देवतारूप त्रिसर्ग—तीन प्रकार की सृष्टि, अथवा त्रिगुणमयी जाग्रत, स्वप्न, सुषुत्तिरूपा त्रिसर्ग—तीन प्रकार की सृष्टि अमृषा—माने सत्य सी दिखती है। अर्थात् परब्रह्म श्रीहरिरूप अधिष्ठान की सत्ता से ये सत्व, रज, तमरूप सृष्टि मिथ्या होने पर भी सत्यवत्—सत्य के समान प्रतीत होती है—दिखने में आती है, वही परम सत्य है—उन परम सत्यरूप श्रीहरि की जय हो, हम उनका ध्यान करते हैं।

भाव यह है कि अहंता, ममता, राग, द्वेष, भय, उद्वेग आदि शुभ-अशुभ विकारों से युक्त संसार की कोई सत्ता नहीं है। यह

त्रिगुणात्मक जगत् मन की कल्पनामात्र है। यह वास्तव में असत् होने पर भी श्रीहरि की सत्ता के कारण सत्य-सा प्रतीत होता है। यहाँ की सभी वस्तुएँ आदि और अन्तयुक्त हैं। इसलिये वे सर्वथा मिथ्या मायामात्र हैं। यह सब उन नटनागर का इन्द्रजाल–मायामात्र है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं–

झूठौ है संसार यह, झूठी है यह देह।
श्रीबिहारीदास कौ सुख चहौ, तौ यासौं तजौ सनेह॥६९४॥

यह त्रिगुणमय संसार झूठा–असत्य, भ्रमरूप है और यह त्रिगुणमयी देह भी झूठी–असत्य, भ्रमरूप है। यदि श्रीबिहारीदास–श्रीकुंजविहारी, श्रीकुंजविहारिणि और दास–श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज का दिव्य, नित्य चिन्मय प्रेमरस माधुर्यमय सुख चाहते हो तो शरीर और संसार से स्नेह को छोड़ो–सुख की आसा को छोड़ो और श्रीविहारी-विहारिणि और श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज सों दृढ़ अनुराग करो।

मूल- निसिदिन बुनत उधेरत जात प्रपंच कौ सागर।

अर्थ–इस प्रपंच कौ–नाम विश्व कौ दिन में बुनत–माने बनाते हो और निसि–नाम रात्रि में उधरेत–नाम नाश करते हो। अर्थात् जब श्रीब्रह्मा जी का दिन होता है, तब सृष्टि होती है और जब श्रीब्रह्मा जी की रात होती है, तब प्रपंच–संसार तिरोहित होता है–मिट जाता है। सो आप इस प्रपंच के सागर हो–न जाने कितना प्रपंच आपके भीतर भरा है।

भावार्थ– रात्र्यागमे प्रलीयन्ते प्रभवयन्त्यहरागमे।

श्रीब्रह्मा जी की रात्रि आती है–होती है, तब यह प्रपंचमय सृष्टि प्रलय को प्राप्त हो जाती है–उनमें समा जाती है और श्रीब्रह्मा जी का दिन आता है–होता है, तब सृष्टि प्रकट हो जाती है, उत्पन्न हो जाती है।

यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे।
यदिमञ्च प्रलयं यान्ति पुनरेवक्षययुगे॥

जब युग के आने–प्रारम्भ होने पर जिससे सम्पूर्ण जड़–चेतन भूत–प्राणी प्रकट होते हैं–जन्म लेते हैं और जब फिर युग के क्षय होने का समय आता है, तब उसीमें प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं–समा जाते हैं।

जन्माद्यस्ययतः भा. १-१-१

जिससे इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं, क्योंकि वह सभी सद्रूप पदार्थों में अनुगत है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

जिससे ये सब प्राणी जन्म लेते हैं, जिसके द्वारा पैदा हुए प्राणी जीवन धारण करते हैं–तुष्ट–पुष्ट होते हैं और जिसमें प्रवेश करते हैं, समा जाते हैं।

भाव यह है कि विचारदृष्टि से यद्यपि प्रपंच मूलक जन्म-मरणरूपी यह संसार सर्वथा ही मिथ्या है, तो भी जबतक यह मन श्रीविहारी जी के चरणकमलों का चंचरीक (भ्रमर) नहीं बन जाता, तबतक रात-दिन विषयों के संकल्प-विकल्प में संलग्न रहता है। जैसे समुद्र में असंख्य लहरें उठती-विलीन होती रहती हैं, वैसे ही चित्त में वृत्तिरूप भाँति-भाँति की तरगों का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। चित्त में अनेकों जन्म के संस्कार भरे हैं। वे इसको रात-दिन प्रेरते रहते हैं। जिससे यह नाना प्रकार की इच्छाओं के अनुसार अनेक व्यापार आदि की योजनाओं को बनाता-बिगाड़ता रहता है। अनेकों के धन को हरने की इच्छा करता है। अनेकों का अनिष्ट सोचता है, फिर उसके दुष्परिणाम से भयभीत होता है।

कभी संसार की सैर करता है, कभी स्वर्गादिक के सुखों की कल्पना करता है, तो कभी नरक की भीषण यातनाओं से

संत्रस्त–भयविह्वल होता है। कभी संसार के मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा का चिन्तन करता है, तो कभी उन सभी की निस्सारता का अनुभव करके घृणा का भाव प्रकट करता है। कभी भोगों में सुख देखता है, तो कभी यह सोचता है कि भोग की इच्छा भी नहीं करनी चाहिये। कभी भोग के चिन्तनमात्र से पतन के भाव से भयभीत होता है। इस प्रकार बहुत-सी–अनेक प्रकार की उधेड़-बुनों में ही यह संसारात्मक प्राणी व्यस्त रहता है।

मूल— ठाट बनाइ धर्‍यौ मिहरी कौ हे पुरुष ते आगर।

अर्थ—हे पुरुष! ते–नाम तुम्हारी जो मिहरी–माया है, उसके द्वारा आपने यह ठाट–विश्व बनाकर धर्‍यौ–माने धारण कर रखा है। आपकी सत्ता से यह संसार है। सो आप बड़े आगर–नाम चतुर-श्रेष्ठ हो।

भावार्थ— अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः॥४-७-५०॥

श्रीभगवान् ने कहा–जगत् का परम कारण मैं ही ब्रह्मा और महादेव हूँ। मैं सबका आत्मा, ईश्वर और साक्षी हूँ तथा स्वयंप्रकाश और उपाधिशून्य हूँ।

आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्॥५१॥

विप्रवर! अपनी त्रिगुणात्मिका माया को स्वीकार करके मैं ही जगत् की रचना, पालन और संहार करता रहता हूँ। और मैंने ही उन कर्मों के अनुरूप ब्रह्मा, विष्णु और शंकर ये नाम धारण किये हैं।

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्॥

भा. ३-७-९

श्रीमैत्रेय जी ने कहा—जो आत्मा सबका स्वामी और सर्वथा मुक्तस्वरूप है, वही दीनता और बन्धन को प्राप्त हो, यह बात युक्तिविरुद्ध अवश्य है, किन्तु वस्तुतः यही तो भगवान् की माया है।

यदर्थेन विनामुष्य पुंस आत्मविपर्ययः।
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः॥१०॥

जिस प्रकार स्वप्न देखनेवाले पुरुष को अपना सिर कटना आदि व्यापार न होने पर भी अज्ञान के कारण सत्यवत् भासते हैं, उसी प्रकार इस जीव को बन्धनादि न होते हुए भी अज्ञानवश भास रहे हैं।

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनो नात्मनो गुणः॥११॥

यदि यह कहा जाय कि फिर ईश्वर में इनकी प्रतीति क्यों नहीं होती, तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार जल में होनेवाली कम्प आदि क्रिया जल में दीखनेवाले चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब में न होने पर भी भासती है, आकाशस्थ चन्द्रमा में नहीं, उसी प्रकार देहाभिमानी जीव में ही देह के मिथ्या धर्मों की प्रतीति होती है, परमात्मा में नहीं।

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह॥१२॥

निष्कामभाव से धर्मों का आचरण करने पर भगवत्कृपा से प्राप्त हुए भक्तियोग के द्वारा यह प्रतीति धीरे-धीरे निवृत्त हो जाती है।

सृष्ट्वाग्रे महदादीनि सविकाराण्यनुक्रमात्।
तेभ्यो विराजमुद्धृत्य तमनु प्राविशद्विभुः॥२१॥

श्रीविदुर जी ने कहा—भगवन्! आपने कहा कि सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् ने क्रमशः महदादि तत्त्व और उनके विकारों को रचकर फिर उनके अंशों से विराट् को उत्पन्न किया और इसके पश्चात् वे स्वयं उसमें प्रविष्ट हो गये।

यमाहुराद्यं पुरुषं सहस्राङ्घ्र्यूरु बाहुकम्।
यत्र विश्व इमे लोकाः सविकाशं समासते॥२२॥

उन विराट् के हजारों पैर, जाँघें और बाँहें हैं, उन्हींको वेद आदि पुरुष कहते हैं, उन्हीं में ये सब लोक विस्तृतरूप से स्थित हैं।

संसार का कारण मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और शब्द, स्पर्श, रूप आदि पंच तन्मात्राएँ इन आठ तत्त्वों को ही बताया गया है। यही श्रीहरि की मिहरी अर्थात् शक्ति–माया है। इसके तीन गुण हैं-सत्त्व, रज और तम। इनके सोलह विकार हैं–दश इन्द्रीं, एक मन और शब्दादि पाँच विषय। इन सबमें एक पुरुष तत्त्व अनुगत है। इन सबका समुदाय ही स्थावर-जंगम जगत् का ठाट–देह है। **पुरुष ते आगर**–अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनों से परे–श्रेष्ठ परात्पर प्रभु हैं।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम॥

गीता. १५-१८

कारण कि मैं क्षर (प्रकृति) से अतीत–श्रेष्ठ हूँ और अक्षर जीवत्मा से भी उत्तम हूँ, इसलिये लोक में और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

नित्य बिहारी की कला प्रथम पुरुष अवतार।
तासु अंस माया भई जाकौ सकल पसार॥
जाकौ सकल पसार महातत्त्व उपज्यौ जातें।
अहंकार उत्पत्ति भई श्रुति कहै जु तातें॥
अहंकार त्रै रूप भयौ सिव विधि असुरारी।
भगवत सबकौ तत्त्व बीज श्री नित्यबिहारी॥१॥

श्रीनित्यविहारी–श्रीकुंजविहारी युगलकिशोर की कला से–अंश विशेष से प्रथम–पहले पुरुष–महा नारायण का अवतार

हुआ। उन्हींके अंश से माया–मूल प्रकृति उत्पन्न हुई, जिसका यह सब (विश्व) विस्तार है। उससे महत्तत्व-आदि पुरुष नारायण की उत्पत्त हुई। उनसे अहंकार–गर्भोदशायी नारायण की उत्पत्ति हुई। वह अहंकार–सत्त्व, रज और तम गुणरूप हुआ और उन्हीं से तीन रूप प्रकट हुए–सत्त्व से असुरारी–विष्णु, रज से ब्रह्मा और तम से महादेव ये तीनों अपनी तीनों शक्तिसहित प्रकट होकर रक्षण, सृष्टिरचना और संसार का संहाररूप कार्य करते हैं।

श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं कि जितने धाम, धामी, ईश्वर और अवतार आदि हैं, इन सबका मूलतत्त्व–बीज श्रीनित्य बिहारी हैं।

मूल- सुनि श्रीहरिदास यहै जिय जानौ सुपने कौ सौ जागर।

अर्थ–रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी कहते हैं कि हे साधक! तू श्रीहरि का दास है, तूने उनकी शरण ली है, तो सुन, अपने जिय में यही जान कि यह सब संसार स्वप्न में जागने के समान है। जैसे मनुष्य सत्यरूप में सोता हुआ भी स्वप्न में अपना जागना देखता है, परन्तु उसका वह जागना मिथ्या है, क्योंकि वह वास्तव में सो ही रहा है। ऐसे ही शुभ-अशुभमय यह संसार सत्य के समान प्रतीत होता हुआ भी वास्तव में मिथ्या ही है।

गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः।

भा. ६-१५-२३

ये गन्धर्व नगर, स्वप्न, जादू और मनोरथ की वस्तुओं के समान सर्वथा असत्य हैं।

यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा॥

भा. ११-१३-३०

जबतक पुरुष की भिन्न-भिन्न पदार्थों में सत्यत्व बुद्धि, अहं बुद्धि और ममबुद्धि युक्तियों के द्वारा निवृत्त नहीं हो जाती, तबतक

वह अज्ञानी यद्यपि जागता है, तथापि सोता हुआ-सा रहता है, जैसे स्वप्नावस्था में जान पड़ता है कि मैं जाग रहा हूँ।

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा॥३१॥

आत्मा से अन्य—देह आदि प्रतीयमान नाम-रूपात्मक प्रपंच का कुछ भी अस्तित्व नहीं हैं। इसलिये उनके कारण होनेवाले वर्णाश्रमादिभेद, स्वर्गादिफल और उनके कारणभूत कर्म, वे सब-के-सब इस आत्मा के लिये वैसे ही मिथ्या हैं, जैसे स्वप्नदर्शी पुरुष के द्वारा देखे हुए सब-के-सब पदार्थ।

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान्।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः॥३२॥

जो जाग्रत-अवस्था में समस्त इन्द्रियों के द्वारा बाहर दीखनेवाले सम्पूर्ण क्षणभंगुर पदार्थों को अनुभव करता है और स्वप्नावस्था में हृदय में ही जाग्रत में देखे हुए पदार्थों के समान ही वासनामय विषयों को अनुभव करता है और सुषुप्ति-अवस्था में उन सब विषयों को समेटकर उनके लय को भी अनुभव करता है, वह एक ही है। जाग्रत अवस्था के इन्द्रिय, स्वप्नावस्था के मन और सुषुप्ति की संस्कारवती बुद्धि का भी वह स्वामी है। क्योंकि वह त्रिगुणमयी तीनों अवस्थाओं का साक्षी है। जिस मैंने स्वप्न देखा, जो मैं सोया, वही मैं जाग रहा हूँ, इस स्मृति के बलपर एक ही आत्मा का समस्त अवस्थाओं में होना सिद्ध हो जाता है।

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम्॥३३॥

ऐसा विचारकर मन की ये तीनों अवस्थाएँ गुणों के द्वारा मेरी माया से मेरे अंशस्वरूप जीव में कल्पित की गयी हैं और आत्मा में ये नितान्त असत्य हैं, ऐसा निश्चय करके तुम लोग अनुमान, सत्पुरुषों के द्वारा किये गये उपनिषदों के श्रवण और तीक्ष्ण ज्ञानखड्ग के द्वारा सकल संशयों के आधार अहंकार का छेदन करके हृदय में स्थित मुझ परमात्मा का भजन करो।

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः॥३४॥

यह जगत् मन का विलास है, दीखने पर भी नष्टप्राय है, अलातचक्र (लुकारियों की बनेठी) के समान अत्यन्त चंचल है और भ्रममात्र है, ऐसा समझे। ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से रहित एक ज्ञान स्वरूप आत्मा ही अनेक-सा प्रतीत हो रहा है। यह स्थूल शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप तीन प्रकार का विकल्प गुणों के परिणाम की रचना है और स्वप्न के समान माया का खेल है, अज्ञान से कल्पित है।

दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात्॥३५॥

इसलिये उस देहादिरूप दृश्य से दृष्टि हटाकर तृष्णारहित इन्द्रियों के व्यापार से हीन और निरीह (चेष्टा-इच्छारहित) होकर आत्मानन्द के अनुभव में मग्न हो जाय। यद्यपि कभी-कभी आहार आदि के समय देहादिक प्रपंच देखने में आता है, तथापि यह पहले ही आत्मवस्तु से अतिरिक्त और मिथ्या समझकर छोड़ा जा चुका है।

इसलिये यह पुनः भ्रान्तिमूलक मोह उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता। देहपातपर्यन्त केवल संस्कारमात्र उसकी प्रतीति होती है।

देहं च नश्वरमनस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥३६॥

जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त पुरुष यह नहीं देखता कि मेरे द्वारा पहना हुआ वस्त्र शरीर पर है या गिर गया, वैसे ही सिद्ध पुरुष जिस शरीर से उसने अपने स्वरूप का साक्षात्कार किया है, वह प्रारब्धवश खड़ा है, बैठा है या दैववश कहीं गया या आया है—नश्वर शरीर सम्बन्धी इन बातों पर दृष्टि नहीं डालता।

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत स्व सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥३७॥

प्राण और इन्द्रियों के साथ यह शरीर भी प्रारब्ध के अधीन है। इसलिये अपने आरम्भक (बनानेवाले) कर्म जबतक हैं, तबतक उनकी प्रतीक्षा करता ही रहता है। परन्तु आत्मवस्तु का साक्षात्कार करनेवाला तथा समाधिपर्यन्त योग में आरुढ़ पुरुष स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रपंच के सहित उस शरीर को फिर कभी स्वीकार नहीं करता, अपना नहीं मानता, जैसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नावस्था के शरीर आदि को।

प्रकृति के कार्य शरीर में स्थित रहने पर भी जीवात्मा वास्तव में उसके सुख-दुःखादि कर्मों से लिप्त नहीं होता। कारण यह है कि वह स्वभाव से विकाररहित है, गुणातीत, अकर्ता है। तब भी अविद्यावश जब वह प्राकृत गुणों से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब अहंकार से मोहित होकर मैं कर्ता हूँ, ऐसा मानने लगता है।

अभिमान के कारण वह देह के संसर्ग से किये हुए पुण्य-पापरूप कर्मों के दोष से अपनी वास्तविक सुख-शान्ति खो बैठता है और उत्तम, मध्यम और नीच योनियों में उत्पन्न होकर संसारचक्र में घूमता रहता है। जिस प्रकार स्वप्न में भय-शोकादि का कोई कारण न होने पर भी स्वप्न के पदार्थों में आस्था हो जाने के कारण दुःख उठाना पड़ता है, इसी प्रकार भय, शोक, मैं-मेरा और जन्म-मरणादिरूप संसार की कोई सत्ता न होने पर भी अविद्यावश विषयों का चिन्तन करते रहने से जीव की संसारचक्र से कभी भी निवृत्ति नहीं होती।

स्वप्नावस्था में जो हर्ष, शोक, भय, उद्वेग आदि के कारण उपस्थित होते हैं, वे सब जागृति के समान ही सुख-दुःख के हेतु होते हैं। उसको उस समय यह भान नहीं होता कि वह सो रहा है, परन्तु जैसे ही निद्रा टूटते ही उसका सब भ्रम दूर हो जाता है। इसी भाँति मोहनिद्रा में सोये हुए जीव के भय, शोक, प्रलोभनादि बिना ज्ञानजागृति के शान्त नहीं होते। जिस समय जीव स्वप्न देखता है, उस समय स्थूल वस्तु कहाँ होती है? उस समय तो केवल मन में ही उन वस्तुओं की मिथ्या प्रतीति होती है। वैसे ही जगत् के शोक, मोह, सुख, दुःख, देह के जन्म-मृत्यु आदि सब-के-सब केवल माया से झूठे प्रतीत होते हैं। देहादि असत् पदार्थों को लेकर जितने भेद-विभेद, स्वर्गादि जितनी गति और उनके कारण कर्म आदि प्रतीत होते हैं, वे सब-के-सब स्वप्न में दीखनेवाले प्रपंच के समान सर्वथा मिथ्या हैं।

साँचे श्रीराधारमन झूठौ सब संसार।
बाजीगर कौ पेखनौ मिटत न लागै बार॥
मिटत न लागै बार भूत की सम्पति जैसे।
मिहरी नाती पूत धुवाँ कौ धौरर तैसे॥
भगवत ते नर अधम लोभ बस घर घर नाचें।
झूठे गढ़ै सुनार मैन के बोलै साँचे॥७॥

श्रीराधारमण–युगलकिशोर सच्चे हैं और यह देह-गेह आदि युक्त सारा संसार झूठा-स्वप्नवत् है। जैसे बाजीगर–जादूगर का पेखना–तमाशा, खेल थोड़ी देर का देखनेमात्र का होता है, उसे मिटने में कोई समय नहीं लगता। दूसरा–जैसे भूत की सम्पत्ति–भूत अपनी माया से अनेक दृश्य और सम्पत्ति दिखाता है, किन्तु वास्तव में असत्–भ्रमरूप होती है और मिटने में देर नहीं लगती। तीसरा–जैसे धुआँ का धौरहर–धुएँ के बादलों का महल, थोड़ी समय में मिट जाता है। इसी प्रकार संसार के सब पदार्थ–स्त्री, पूत, नाती, भाई-बन्धु आदि सब असत्–भ्रममात्र और मिटनेवाले हैं।

श्रीस्वामी भगवतरसिक जी कहते हैं कि जो अविद्यारूप माया से मोहित लोभी नर हैं, मायिक असत् पदार्थों में जिनकी सुखबुद्धिपूर्वक आसक्ति–लोभ है वे ही मूढ़जन घर-घर नाचते हैं–घर-घर भटकते फिरते हैं। जैसे सुनार मैन–मोम–मुलम्मा का झूठा ही साँचा गढ़ता है, उस झूठे साँचे को सभी साँचा कहते हैं, झूठा कोई नहीं कहता। ऐसे ही देह-संसार आदि के सभी पदार्थ झूठे हैं, किन्तु मायामोहित जीव उन्हें सत्य मानकर उनमें आसक्त रहते हैं और साँचे (सत्य) रूप में ही वर्णन करते हैं।

लैना एक न दैना दोइ। झूठी धामस धूमस होइ।।
नियंता भुक्ता औरै कोइ। तू दिन दुख क्यों पावत रोइ।।

इस असत्, भ्रमरूप संसार में सभी वस्तुएँ और व्यवहार असत्, भ्रमरूप हैं। यहाँ न एक लेना न दो देना है, अर्थात् सब स्वप्नवत् झूठी धूम-धाम, चहल-पहल होती है।

नियन्ता भुक्ता औरै कोइ। तू दिन दुख क्यों पावत रोइ।।
ममता करत कहत मम देहा। छिन भंगुर जरि ह्वै है खेहा।।

इस देह और प्रकृति–संसार के नियन्ता–शासक, चलानेवाले, कर्ता-भर्ता तो और कोई हैं–माने प्रभु हैं और भोक्ता भी तू नहीं है, अर्थात् और कोई–माने प्रकृति–चित्त-अहंकार आदि हैं। फिर तू उसकी चिन्ता कर रोते हुए क्यों दुःख पाता है? जिस शरीर से तू ममता मानकर स्नेह करता है, उसका पालन-पोषण करता है और कहता है कि यह देह मेरी है, कितनी सुन्दर, बलीष्ठ है। समय आने पर वही देह एक क्षण में नष्ट हो जायगी और जलकर खेह–राख हो जायगी।

अहंकार मन धोखे पर्‌यौ। निकट बसत नरहरि बिसर्‌यौ॥
धन गुन रूप कहावत भलौ। हम समान को है उजलौ॥

देह, गेह, सम्पत्ति, रूप, गुण आदि के अहंकार ने मन को धोखे में–भ्रम में पटक रखा है, इसीमें भुला हुआ फूला न समाता है। इसीके कारण नररूप हरि–नरहरि–श्रीगुरु, सन्त निकट ही–पास ही निवास कर रहे हैं–रह रहे हैं, उनको भूल गया, उनकी ओर देखता तक नहीं, जो प्रेमस्वरूप, कल्याणस्वरूप, मंगलस्वरूप हैं।

धन-सम्पत्ति प्राप्त करके, गुणों को और रूप-यौवन आदि को प्राप्त करके भला–अच्छा, श्रेष्ठ कहलाता है और गर्व में भरकर कहता है कि हमारे समान उजला–निर्मल, उत्तम, परोपकारी क़ौन है?

वाद विवाद करत नहिं डरै। हारे जीते काज न सरै॥
सब प्रपंच निस्चै जिय जानि। श्रीबिहारीदास ह्वै हरि रति मानि॥४॥

प्रभु ने जो कुछ विद्या-बुद्धि आदि गुण दिये हैं, तो उनसे उन्हें रिझाना तो दूर रहा, उलटा विद्या के मद में वाद-विवाद–शास्त्रार्थ करता फिरता है, तनिक भी डरता नहीं है कि इसमें बड़ों का अपमान, अवहेलना होती है और अनेक दोष प्रकट हो जाते हैं। शास्त्रार्थ में हार जाने से अपमान होता है, गर्व की हानि होती है और जीत जाने से प्रशंसा, कीर्ति होती है, गर्व बढ़ जाता है, किन्तु

दोनों से कार्य नहीं सरता—नहीं बनता, माया-मोह से पार नहीं होता, श्रीहरिचरणों की प्राप्ति, सेवा की प्राप्ति नहीं होती।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि सब माया—प्रपंच है, जो असत्य, भ्रममय और स्वप्नरूप है। यह तू अपने जिय में निश्चय करके जान ले, समझ ले और श्रीविहारी-विहारिणि का दास होकर—उनका अनन्यभाव से जन बनकर श्रीहरि—युगलकिशोर सों रति मान—अनन्यभाव से रसरीतिपूर्वक प्रेम कर।

-: इति चतुर्दश (१४) पद का भावार्थ :-



अथ पञ्चदश पद—अवतरण

इस असत्, स्वप्नरूप, भ्रममय संसार में बन्धु-मित्र, सर्वस्व एक श्रीविहारी जी ही हैं और सांसारिक बन्धु-बान्धव आदि सब मिथ्या हैं। कोई भी इस जीव की रक्षा करनेवाले नहीं हैं, केवल सर्वस्व हरण करनेवाले हैं। इससे सांसारिक सम्बन्धियों में आसक्ति न करके प्रभु—श्रीहरि के चरणों में आसक्ति करनी चाहिये, सो कहते हैं।

पद-जगत प्रीति करि देखी नाहिंने गटी कौ कोऊ।
छत्रपति रंक लौं देखै प्रकृति विरोध बन्यौ नहिं कोऊ॥
दिन जो गये बहुत जन्मनि के ऐसे जाऔ जिनि कोऊ।
सुनि श्रीहरिदास मीत भलै पाये बिहारी ऐसे पाऔ सब कोऊ॥१५॥

अर्थ—इस असत्, भ्रमरूप जगत्—संसार से प्रीति—प्रेम करके देख लिया। जगत् में गटी का कोई नहीं है। कोई ऐसा नहीं है, जिससे प्रीति की—प्रेम की गाँठ बँध जाय—बँध सके। क्षत्रपति—सम्राट्, राजा सों लेकर रंक—अकिंचन, दीन-हीन, गरीब, भिखारीतक देख लिये, परन्तु सब प्रकृति-विरुद्ध हैं—एक की प्रकृति एक सों बनती नहीं है। कोई भी प्रकृति के विरुद्ध बना नहीं है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के विरुद्ध किसीकी भी रचना नहीं हुई। अर्थात् जब जगत् की कारणभूत प्रकृति ही गुण-विषमता से युक्त है, तब उसके कार्य जगत् में समानता कैसे हो सकती है? और जहाँ समानता नहीं, वहाँ प्रीति कहाँ? वहाँ प्रीति—मित्रता कैसे हो सकती है? ऐसे देखते हुए बहुत—असंख्य जन्मों के जो दिन, सो बीत गये, वैसे अब कोऊ—एक दिन भी वृथा मत जाओ—नहीं जाये। रसिक—अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि सुनो, हमें तो प्रेम रस माधुर्यनिधि श्रीविहारी जी अच्छे मित्र मिल गये। जैसे हमें श्रीविहारी जी भले—अच्छे मित्र मिले, ऐसे सबको मिलें, सब कोई पाओ, सबके ऊपर कृपा करें, यह आपका सबको आशीर्वाद है।

मूल- जगत प्रीति करि देखी नाहिंने गटी कौ कोऊ।

अर्थ—इस असत्, भ्रमरूप जगत्-संसार से प्रीति—प्रेम करके देख लिया। जगत् में गटी का कोई नहीं है, जिससे प्रीति की—प्रेम की गाँठ बँध जाय—बँध सके।

भावार्थ—संसार के जितने भी सम्बन्ध हैं, वे सब स्वार्थ से भरे हुए हैं। जबतक सम्बन्धियों से सुख मिलने की सम्भावना रहती है, सुख मिलता है, तबतक प्रेम-सूत्र जुड़ा रहता है और जब सुख की आशा मिटी, सुख का मिलना बन्द हो गया, तब फिर सब प्रेम-सम्बन्ध भी टूट गया।

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्या-
त्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्या-
त्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति॥
न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रियाः भवत्या-
त्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रियाः भवति।

वृहदारण्यकोपनिषद् -४-५-६

यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन—सुख के लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन—सुख के लिये ही पति प्यारा होता है। यह निश्चय है कि स्त्री के प्रयोजन—सुख के लिये स्त्री प्रिय नहीं होती। अपने ही प्रयोजन—सुख के लिये स्त्री प्यारी होती है।

यह निश्चय है कि पुत्रों के प्रयोजन—सुख के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन—सुख के लिये पुत्र प्यारे होते हैं।

इसी प्रकार संसार में प्रेम करनेयोग्य कोई भी नहीं है, जिससे प्रेम का सम्बन्ध किया जा सके। क्योंकि सभी असत्, भ्रम—अविद्यारूप माया के और काल, कर्म के अधीन विवश हैं।

मूल— क्षत्रपति रंक लौं देखै प्रकृति विरोध बन्यौं नहीं कोऊ।

अर्थ—क्षत्रपति—सम्राट्, राजा सों लेकर रंक—अकिंचन, दीन-हीन, गरीब, भिखारीतक देख लिये, परन्तु सब प्रकृति विरुद्ध हैं—एक की प्रकृति एक सों बने नहीं है, कोई भी प्रकृति के विरुद्ध बना नहीं है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के विरुद्ध किसीकी भी रचना नहीं हुई। अर्थात् जब जगत् की कारणभूत प्रकृति ही गुण-विषमता से युक्त है, तब उसके कार्य जगत् में समानता कैसे हो सकती है? और जहाँ समानता नहीं, वहाँ प्रीति कहाँ? वहाँ प्रीति—मित्रता कैसे हो सकती है?

भावार्थ—भाव यह है कि छोटे-बड़े जितने भी प्राणी हैं, वे सब प्रकृति के कार्य हैं, परस्पर विरोधी प्राकृत गुणों से युक्त हैं। सृष्टि के आदि (प्रारम्भ) में श्रीहरि ने जीवों के शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार प्रकृति को क्षुब्ध किया, तब उससे सत्, रज और तम इन तीनों गुणों की उत्पत्ति हुई। उनसे क्रियाशक्ति प्रधानसूत्र और ज्ञानशक्ति प्रधान महत्तत्व प्रकट हुआ। महत्तत्व में विकार होने से अहंकार प्रकट हुआ। यह अहंकार ही जीवों को मोह में डाल देता है। यह तीन प्रकार का है-सात्त्विक, राजस और तामस। अहंकार पञ्चतन्मात्रा-(शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध), इन्द्रीं और मन का कारण है। इसलिये यह जड़-चेतनात्मक उभय है।

तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्रा और उनसे (पञ्चतन्मात्राओं से) पञ्च महाभूत (पाँच तत्त्व)—आकाश, वायु, तेज, जल, और पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। राजस अहंकार से दश इन्द्रियाँ और बुद्धि की उत्पत्ति हुई। सात्त्विक अहंकार से मन और इन्द्रियों के अधिष्ठाता ग्यारह देवता—(अग्नि, वरुण, अश्विनीकुमार, सूर्य, वायु, दिशा, ब्रह्मा, मित्र, इन्द्र, चन्द्रमा और विष्णु) प्रकट हुए। ये सभी पदार्थ श्रीहरि की प्रेरणा से एकत्रित होकर परस्पर मिश्रित (मिल गये) हो गये और इनने ब्रह्माण्डरूप अण्ड प्रकट किया। जब यह अण्ड जल

में स्थित हो गया, तब इसमें श्रीहरि नारायणरूप से विराजमान हो गये। उनकी नाभि से कमल प्रकट हुआ और उसी पर ब्रह्मा का आविर्भाव (प्राकट्य) हुआ। समष्टि (सम्पूर्ण संसार) के अन्तःकरणस्वरूप ब्रह्मा ने पहले बहुत बड़ी तपस्या करी, तब श्रीहरि का कृपा-प्रसाद प्राप्त करके लोक और लोकपालों की रचना की। यह समस्त जगत् कर्म और उनके संस्कारों से युक्त है। श्रीभगवान् ही कालरूप से कर्मों के अनुसार उनके फल का विधान करते हैं। इस गुण-प्रवाह में पड़कर जीव कभी डूबता है, कभी ऊपर आता है, कभी उसकी अधोगति होती है और कभी उसको पुण्यवश उच्चगति प्राप्त होती है। जगत् में छोटे-बड़े, मोटे-पतले जितने भी पदार्थ बनते हैं, सब प्रकृति के अनुसार होते हैं और वैसे ही प्रकृति के अनुसार व्यक्ति में भी अलग-अलग गुणों का प्रकाश होता है। उनके कारण प्राणियों के स्वभाव में भी भेद हो जाता है। जैसे बाहर आकृति प्रायः सर्वथा एक-सी नहीं होती, वैसे ही मति में भी समानता नहीं होती। जैसे-

पिण्डे-पिण्डे मतिर्भिन्ना।

प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न—अलग-अलग मति होती है।

जैसे ब्रह्माण्ड—अंड का स्वरूप वर्णित हैं, इसी प्रकार पिण्ड-अंड—व्यक्ति के स्वरूप का भी वर्णित है।

प्रजा विचित्राकृतय आसन्यभिरिदं ततम्।

प्रजा की—प्राणियों की आकृति-प्रकृति विचित्र—भिन्न-भिन्न है। यह संसार इसीसे व्याप्त है।

जब प्रकृति परस्पर में विरुद्ध है, तब प्रीति—मित्रता कैसे हो सकती है?

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं-

जिनसौं प्रकृति विरोध न बनई ते धर्म विरोधी जानौ॥१३१॥

जिनसे प्रकृति का विरोध नहीं बनता—जो अपनी प्रकृति—स्वभाव को रोक नहीं सकते, उसके विरुद्ध नहीं कर सकते, अपने सुख को त्याग नहीं सकते; अपने प्रेमी—मित्र के सुख में सुखी नहीं हो सकते, वे धर्म-विरोधी हैं, उन्हें धर्म—विरोधी जानना चाहिये। धर्म—प्रेमधर्म का स्वरूप है—अपने प्रेमी के सुख में सुखी होना, प्रेमी का सुख ही उसका सुख है। ऐसा निर्मल प्रेम श्रीहरि के बिना और कौन कर सकता है? जो जीव के सर्वथा विमुख होने पर भी सदा—सर्वदा उसके संग रहकर-उसके हृदय में वास करते हुए, उसके हित की सोचते रहते हैं, उसके हित की चेष्टा करते रहते हैं। जीव के सर्वथा विमुख होने पर भी उससे मिलने के लिये व्याकुल रहते हैं और उसके हित—कल्याण के लिये सदा तत्पर रहते हैं। ऐसे नित्य साथी, प्राणप्रिय-बन्धु श्रीहरि से ही एकमात्र प्रेम—हित करना चाहिये।

मूल- दिन जो गये बहुत जन्मनि के ऐसे जाऔ जिनि कोऊ।

अर्थ—ऐसे देखते-देखते बहुत—असंख्य जन्मों के जो दिन, सो बीत गये, वैसे अब कोऊ—एक दिन भी मत जाओ—नहीं जाये।

भावार्थ—जीव आनादि काल से माया में भटक रहा है। संसार के व्यामोह में पड़कर यह बारम्बार जन्मा और मरा। बहुत-से सगे—सम्बन्धियों से संयोग और वियोग हुआ। अपने वास्तविक सुहृद् श्रीहरि से विलग होने के कारण इसको कभी भी सुख-शान्ति का अनुभव नहीं हुआ। राग, द्वेष, ईर्ष्या, मद आदि में बहुत जन्मों का बहुत-सा समय व्यर्थ ही बीत गया। कृपालु श्रीस्वामी जी महाराज चेतावनी देते हैं कि अबतक जैसा हुआ, सो हुआ, परन्तु अब तो सम्भल जाओ। अपने इस अमूल्य जीवन के एक भी क्षण को पहले की भाँति व्यर्थ मत गमाओ। नित्य—प्रतिक्षण श्रीविहारी जी का चिन्तन-स्मरण-सेवन करो, उन्हींके श्रीचरणों में प्रीति करो।

अपने हरि भजि प्रान पियारे।
ममता काल ब्याल भूल्यौ तू बड़ौ निलज मतवारे॥

अपने प्राणप्यारे, प्राणबन्धु, नित्य साथी श्रीहरि-श्रीविहारी को भज–भजन कर, सेवन कर। तू देह, गेह और परिवार आदि में सुख मानकर ममता में भुला हुआ है और कालरूप ब्याल–महासर्प-अजगर मुँह फैलाये निगलने को तैयार है, तेरे को यह खबर नहीं है। तू बड़ा निर्लज्ज है, मोह–मद में मतवाला हो रहा है।

अपने जाये जारे जीवत जिन जायौ ते जारे।
डार चढ़्यौ पेंडे काटत तू क्यौ जीहै दई मारे॥

उस महाभयंकर काल के प्रताप से तू स्वयं जीवित रहते ही अपने जाये–पैदा किये हुए पुत्रो को जला आया और जिनने जाया–पैदा किया, उन अपने माता-पिता आदि को भी जला आया। रे दईमारे–वज्र के मारे, विधाता के मारे! मूर्ख! तू कैसे जीवेगा? क्योंकि डाल पर चढ़ा हुआ पेड़–के पेंड, तना–मूल को ही काट रहा है। अर्थात् तू अपने कर्तव्य, अपने लक्ष्य को भूल गया और उसके बिना और-और सेवन कर रहा है।

मोह करत जे द्रोह करत हैं ते सत्रु मित्र विचारे।
तिनकौ संग करि करि न तज्यौ तैं जन्म अनेक बिगारे॥

तू समझता नहीं है कि संसार में जो तुझसे मोह–प्रेम करते हैं, वे द्रोह करते हैं। अर्थात् वे तेरे शत्रु हैं। वे तुझे माया-मोह में फँसाकर, श्रीहरि सों विमुखकर नरक में ले जानेवाले, आवागमन के चक्कर में भटकानेवाले हैं। तू इन शत्रुओं को ही मित्र मान रहा है? और जो शत्रु हैं, उनको मित्र विचार। वे वैर-विरोध करके संसार की दुःखरूपता दिखाकर श्रीहरि के सन्मुख करनेवाले हैं। तू अपने अज्ञानवश इन भ्रमरूप असत्य व्यक्तियों को ही सत्य मानकर उनका संग कर-करके

थका नहीं, उन्हें छोड़ा नहीं। इस प्रकार तूने अपने अनेक–असंख्य जन्म बिगाड़ दिये, श्रीहरि की विमुखता में खो दिये।

जम कौ श्रम जागत नहिं सोवत राखत नर्क उघारे।
श्रीबिहारीदास ह्वै सक्यौ न सठ हम कहि कहि हित हठि हारे॥९४॥

तू जानता नहीं कि यमराज का श्रम–दुःख, क्लेश सदा जागृत रहता है। उनके नरक के द्वार सदा–रात-दिन, नित्य खुले रहते हैं। वे कभी सोते नहीं, प्राणियों को क्लेश, यातनाओंद्वारा शुद्ध करने के लिये सदा जागते रहते हैं, तत्पर रहते हैं।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि हम और सभी सन्त, शास्त्र तेरे हित–कल्याण की बात हठ–आग्रह पूर्वक कह-कहकर हार गये, किन्तु शठ, मूर्ख, जड़! तू अब भी चेता नहीं, जागा नहीं और श्रीविहारी-विहारिणि का दास न हो सका। उनका जन बनकर उनकी भक्ति–भजन में नहीं लग सका।

मूल–सुनि श्रीहरिदास मीत भलै पाये बिहारी ऐसे पाऔ सब कोऊ।

अर्थ–रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि सुनो, हमें तो प्रेमरस माधुर्यनिधि श्रीविहारी जी अच्छे मित्र मिल गये। जैसे हमें श्रीविहारी जी भले–अच्छे मित्र मिल गये, ऐसे सब कोई को मिलें, सब कोई पावो, सबके ऊपर कृपा करें। यह आपका सबको आशीर्वाद है।

भावार्थ–श्रीस्वामी जी महाराज प्रेमावतारी हैं। करुणा-स्नेह की साक्षात् मूर्ति हैं। जीवों पर कारणरहित कृपा करनेवाले हैं। इसीलिये वासनामय संसार से जीवों के उद्धार करने के लिये शुभ मनोरथ करते हैं कि जैसे हमको अखिल प्रेम-माधुर्यैक मूर्ति श्रीबाँकेबिहारी जी भले मित्र प्राप्त हुए हैं, ऐसे–इसी प्रकार ही सब कोई को मिलें, सब कोई प्राप्त करें।

भले कहने का भाव यह है कि संसार में जितने भी मित्र हैं, वे कोई भले–अच्छे नहीं हैं। सब-के-सब स्वार्थी हैं। जबतक स्वार्थ-साधन होता रहता है, तबतक प्रीति करते रहते हैं, जहाँ स्वार्थ सिद्ध होना बन्द हुआ, बस, प्रीति टूट गई। भले मित्र तो श्रीविहारी जी और उनके चरणानुरागी सन्तजन ही हैं, जो सदा से ही जीवों पर हेतुरहित कृपा–स्नेह करते चले आ रह हैं।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज सच्चे–भले मित्र की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं–

मीत मिताई जानिये, सम्पति विपति सहाइ।
आगे पाछे एक सो, मीत बखान्यौ जाइ॥२४१॥

शुद्ध, सच्चे मित्र की मित्रता, मीतपने की सचाई तभी जानिये, जब सम्पत्ति के समय–अर्थात् सुख के समय भी और विपत्ति–संकट, दु:ख के समय भी सदा एक-सा प्रेम का व्यवहार करता रहे, तनिक भी अन्तर न पड़ता हो, बल्कि प्रेम दूना–चौगुणा बढ़ता ही जाय।

गुन औगुन धन धर्म मत, प्रान निरन्तर जीत।
श्रीबिहारीदास बिरले कहूँ, ओर निबाहू मीत॥२४२॥

जो गुण को, अवगुण–दोष को, धन को, धर्म को, मत को–विचार-सिद्धान्त को और प्राणों को भी निरन्तर–सदा जीत ले, अर्थात् जो मीत के हित के लिये न गुण को देखे और न अवगुण को देखे, न धन को देखे और न धनहीनता–दरिद्रता को देखे, न धर्म को देखे और न धर्महीनता–विमुखता को देखे,न मत–विचार–सिद्धान्त के मेल को देखे और अपने प्राणों की भी परवा न करके, प्राणों को भी जीतकर सदा–निरन्तर मित्र के हित–सुख में लगा रहे, तत्पर रहे तथा ओर निबाहू–अन्ततक मित्रता का– प्रेम का निर्वाह करनेवाला हो, वही सच्चा मित्र है, वही मित्र कहनेयोग्य है। ऐसा मित्र

विरला–क्वचित ही मिलनेवाला, बहुतों में से कोई एक, एकाध ही होता है। ऐसे विरले मित्र कहीं एकाध ही होते हैं, जो अन्ततक मित्रता का निर्वाह करनेवाले होते हैं।

ऐसे मित्र तो एकमात्र श्रीविहारी जी ही हैं, जो जीव की, ऊँच-नीच, सब दशाओं में सब समय–सदा-नित्य-निरन्तर एकरस साथ ही रहते हैं और सदा हित में लगे रहते हैं। जीव को तन-मन-धन, सर्वात्मा से इनसे ही सदा एकमात्र प्रेम करना चाहिये। करुणानिधि श्रीस्वामी जी महाराज कहते हैं कि ऐसे मित्र सबको मिलें, यह आपका सबके प्रति आशीर्वाद वचन है।

-: इति पञ्चदश (१५) पद का भावार्थ :-



अथ षोडश पद–अवतरण

साधु-भक्तों को उद्देश्य–लक्ष्य करके बहिर्मुखजनों को उपदेश करते हैं।

पद-लोग तौ भूलै भलै भूलैं तुम जिनि भूलौ माला धारी।
अपनौ पति छाँड़ि औरनि सौं रति ज्यौं दारनि में दारी।।
स्याम कहत ते जीव मोतें विमुख भये
जिन दूसरी करि डारी।
कहिं श्रीहरिदास जज्ञ देवता पितरनि कौं श्रद्धा भारी।।१६।।

अर्थ–अनादि कर्मात्मक अविद्यारूप माया से विवश, मुग्ध अज्ञानी साधारण लोग–मनुष्य श्रीहरि को भूल रहे हैं, तो वे भले ही भूलें–भूला करें, क्योंकि जिनको भगवान्–श्रीहरि का माहात्म्य (महिमा) ज्ञान नहीं, जो श्रीहरि के स्वरूप, प्रभाव, गुण, महिमा आदि को जानते नहीं हैं, उनसे हम क्या कहें? वे तो अंध, मूढ़, विषयासक्त, विमुग्ध प्राणी हैं। परन्तु हे मालाधारण करनेवाले जनो! हे श्रीगुरु-शरण प्राप्तजनो! वैष्णवजनो! तुम तो वैष्णव हो, श्रीहरि के हो चुके हो। तुम तो श्रीहरि को मत भूलो तथा अपने स्वरूप को भी मत भूलो। क्योंकि अपने स्वरूप को जाने बिना श्रीहरि को कैसे भजोगे?

अपनौ पति–श्रीहरि, उनको छोड़कर और देवान्तर (देवता, पितर आदि) सों रति–माने प्रीति करने में निन्दा है। जैसे असत् स्त्री पतिव्रतधर्म को न पालनकर–अपने पति को छोड़कर परपुरुष से रति–नाम प्रेम करती है, तो वह स्त्री दारनि–नाम स्त्रियों में (स्त्रियों के बीच) दारी–नाम व्यभिचारिणी, कुलटा, वेश्या कहलाती है। ऐसे ही उस पुरुष की निन्दा को जानना चाहिये, जो फल की कामना से श्रीहरि सों विमुख होकर अन्य देवतान्तर में आसक्त है।

श्याम–श्रीविहारी जी कहते हैं कि जिन जीवों ने मेरा सम्बन्ध छोड़कर–मेरा भजन छोड़कर फल की कामना से अन्य–दूसरे देवतादिक सों सम्बन्ध जोड़ लिया–उनका भजन किया; वे जीव मुझसे विमुख हो गये।

श्री–नाम प्रिया जी और हरि–नाम श्रीविहारी जी, उनके दास–रसिक–अनन्य मुकुटमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि इनकी यज्ञ, प्राकृत देवता और पितरों में तो भारी–बहुत बड़ी श्रद्धा है, जो कि क्षणिक, आपात रमणीय सुख को देनेवाले हैं और जो परात्पर, परमसुखस्वरूप पुरुषोत्तम श्रीहरि–श्रीविहारी जी हैं, उनसे विमुख हो रहे हैं। सो हे वैष्णवो! मालाकण्ठी धारण करनेवाले जनो! तुम गुरु-गोविन्द (गोविन्दस्वरूप गुरु) सों श्रीकृष्ण मंत्रोपदेश ग्रहण कर चुके हो, सो तुम्हारा भूलना अनुचित है।

मूल— लोग तौ भूलै भलै भूलैं तुम जिनि भूलौ माला धारी।

अर्थ–अनादि कर्मात्मक अविद्यारूप माया से विवश, मुग्ध, अज्ञानी, साधारण लोग–मनुष्य श्रीहरि को भूल रहे हैं, तो वे भले ही भूलें, भुला करें। क्योंकि जिनको भगवान् श्रीहरि का माहात्म्य (महिमा) ज्ञान नहीं, जो श्रीहरि के स्वरूप, प्रभाव, गुण, महिमा आदि को जानते नहीं हैं, उनसे हम क्या कहें? वे तो महामूढ़, अंध, विषयासक्त, विमुग्ध प्राणी हैं। परन्तु हे माला-कण्ठी धारण करनेवालेजनो-श्रीगुरु शरणप्राप्तजनो-वैष्णवजनो! तुम तो वैष्णव हो, श्रीहरि के हो चुके हो। तुम तो श्रीहरि को मत भूलो तथा अपने स्वरूप को भी मत भूलो। क्योंकि अपने स्वरूप को जाने बिना श्रीहरि को कैसे भजोगे?

भावार्थ–तुम्हारा स्वरूप कैसा है कि–

ये कण्ठसक्त तुलसीनलिनाक्षमाला
ये बाहुमूलपरिचिह्नितशङ्खचक्राः।
ये वा ललाटफलकेलसदूर्ध्वपुण्ड्रा-
स्ते वैष्णवा भुवनमाशुपवित्रयन्ति।।

जो कण्ठ में लगी हुई–पहरी हुई तुलसी की माला–कंठी और कमल के अक्षो–बीज–दानों की माला से शोभित हैं और जो बाहुमूल–कंधों पर शंख और चक्र के चिह्न–मुद्रा–छाप से सुशोभित हैं तथा ललाट-पटल पर उर्ध्व पुण्ड्–श्रीहरि के पादाकृतिरूप ऊँचे–खड़े तिलक से शोभित-विराजित हैं, वे वैष्णवजन सम्पूर्ण भुवन–त्रिभुवन को शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं।

सो ऐसी भुवन-पवित्र करने की शक्ति भगवद्भजन से ही प्राप्त है, तुम्हारा स्वरूप ऐसा है, उसे तुम मत भूलो।

एकादश में कहते हैं-

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥

भा. ११-२-३७

ईश्वर से विमुख पुरुष को उनकी माया से अपने स्वरूप की (मैं भगवत्‌दास हूँ, श्रीहरिदास हूँ, इस स्वरूप की) विस्मृति हो जाती है और इस विस्मृति से ही मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, इस प्रकार का भ्रम–विपर्यय हो जाता है। इस देह आदि अन्य वस्तु में अभिनिवेश–तन्मयता होने के कारण ही बुढ़ापा, मृत्यु, रोग आदि अनेकों भय होते हैं। इसलिये अपने गुरु को ही आराध्यदेव, परम प्रियतम मानकर अनन्य भक्ति के द्वारा उस ईश्वर का भजन करना चाहिये।

भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत्।
अहंममेत्यसद्ग्राहः करोति कुमतिर्मतिम्॥३०॥

खोटी बुद्धिवाला वह अज्ञानी जीव पञ्चभूतों से रचे हुए इस देह में मिथ्याभिनिवेश के कारण निरन्तर मैं-मेरेपन का अभिमान करने लगता है।

तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम्।
योऽनुयाति ददत्क्लेशमविद्याकर्मबन्धनः॥३१॥

जो शरीर इसे वृद्धावस्था आदि अनेक प्रकार के कष्ट ही देता है तथा अविद्या और कर्म के सूत्र से बँधा रहने के कारण सदा इसके पीछे लगा रहता है, उसीके लिये यह तरह-तरह के कर्म करता रहता है, जिनमें बँध जाने के कारण इसे बार-बार संसार-चक्र में पड़ना होता है।

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥३-३१-३२॥

सन्मार्ग पर चलते हुए यदि इसका किन्हीं जिह्वा और उपस्थेन्द्रिय के भोगों में लगे हुए विषयी पुरुषों से समागम हो जाता है और यह उनमें आस्था करके उन्हींका अनुगमन करने लगता है, तो पहले के समान ही फिर नारकी योनियों में पड़ता है।

भाव यह है कि जिन सर्व साधारण मनुष्य को, जन को श्रीसद्गुरु-चरणाश्रित होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, जिनकी बुद्धि इस लोक और परलोक के दुःखयोनिरूप विषय-भोगों के प्रलोभन में मोहित हो रही है, उन लोगों को तो भूलना स्वाभाविक है, परन्तु जो श्रीगुरु-शरणापन्न हो चुके हैं, जो वैष्णवी दीक्षा से दीक्षित हैं, वे क्यों भूलें?

मालाधारियों का मार्ग अनन्यता का है। श्रीनारद जी कहते हैं-

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता।

नारद भक्ति सूत्र-१०

अपने प्रियतम इष्ट के स्वरूप के अतिरिक्त (अलग) दूसरे के आश्रयों के त्याग को अनन्यता कहते हैं।

त्यागो लोकेवेदेषु उदासीनता॥-११॥

लोक और वेदों—लोक और वेद के कर्मों से उदासीनता को त्याग कहते हैं।

प्रेमी के मन में अपने प्रियतम के अतिरिक्त और किसीके होने की कल्पना ही नहीं होती है। दूसरे का आश्रय ग्रहण करना तो दूर की बात है। उसकी दृष्टि में कोई दूसरा आता ही नहीं है, दूसरे की सत्ता ही नहीं है।

जहँ देखे तहँ आपनौ इष्ट धर्म गुरु धाम।
कारन कारज जगत में परिपूरन रति काम।।
परिपूरन रति काम समझि समता जिन लीनी।
निन्दा अस्तुति सुपरि विषमता बुधि तजि दीनी।।
सत्रु मित्र नहिं कोइ ऊँच नीच नहिं कोइ तहँ।
सो घट भगवत रसिक स्याम स्यामा संतत जहँ।।२।।

परम भगवत्-तत्त्वनिष्ठ की दृष्टि में अपने इष्ट के अलावा अन्य किसीकी सत्ता ही नहीं होती। वहाँ जहाँ देखता है, उसकी दृष्टि जहाँ पड़ती है, वहीं पर उसे अपने इष्ट-श्रीहरि की सत्ता व्याप्त दीखती है, उसे सर्वत्र अपने इष्ट दीखते हैं। उसे जितने इष्ट–हरि के स्वरूप हैं, उनमें अपने इष्ट ही दीखते हैं, जितने धर्म हैं, उनमें अपने ही धर्म का प्रकाश दीखता है, अपना ही धर्म दीखता हैं, जितने आचार्य–गुरु हैं, उनमें अपने ही आचार्य–गुरु का ही प्रकाश दीखता है, आचार्य–गुरु ही दीखते हैं और जितने धाम–भगवद्धाम दीखते हैं, उनमें श्रीवृन्दावन धाम का ही प्रकाश दीखता है, अपना ही धाम दीखता है। क्योंकि जगत् में कारण ही कार्यरूप में प्रकट होता है। जगत् में कारणरूप रति-काम–श्यामा-श्याम सर्वत्र परिपूर्ण हैं। रति-काम तो उनके करोड़ों अंशों के भी अंश हैं।

इस प्रकार तत्त्वविचार कर जिसने समता धारण कर ली, उसकी दृष्टि में सर्वत्र अपने इष्ट का ही पसारा–फैलाव, विस्तार दिखने से अब

किसकी निन्दा और स्तुति–प्रशंसा करे? सुपरि–स्व-पर–अपने-पराये की दृष्टि मिटते ही वह विषमता बुद्धि को त्याग देता है। विषम–बुद्धि के मिटते ही उसकी दृष्टि में न कोई शत्रु रहता है न कोई मित्र और न कोई ऊँचा रहता है न कोई नीचा। श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं कि जहाँ ऐसा निर्मल, स्वच्छ हृदय होता है, उसीमें प्रेममाधुर्यरससिन्धु श्रीश्यामा-श्याम सदा–निरन्तर विराजते हैं।

मूल- अपनौ पति छाँड़ि औरनि सौं रति ज्यौं दारनि में दारी॥

अर्थ–अपनौ पति–श्रीहरि, उनको छोड़कर और देवान्तर (देवता, पितर आदि) सों रति–माने प्रीति करने में निन्दा है। जैसे असत् स्त्री पतिव्रतधर्म को न पालनकर–अपने पति को छोड़कर परपुरुष से रति–नाम प्रेम करती है, तो वह स्त्री दारनि–नाम स्त्रियों में (स्त्रियों के बीच) दारी--नाम व्यभिचारिणी, कुलटा, वेश्या कहलाती है। ऐसे ही उस पुरुष की निन्दा को जानना चाहिये, जो फल की कामना से श्रीहरि सों विमुख होकर अन्य देवान्तर में आसक्त है।

भावार्थ–भाव यह है कि अपने आराध्य–इष्टस्वरूप को छोड़कर दूसरे देवताओं से प्रीति करना व्यभिचार दोष है, यद्यपि किसीकी निन्दा नहीं करनी चाहिये, परन्तु उपासना में, इष्ट–प्राप्ति के लिये अनन्य होना अनिवार्य है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं-

श्रीबिहारीदास पतिव्रत खसै, वह सबहिन की जोइ।
सबके पाँइनि सिर घिसै, अपनी कहै न कोइ॥१७८॥

श्रीगुरुदेव जी कहते हैं कि यदि स्त्री सभी का संग–सेवन करने लगती है, तो सबकी जोय–स्त्री हो जाती है, तो पतिव्रतधर्म नष्ट हो जाता है। फिर वह चाहे सबके चरणों में बहुत सिर घिसती रहे, रोती-गिड़गिड़ाती, सेवा करती रहे, किन्तु कोई भी उसे अपनी

नहीं कहता। इसी प्रकार अपने इष्ट के अतिरिक्त अन्य सबका—देवी, देवता और इष्ट आदि का सेवन करने से अनन्य धर्म नष्ट हो जाता है और कोई अपना नहीं कहता।

अनन्य पतिव्रत कुल वधू, सेवत धर्म विचार।
श्रीबिहारीदास ताकौ सुजस, सुनि सुनि जरत छिनार॥१७९॥

अनन्य पतिव्रता कुलवधु तो पतिव्रत धर्म का विचार कर—बड़ी सावधानी से सोच-विचारकर अपने पतिव्रत धर्म का सेवन करती है, परिवार में सबका सम्मान करते हुए अपने पति का अनन्य-भाव से सावधानीपूर्वक सेवन करती है। श्रीगुरुदेव जी महाराज कहते हैं कि उसके पतिव्रतधर्म का सुयश—उत्तम कीर्ति सुन-सुनकर जो छिनार—कुलटा, व्यभिचारिणी स्त्री है, वह ईर्ष्या से जल-भुनकर खाक हो जाती है। इसी प्रकार जो अनन्यजन हैं, वे सब इष्टों—भगवानों में अपने ही इष्ट का प्रकाश देखकर सबका सम्मान करते हुए, किसीकी निन्दा-अवहेलना न करते हुए अपने ही इष्ट-धर्म का अनन्यभाव से सेवन करते हैं। किन्तु जो मिश्रित उपासना करनेवाले ससल्य—व्यभिचारीजन हैं, वे उनके अनन्यधर्म के सुयश को सुन-सुनकर जल-भुन जाते हैं।

पतिव्रता के तन में, बसत प्यारौ पीउ।
पति उपमा चितवै नहीं, जो मिलैं घनेरे जीउ॥१८०॥

पतिव्रता स्त्री के तन में—सर्वात्मा में उसका प्राणप्यारा पिय—प्रियतम बसा रहता है। वह अपने प्रियतम के प्रेम में उन्मत्त रहती है। यदि बहुत से जीव—सुन्दर पुरुष मिलें, तब भी वह पति की तुलना के समान भी देखती नहीं है। अर्थात् उसे अपने पति के अतिरिक्त अन्य कोई दृष्टि में आता ही नहीं है। ऐसे ही अनन्यजन की दृष्टि में अपने इष्ट के अतिरिक्त और कोई दिखाई देता ही नहीं है। वे तन, मन, सर्वात्मा से अपने इष्ट के स्वरूप में, प्रेम में निमग्न रहते हैं। उनके तन, मन, सर्वात्मा में उनके इष्ट छाये—बसे रहते हैं।

सुन्दर नारि सुलछिनी, पर घर परसी जाइ।
पतिव्रता की सभा में, बैठी नारि नवाइ॥१८१॥

यदि स्त्री सुन्दर–सौन्दर्यवान् और सुन्दर गुण-लक्षण से युक्त है, किन्तु उसमें एक बड़ा ऐब–दोष है, वह यह कि पराये घर का सेवन करती है, पराये घर में उपभोग की जाती है। यदि वह पतिव्रताओं की सभा–समाज में जाये, तो नारि–गर्दन झुकाकर–लज्जित होकर ही बैठेगी, वहाँ वह लज्जित होकर ही बैठती है। इसी प्रकार जो इष्ट और धर्म का अनन्य–सच्चा होकर सेवन नहीं करता, उसे अनन्यजनों की सभा में सिर झुकाकर–लज्जित होकर ही बैठना पड़ता है। उसका व्यभिचारदोष उसे लज्जित, दबा हुआ बना देता है।

लोक वेद वरनाश्रम, मरजादा बाँधी लोइ।
निहुरी निहुरी सी फिरै, जो जगत कनौड़ी होइ॥१८२॥

जगत् में लोक और वेद ने लोगों के लिये चारों वर्ण और चारों आश्रम की मर्यादा बाँध रखी है। जो मर्यादा का उल्लंघन करके मनमाना व्यवहार करती है, वह जगत्–संसार में संकोच-लज्जा से युक्त झुकी–दबी हुई, बेईज्जत के समान फिरती है। ऐसे ही अनन्य-भक्तिधर्म के नियमों का उल्लंघन करने से उस जन का संकोच–लज्जा से पूर्ण दबा हुआ भक्ति–भावरहित दुःखमय जीवन होता है।

शास्त्रों में कहा है-

विष्णुभक्तिविहीनां श्रौतस्मार्ताश्च याः क्रियाः।
कायक्लेशफलं तासां स्वैरिणीव्यभिचारवत्॥

श्रीहरि की भक्तिरहित वैदिक और स्मार्त की जो क्रिया हैं, उनका फल केवल शरीर का क्लेश–दुःख ही है, जैसे व्यभिचारणी स्त्री को अपने व्यभिचारदोष से क्लेश ही उठाना पड़ता है।

सुद्ध भक्ति सेवै नहीं, सेवै कर्म कुम्हार।
तातो भात जड़नि तज्यौ, सिर धरि चल्यौ पयार॥१८९॥

जैसे कुम्हार सदा मिट्टी के बर्तन बनाने के लिये मिट्टी में ही सना रहता है, इसी प्रकार जो कर्मासक्त हैं, वे अल्प सुख के लिये सदा कर्मों के सेवन करने में ही लगे रहते हैं और कोई जड़–मूर्ख बना हुआ सिद्ध–ताजा, गरम-गरम भात–सिद्ध चावल को छोड़कर भात बनाने के लिये पयार–चावल के पौधों के डंठलों के बोझ को सिर पर धरकर ले जाय कि इससे कूटकर धान–चावल को निकालूँगा। ऐसे ही सहज सिद्ध–स्वाभाविक नित्य पूर्ण–प्रेम रस सुख से परिपूर्ण प्राप्त श्रीहरि की शुद्ध भक्ति को छोड़कर वे जड़–मूर्ख सुख की प्राप्ति के लिये कर्मों का सेवन करते हैं।

भगवत धर्म न संग्रह्यौ, सँचै धर्म अनेक।
पतित पवित्र न होहिंगे, बिनु अनन्य निजु टेक॥१९०॥

श्रीगुरुदेव जी महाराज कहते हैं–शुद्ध परम आनन्दमय सहज प्राप्त भगवत्–श्रीहरि के धर्म–उज्ज्वल अनन्य प्रेम-भक्तिधर्म का तो संग्रह नहीं किया और व्रत, उपवास, यज्ञ, देव-सेवन आदि अनेक धर्मों का संग्रह किया, वे भगवत्-विमुख पतित हैं। अनन्य भक्ति-भाव को अपने सच्चे संकल्पपूर्वक ग्रहण किये बिना वे पतित कभी पवित्र नहीं होवेंगे, सदा दुःख-शोक से लिप्त ही रहेंगे।

विभचारिनि कौ संग तजि, भजि अनन्य निहकाम।
श्रीबिहारीदास सुख में सुखी, दम्पति रति धन धाम॥१८७॥

इसलिये ऐसे व्यभिचारीजनों का संग सर्वथा छोड़कर निष्कामभाव और अनन्यभावपूर्वक अपने इष्ट–श्रीहरि का सदा भजन करो–सेवन करो तथा श्रीबिहारीदास–श्रीकुंजविहारी, कुंजविहारिणि और दास श्रीललितास्वरूप–श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के सुख में सुखी रहो, उनका सुख ही तुम्हारा सुख–जीवन

है, ऐसे उनके सुख में सुखी रहो। दम्पति–श्रीकुंजविहारी–कुंजविहारिणि की रति–प्रेम रस विलास–विहार ही तुम्हारा धन है और वही धाम–परम पद है, ऐसे भाव से पूर्ण सदा सेवन करते रहो।

श्रम थोरौ सुख आगरौ, पैयत पूरन काम।
श्रीबिहारीदास विस्वास तें, जे भजिहैं निहकाम॥१८८॥

और साधन-धर्मों के सेवन करने के श्रम की अपेक्षा इसमें श्रम–कष्ट बहुत थोड़ा है, किन्तु सुख–आनन्द की प्राप्ति बहुत अधिक है, श्रेष्ठ है और पूर्णकाम–पूर्णसुख की प्राप्ति होती है। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि जो इन्हें–श्रीयुगलकिशोर को निज–अपना मानकर दृढ़ विश्वासपूर्वक और निष्कामभाव से भजेंगे–भजन, सेवन करेंगे, उन्हें ही इस परम–उज्ज्वल रससुख की प्राप्ति होगी।

नरहरि माला जनेऊ ना बनें, केरि बेरि कौ साथ।
जनेऊ कर्म जु कीजिये, माला जपै जु हाथ॥२॥

श्रीस्वामी नरहरिदेव जी महाराज कहते हैं कि जैसे केला के पेड़ का और बेर के पेड़ का एक साथ रहना सुखपूर्वक नहीं बन सकता है। बेर के पेड़ के काँटे केला के अंग–पत्तों आदि को छिन्न–भिन्न कर देते हैं। इसी प्रकार जनेऊ धारण करनेवाले कर्मासक्त जन अल्प और नष्ट होनेवाले पुण्यों के लिये कर्म करते हैं और प्रभु के भक्तजन निष्कामभाव से मालाधारण करके करुणामय निजप्राणप्रियतम प्रभु की प्राप्ति-सेवा के लिये हाथ में माला लेकर जप भजन करते हैं। इसलिये भक्त और कर्मियों का संग नहीं बन सकता।

जप तप तीरथ नेम व्रत, जोग जग्य आचार।
भगवत भक्ति अनन्य बिन, जीव भ्रमत संसार॥१७॥

श्री भगवतरसिकदेव जी कहते हैं कि जप–देव आदि के मन्त्रों का जप, तप–अनेक शारीरिक कष्ट सहना, तीर्थसेवन, नियम–अनेक

प्रकार के नियम-साधन करना, व्रत—अनेक प्रकार के उपवास करना, योग, विविध यज्ञ और अनेक प्रकार के आचार-विचार क्रिया आदि करना, इन सबके करने पर भी भगवान् की—श्रीहरि की अनन्य भक्ति के बिना जीव संसारसागर में भ्रमता ही रहता है। श्रीहरि की अनन्य भक्ति ही जीव को भवसागर से पारकर प्रभु के श्रीचरणों में पहुँचाती है।

मूल-स्याम कहत ते जीव मोतें विमुख भये जिन दूसरी करि डारी॥

अर्थ—श्याम—श्रीविहारी जी कहते हैं कि जिन जीवों ने मेरा सम्बन्ध—आश्रय छोड़कर—मेरा भजन छोड़कर फल की कामना से अन्य—दूसरे देवतादिक सों सम्बन्ध जोड़ लिया—उनका भजन किया, वे जीव मुझसे विमुख हो गये।

भावार्थ—श्याम—नाम कपिलदेव अपनी माता सों श्रीमद्भागवत में कहते हैं—

अथ यो गृहमेधीयान्धर्मानेवावसन्गृहे।
काममर्थं च धर्मान् स्वान् दोग्धि भूयः पिपर्ति तान्॥१॥
य चापि भगवद्धर्मात्काममूढः पराङ्मुखः।
यजते क्रतुभिर्देवान् पितॄंश्च श्रद्धयान्वितः॥

भा. ३-३२-२

माता जी! जो पुरुष गृह में रहकर सकामभाव से गृहस्थ के धर्मों का पालन करता है और उनके फलस्वरूप अर्थ एवं काम का उपभोग करके फिर उन्हींका अनुष्ठान करता रहता है, वह तरह-तरह की कामनाओं से मोहित रहने के कारण भगवद्धधर्मों से विमुख हो जाता है और यज्ञों द्वारा श्रद्धापूर्वक देवता तथा पितरों की आराधना करता रहता है।

सोपि भगवदाराधनरूपाद्धर्मात्पराङ्मुखः सन्
प्राकृतानपि देवान्पितॄंश्च यजते इत्यर्थः।

वह भी श्रीहरि–श्रीभगवान् की आराधना–भक्तिरूप धर्म से विमुख होकर प्राकृत देवता और पितरों का भजन-सेवन, आराधना करता है, इसी प्रकार का आशय–भाव है।

भाव यह है कि श्रीहरि ने अपने श्रीमुखारविन्द से स्पष्ट घोषणा करी है कि जिनने फलासक्ति से मेरे अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं, पितरों आदि का आश्रय ग्रहण किया, वे मुझसे विमुख होकर उन्हींको प्राप्त होते हैं।

भगवान् श्रीकपिलदेव कहते हैं–

तच्छ्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान्।
गत्वाचान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति।।

भा. ३-३२-३

उसकी बुद्धि उसी प्रकार की श्रद्धा से युक्त रहती है, देवता और पितर ही उसके उपास्य–इष्ट रहते हैं, अतः वह चन्द्रलोक में जाकर उनके साथ सोमपान करता है और फिर पुण्यक्षीण होने पर इसी लोक में लौट आता है।

भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।

गी. ९-२५

सकामभाव से देवताओं का पूजन करनेवाले शरीर छोड़ने पर देवताओं को प्राप्त होते हैं। पितरों का पूजन करनेवाले पितरों को प्राप्त होते हैं। भूत-प्रेतों का पूजन करनेवाले भूत-प्रेतों को प्राप्त होते हैं। परन्तु मेरा पूजन करनेवाले मुझे ही प्राप्त होते हैं।

मूल-कहिं श्रीहरिदास जज्ञ देवता पितरनि कौं श्रद्धा भारी।।१६।।

अर्थ–श्री–नाम प्रिया जी और हरि–नाम श्रीविहारी जी, उनके दास–रसिक-अनन्य मुकुटमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज

कहते हैं कि इनकी यज्ञ, प्राकृत देवता और पितरों में तो भारी—बहुत बड़ी श्रद्धा है, जो कि क्षणिक, आपात, रमणीय सुख को देनेवाले हैं और जो परात्पर, परम सुखस्वरूप पुरुषोत्तम श्रीहरि—श्रीविहारी जी हैं, उनसे विमुख हो रहे हैं। सो हे वैष्णवो! माला-कण्ठीधारण करनेवालेजनो! तुम गुरु-गोविन्द (गोविन्दस्वरूप गुरु) सों श्रीकृष्ण मन्त्रोपदेश ग्रहण कर चुके हो, सो तुम्हारा भूलना अनुचित है।

भावार्थ—भगवान् श्रीकपिलदेव जी अपनी माताजी से कहते हैं—

तच्छ्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान्।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति॥

भा. ३-३२-३

उसकी बुद्धि उसी प्रकार की श्रद्धा से युक्त रहती है, देवता और पितर ही उसके उपास्य (इष्ट) रहते हैं, अतः वह चन्द्रलोक में जाकर उनके साथ सोमपान करता है और फिर पुण्यक्षीण होने पर इसी लोक में लौट आता है।

यदा चाहीन्द्रशय्यायां शेतेऽनन्तासनो हरिः।
तदा लोका लयं यान्ति त एते गृहमेधिनाम्॥४॥

जिस समय प्रलयकाल में शेषशायी भगवान् शेषशय्या पर शयन करते हैं, उस समय सकाम गृहस्थाश्रमियों को प्राप्त होनेवाले ये सब लोक भी लीन हो जाते हैं।

ये स्वधर्मान्न दुह्यन्ति धीराः कामार्थहेतवे।
निःसङ्गा न्यस्तकर्माणः प्रशान्ताः शुद्धचेतसः॥५॥
निवृत्तिधर्मनिरता निर्ममा निरहङ्कृताः।
स्वधर्माख्येन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा॥६॥

जो विवेकी पुरुष अपने धर्मों का अर्थ और भोग-विलास के लिये उपयोग नहीं करते, बल्कि भगवान् की प्रसन्नता के लिये

ही उनका पालन करते हैं, वे अनासक्त, प्रशान्त, शुद्धचित्त, निवृत्तिधर्मपरायण, ममतारहित और अहङ्कारशून्य पुरुष स्वधर्मपालनरूप सत्त्वगुण के द्वारा सर्वथा शुद्ध चित्त हो जाते हैं।

सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम्।
परावरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम्।।७।।

वे अन्त में सूर्यमार्ग (अर्चिमार्ग या देवयानमार्ग) के द्वारा सर्वव्यापी पूर्णपुरुष श्रीहरि को ही प्राप्त होते हैं, जो कार्य-कारणरूप जगत् के नियन्ता, संसार के उपादान-कारण और उसकी उत्पत्ति, पालन एवं संहार करनेवाले हैं।

द्विपरार्द्धावसाने यः प्रलयो ब्रह्मणस्तु ते।
तावदध्यासते लोकं परस्य परचिन्तकाः।।८।।

जो लोग परमात्मदृष्टि से हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं, वे दो परार्द्ध में होनेवाले ब्रह्माजी के प्रलयपर्यन्त उनके सत्यलोक में ही रहते हैं।

ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं च तेऽपि धर्मविनिर्मितम्।
निषेव्य पुनरायान्ति गुणव्यतिकरे सति।।१५।।

इसी प्रकार पूर्वोक्त ऋषिगण भी अपने-अपने कर्मानुसार ब्रह्मलोक के ऐश्वर्य को भोगकर भगवदिच्छा से गुणों में क्षोभ होने पर पुनः इस लोक में आ जाते हैं।

ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः।
कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यापि च कृत्स्नशः।।१६।।

जिनका चित्त इस लोक में आसक्त है और कर्मों में श्रद्धा रखते हैं, वे वेद में कहे हुए काम्य और नित्य कर्मों का साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करने में ही लगे रहते हैं।

रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः।
पितॄन् यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः।।१७।।

उनकी बुद्धि रजोगुण की अधिकता के कारण कुण्ठित रहती है, हृदय में कामनाओं का जाल फैला हुआ है और इन्द्रियाँ उनके वश में नहीं होतीं, बस, अपने घरों में ही आसक्त होकर वे नित्यप्रति पितरों की पूजा में लगे रहते हैं।

त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः।
कथायां कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः॥१८॥

ये लोग अर्थ, धर्म और काम के ही परायण रहते हैं, इसलिये जिनके महान् पराक्रम अत्यन्त कीर्तनीय हैं, उन भवभयहारी श्रीमधुसूदन भगवान् की कथा-वार्ताओं से तो विमुख ही रहते हैं।

नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम्।
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः॥१९॥

हाय! विष्ठा-भोजी कूकर-सूकर आदि जीवों की विष्ठा चाहने के समान जो मनुष्य भगवत्कथामृत को छोड़कर निन्दित विषय-वार्ताओं को सुनते हैं, वे तो अवश्य ही विधाता के मारे हुए हैं, उनका बड़ा ही मन्द भाग्य है।

दक्षिणेन पथार्यम्णः पितृलोकं व्रजन्ति ते।
प्रजामनु प्रजायन्ते श्मशानान्तक्रियाकृतः॥२०॥

गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टितक सब संस्कारों को विधिपूर्वक करनेवाले ये सकामकर्मी सूर्य से दक्षिण ओर के पितृयान या धूममार्ग से पित्रीश्वर अर्यमा के लोक में जाते हैं और फिर अपनी ही सन्तति के वंश में उत्पन्न होते हैं।

ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकमिमं सति।
पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः॥२१॥

माता जी! पितृलोक के भोग भोग लेने पर जब उनके पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब देवतालोग उन्हें वहाँ के ऐश्वर्य से च्युत कर देते हैं और फिर उन्हें विवश होकर तुरन्त ही इस लोक में गिरना पड़ता है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

गीता. ७-२१

जो-जो भक्त जिस-जिस देवता का श्रद्धापूर्वक पूजन करना चाहता है, उस-उस देवता में ही मैं उसी श्रद्धा को दृढ़ कर देता हूँ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैवविहितान्हि तान्॥२२॥

उस मेरे द्वारा दृढ़ की हुई श्रद्धा से युक्त होकर वह मनुष्य उस देवता की सकाम भावपूर्वक उपासना करता है और उसकी वह कामना पूरी भी होती है, परन्तु वह कामना-पूर्ति मेरे द्वारा ही विहित की हुई होती है।

अन्तवन्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥२३॥

परन्तु उन तुच्छ बुद्धिवाले मनुष्यों को उन देवताओं की आराधना का फल अन्तवाला (नाशवान्) ही मिलता है। देवताओं का पूजन करनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं।

भगवान् श्रीकपिलदेव कहते हैं–

तस्मात्त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम्।
तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम्॥

भा. ३-३२-२२

इसलिये माता जी! जिनके चरणकमल सदा भजनेयोग्य हैं, उन भगवान् का तुम उन्हींके गुणों का आश्रय लेनेवाली भक्ति के द्वारा सब प्रकार से (मन, वाणी और शरीर से) भजन करो।

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम्।।२३।।

भगवान् वासुदेव के प्रति किया हुआ भक्तियोग तुरन्त ही संसार से वैराग्य और ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञान की प्राप्ति करा देता है।

रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी जी महाराज के चरणाश्रितजनों को सोचना चाहिये कि श्रीस्वामी जी महाराज की बड़ी कृपा से सर्वोपरि श्रीवृन्दाविपिन के नित्य विलास-विहार की उपासना के अत्यन्त अगम अवसर को पाकर यज्ञ, देवता और पितरों की सेवारूप कर्मकीच में अपने को फँसाना महान् अज्ञता है। उन्हें तो नित्य निरन्तर इसी परम माधुर्यमय-रसराज के सेवन का अभ्यास करना चाहिये। उसकी दुर्लभता के सम्बन्ध में गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं।

श्रीबिहारिनिदास बिहार कौं, लछमीपति ललचाइ।
ए देव पितर लीनैं फिरैं, ह्याँ रामकृष्ण न समाइ।।२३७।।

श्रीबिहारिणिदास-श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के विहार को-विहार की प्राप्ति के लिये लक्ष्मीपति-भगवान् नारायण भी ललचाते रहते हैं, फिर भी उनको उसकी प्राप्ति दुर्लभ है। ये अज्ञ, सकामी लोग देव, पितर आदि की उपासना के लिये फिरते हैं, इनकी कौन गिनती है? यहाँ तो श्रीराम, श्रीकृष्ण की उपासना की भी समाई नहीं है। उनके उपासकों की भी समाई नहीं है।

ऐसी दुर्लभ उपासना प्राप्त करके उसे सच्चे दृढ़ भाव से तन, मन, वचन और प्राणों से निष्ठापूर्वक सेवन (भजन) करना चाहिये।

-: इति षोडश (१६) पद का भावार्थ :-



अथ सप्तदश पद—अवतरण

श्रीहरि की अनन्य भक्ति के बिना जप, तप, योग आदि किसी भी साधन से आवागमनरूप संसारचक्र नहीं छूट सकता। इसलिये तन, मन, प्राण, सर्वात्मा से नित्य-निरन्तर श्रीहरि के भजन में तत्पर, तल्लीन रहना चाहिये।

मूल–जोलौं जीवै तौलौं हरि भजि रे मन और बात सब बादि।
द्यौस चारि के हलाभला में तू कहा लेयगौ लादि॥
माया मद गुन मद जोवन मद भूल्यौ नगर विवादि।
कहिं श्रीहरिदास लोभ चरपट भयौ काहे की लगै फिरादि॥१७॥

अर्थ—रे मन!—अरे मन! जबतक जीवन है—जीवित है, तबतक केवल श्रीहरि का भजन ही कर। और बात—भजन के अतिरिक्त और सब बातें बाद—नाम विवाद हैं, अर्थात् त्याज्य हैं, व्यर्थ हैं। अथवा जबतक जीवन है, तबतक ऐसा नियम कर कि पहले हरि का भजन करना, उसके बाद—नाम पीछे और कुछ बात करना, अन्य सब बातें करना।

चार दिन के हलाभला—कमजोर, क्षणिक जीवन अथवा हबड़-हबड़ में तू क्या लादकर ले जायगा? अर्थात् भगवद्भजनयोग्य अमूल्य समय को व्यर्थकर, क्लेश सहकर वस्तुएँ इकट्ठी करीं—कोई झूठ बोलकर कोई धोखा देकर, ऐसे हायतोबा सों जो सांसारिक वस्तुएँ संग्रह करीं, क्या उनको तू लादकर संग ले जायगा? अर्थात् वे सब यहीं धरी रह जायँगीं और तू चल बसेगा। जिससे सांसारिक वस्तुओं की लिप्सा—इच्छा मत कर।

धन, गुण और यौवन आदि के मिथ्या मद—अभिमान में पड़कर प्राणी—मनुष्य भगवान् को भूल गया और नगर—संसार के विवाद में भूल रहा है, फँस रहा है।

इस पंक्ति में पाठान्तर है—**धन मद जोवन राज मद भूल्यौ नगर विवादि।** धन, यौवन, राज्यादि विभूतियों के मिथ्या मद—अभिमान में पड़कर प्राणी—मनुष्य भगवान् को भूल गया और नगर—संसार के विवाद में भूल रहा हैं, फँस रहा है। अथवा विवाद—बहस, झगड़ा, प्रपंच के नगर में पड़ा हुआ भूल रहा है, फँस रहा है। अर्थात् पूर्वोक्त जो मद हैं, वे परमेश्वर से बहिर्मुख करानेवाले अनर्थों के—दोषों के मूल हैं। इसलिये उनका मद—अभिमान मन में न लाना चाहिये।

रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि भगवद्भजन भी करता है और फिराद—फरियाद—प्रार्थना, पुकार भी करता है, परन्तु लोभ है—नाम लोभासक्त है, तो उस लोभ ने चरपट—नाम नाश कर दिया, इससे फिराद क्यों लगे? अर्थात् प्रार्थना स्वीकार नहीं होती है।

अथवा श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि यदि लोभ—नाम लोभादि—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरादि ये चरपट—नाम नाश हो गये, तो फिराद क्यों लगे, किसलिये लगे? अर्थात् प्रार्थना करने की जरूरत ही नहीं पड़ती, फिर तो परमेश्वर स्वयं ही कृपा करते हैं। इसलिये लोभादिकों का सर्वथा परित्याग करना चाहिये।

अथवा श्रीस्वामी जी महाराज कहते हैं कि एक दिन तेरी ये लोभनीय सब वस्तुएँ नष्ट हो जायँगी, तब फिर तेरी कोई फिराद नहीं लगेगी। इसलिये लोभादि का सर्वथा—सब प्रकार से त्याग कर देना चाहिये।

मूल- जोलौं जीवै तौलौं हरि भजि रे मन और बात सब बादि।

अर्थ—अरे मन! जबतक जीवन है—जीवित है, तबतक केवल श्रीहरि का भजन ही कर। और बात—भजन के अतिरिक्त और सब बातें बाद—नाम विवाद—नाम त्याज्य हैं, व्यर्थ हैं। अथवा जबतक जीवन है, तबतक ऐसा नियम कर कि पहले हरि का भजन करना, उसके बाद—नाम पीछे और कुछ बात करना, अन्य सब बातें करना।

भावार्थ—श्रीहरि के—भजन का उपदेश श्रीमद्भागवत में लिखा है—

तस्मात्त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम्।
तदगुणाश्रयया भक्तया भजनीयपदाम्बुजम्॥

भा. ३-३२-२२

भगवान् श्रीकपिलदेव जी कहते हैं—इसलिये माता जी! जिनके चरणकमल सदा भजनीय हैं, उन भगवान् का तुम उन्हींके गुणों का आश्रय लेनेवाली भक्ति के द्वारा सब प्रकार से (मन, वाणी और शरीर से) भजन करो।

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम्॥२३॥

भगवान् वासुदेव के प्रति किया हुआ भक्तियोग तुरन्त ही संसार से वैराग्य और ब्रह्मसाक्षात्कारस्वरूप ज्ञान की प्राप्ति करा देता है।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं—

प्रीति न भली भजन बिन और।
कहा कहौं काहू सुख पायौ एक मन धरि द्वै ठौर॥
श्रीबिहारी बिहारिनि के चरन कमल तजि
अनत देत चित तेब महामति बौर।
श्रीबिहारीदास थोरे मन उबिठ्यौ कृपा करी सिरमौर॥१७३॥

श्रीहरि के भजन के बिना और प्रीति—माने शरीर और संसार से प्रीति भली—अच्छी, सुखकर नहीं है। क्योंकि श्रीहरि के बिना सभी मायामय और क्षणिक, नाशवान् हैं, इसलिये सभी दुःख-दोष से भरे हुए हैं। मैं क्या कहूँ, आजतक किसीने दो जगह मन को धरकर—लगाकर सुख पाया है? अर्थात् एक श्रीहरि ही नित्य, सत्य, परमतत्त्व, सुखरूप हैं और दूसरी त्रिगुणरूप में अनेक

स्वरूपवाली माया है। इसलिये प्रभु के अतिरिक्त और ठौर–अन्य जगह मन को लगाना दुःख-दोष से परिपूर्ण है।

इसलिये श्रीगुरुदेव जी कहते हैं कि प्रेम रस-सौदर्न्य सुख के निधि श्रीविहारी और विहारिणि-लाड़िली के चरणकमल को छोड़कर जो अनत–अन्य जगह चित्त लगाते हैं, वे महामूढ़ हैं, उनकी मति बौराई–भ्रमित है। श्रीगुरुदेव जी महाराज कहते हैं कि वे श्रीहरि इतने अद्भुत कृपा के सागर हैं कि मन थोड़ा संसार से ऊबा, मन ने थोड़ी अरुचि पैदा करी, संसार की ओर से मुख मोड़कर सब रूप, गुण, रस, सुख, माधुर्य शिरमौरस्वरूप श्रीविहारी जी की ओर थोड़ी दृष्टि करी कि उन्होंने कृपा की वर्षा करी।

इसलिये अनन्यभाव से प्रेमपूर्वक सदा-निरन्तर भजन ही करना चाहिये और प्रेमी-रसिक अनन्यजनों का स्वरूप भी ऐसा ही सुदृढ़, एकनिष्ठ होता है।

डोलैं अपनी गैल गहि छाँड़ि पराई दीन।
नागर रसिक अनन्य जग ज्यौं जमुना की मीन।।
ज्यौं जमुना की मीन लीन जमुना जल माहीं।
गंगा आदि नदीस और जल परसत नाहीं।।
भगवत नित्य बिहार वारता अनुभव खोलैं।
गौर स्याम छबि छके नैन कहुँ नेंक न डोलैं।।६।।

जैसे श्रीयमुना की मछलियाँ सदा यमुना के जल में ही लीन रहती हैं तथा गंगा आदि नदियों और समुद्र के जल को भी स्पर्श नहीं करती हैं। नदी और समुद्र आदि में यमुना की धार में ही रहती हैं। इसी प्रकार नागर–चतुर रसिक-अनन्यजन इस अनेक धर्म-मार्गों से युक्त संसार में रहकर भी अपने अनन्यधर्म के मार्ग को सुदृढ़ ग्रहण कर ही डोलते–विचरण करते हैं और अन्य–पराये दीन–धर्म, पंथ को छोड़

देते हैं। अथवा पराई दीनता—अधीनता को त्यागकर अपने इष्ट को ही सदा लड़ाते हैं—प्रेमपूर्वक सेवन करते हैं। श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं कि इसी दृढ़ निष्ठा के कारण महामधुर रस नित्य विहार रस का प्रकाश उनके हृदय में सदा छाया रहता है। उसकी मधुर रसमयी चर्चा से उसके चिन्मय मधुर रस का अनुभव परस्पर कहते-सुनते हुए गूढ़ रहस्य को खोलते हैं—वर्णन करते हैं। उनके नयन-मन-प्राण महामधुर रसविलासी गौर-श्याम—श्रीविहारी विहारिणि की मधुर छवि को पान करते हुए उसी रस में छके रहते हैं। उनके नयन-मन-प्राण उस रस-छवि से नेक भी—तनिक भी इधर-उधर डोलते नहीं हैं।

इसलिये उपासकजनों को अपने इष्ट का सदा-निरन्तर अनन्य भाव से भजन करना चाहिये।

भाव यह है कि मानव-जीवन केवल श्रीहरि के भजन करने के लिये ही मिला है। इसलिये जीवनपर्यन्त श्रीहरि का भजन ही करना चाहिये। इसीमें इस जीवन की सार्थकता है। इसके अतिरिक्त और सब व्यर्थ हैं। मन, वाणी, शरीर से जितनी भी चेष्टाएँ हों, वे सब-की-सब श्रीहरि का स्मरण करते हुए भगवदर्थ—उनके लिये ही हों, यही भजन का सार है।

प्रेमरूपा भक्ति के साधन में मुनिवर्य श्रीनारद जी ने भक्तिसूत्र में निरन्तर भजन का ही उपदेश किया है।

अव्यावृत भजनात्।

अखण्ड भजन से ही भक्ति का साधन सम्पन्न होता है—पूर्णता को प्राप्त होता है।

भगवान् श्रीहरि उद्धव जी से कहते हैं—

एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते।।

भा. ११-२५-३२

जीव को जितनी भी योनियाँ अथवा गतियाँ प्राप्त होती हैं, वे सब उनके गुण और कर्मों के अनुसार ही होती हैं। हे सौम्य! सब-के-सब गुण चित्त से ही सम्बन्ध रखते हैं, चित्त से ही उत्पन्न होते हैं, (इसलिये जीव उन्हें अनायास ही जीत सकता है), जो जीव उन पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह भक्तियोग के द्वारा मुझमें ही परिनिष्ठित हो जाता है और अन्ततः मेरा वास्तविक स्वरूप, जिसे मोक्ष भी कहते हैं, प्राप्त कर लेता है।

तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम्।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः॥३३॥

यह मनुष्यशरीर बहुत ही दुर्लभ है। इसी शरीर में तत्त्वज्ञान और उसमें निष्ठारूप विज्ञान की प्राप्ति सम्भव है, इसलिये इसे पाकर बुद्धिमान् पुरुषों को गुणों की आसक्ति हटाकर मेरा भजन करना चाहिये।

निःसङ्गेण मां भजेद् विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः।
रजस्तमश्चाभिजयेत् सत्त्वसंसेवया मुनिः॥३४॥

विचारशील पुरुष को चाहिये कि बड़ी सावधानी से सत्त्वगुण के सेवन से रजोगुण और तमोगुण को जीत ले, इन्द्रियों को वश में कर ले और मेरे स्वरूप को समझकर मेरे भजन में लग जाय। आसक्ति को लेशमात्र भी न रहने दे।

सत्त्वं चाभिजयेद् युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः।
सम्पद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम्॥३५॥

योगयुक्ति से चित्तवृत्तियों को शान्त करके निरपेक्षता के द्वारा सत्त्वगुण पर भी विजय प्राप्त कर ले। इस प्रकार गुणों से मुक्त होकर जीव अपने जीवभाव को छोड़ देता है और मुझसे एक हो जाता है।

जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः।
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत्।।३६।।

जीव लिङ्गशरीररूप अपनी उपाधि जीवत्व से तथा अन्तःकरण में उदय होनेवाली सत्त्वादि गुणों की वृत्तियों से मुक्त होकर मुझ ब्रह्म की अनुभूति से एकत्व दर्शन से पूर्ण हो जाता है और वह फिर बाह्य और आन्तरिक किसीभी विषय में नहीं जाता।

इसलिये सब ओर से आसक्ति हटाकर केवल श्रीहरि का भजन ही करना चाहिये। श्रीहरि के भजन बिना एक श्वास भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी कहते हैं–

फोकट पचै न कछु रे। मेरे कुंजरवन बिन जो कछु रे।।
थोथौ फटके उड़ि उड़ि जाय। तामें कहा काढ़ि कन खाय।।

इस असत्, भ्रमरूप संसार में कुछ भी सुख नहीं है, केवल मिथ्या, भ्रममय सुख की प्रतीति होती है। अरे प्राणी! तू व्यर्थ ही भ्रम करके परेशान, श्रमित हो रहा है। इसमें कुछ भी नहीं है। मेरे कुंजरवन–श्रीकुंजविहारी के बिना जो कुछ भी है, वह सारहीन, सुखहीन है। जैसे अनाज के बिना थोथी भूसी को सूप से बार-बार फटकने से वह भूसी उड़-उड़ जाती है, कुछ भी सूप में रहती नहीं। फिर उसमें क्या कण–सार–अनाज निकालकर खायेगा? क्योंकि उसमें कण तो है नहीं। ऐसे ही कुंजविलासी श्रीहरि के बिना संसार में कुछ भी नहीं है। वे ही सार–सुखरूप हैं।

पाई खोवत दुर्लभ देह। धन दारा के नस्वर नेह।।
पिछली भूलै स्याम रति मानि। फिर फिर बँधत नई पहिचानि।।

देव-दुर्लभ यह मनुष्य शरीर मिला है। उसे असत्, भ्रमरूप धन, स्त्री, परिवार आदि के नश्वर क्षणिक, नाशवान् प्रेम में खो रहा

है। पिछली जो दु:ख, सुख आदि की बातें और घटना हुई हैं, उनको भूल जा और नित्य आत्मबन्धु, परमस्नेही श्रीश्यामसुन्दर सो रति–प्रेम मान–प्रेम कर। किन्तु तू तो इतना मोहासक्त, मूढ़, अभागा है कि फिर–फिर-बार-बार वस्तु-व्यक्ति की नई–नई पहचान करके बँधता रहता है।

मानुष बिगरि भयौ पसु प्राय। उगलि उगलि खाते न घिनाय।।
कोठी धोवत निकसै कीच। विषै सेय सुख चाहत नीच।।

प्रभु ने यह ज्ञान, बुद्धियुक्त शरीर मनुष्य को दिया है। किन्तु विषयों ने इसकी सब बुद्धि हरण कर ली। यह मूढ़ पशु के समान हो गया। पशु जैसे खायी हुई वस्तु को उगल-उगलकर जुगाली करता है, चबा–चबाकर खाता है। ऐसे ही यह विषयी मूढ़ प्राणी भी उन भोगे हुए विषयों को पुन:-पुन: भोगता है, फिर भी घृणा नहीं करता, ग्लानि नहीं होती। जैसे मिट्टी की बनी हुई अनाज की कोठी को जल से धोने से शुद्ध होने की अपेक्षा उसमें से कीच निकलने लगता है, वह कीच से भर जाती है। ऐसे ही नीच–मूढ़! विषयों को भोगने से कहीं सुख मिलता है? तू व्यर्थ ही सुख की आशा लगाये हुए है। विषय दु:खरूप हैं। उनके सेवन से दु:ख ही प्राप्त होता है।

यामें भर्म नाहिं कछु फेर। श्रीबिहारीदास ह्वै हरि तन हेर।।३।।

श्रीगुरुदेव जी कहते हैं कि इन ऊपर कही हुई बातों में कुछ भी सन्देह नहीं है। ये वेद, पुराण, शास्त्र और सन्तजनों के श्रीमुख से कही हुई सत्य सार बातें हैं। तू सन्देह मत कर और अपने मन को संसार से मोड़कर श्रीहरि में लगा। श्रीविहारी-विहारिणि का दास होकर, जन बनकर दृढ़ता से प्रेमपूर्वक भजन करते हुए श्रीहरि की ओर देख। वे तेरे से मिलने के लिये दीर्घसमय से आतुर होकर तेरे समाने ही खड़े हैं। उनकी ओर देखते ही तू निहाल हो जायगा।

श्रीगीता जी में कहा है-

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

गीता. ८-१४

हे पृथानन्दन! अर्जुन! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए योगी के लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुलभता से प्राप्त हो जाता हूँ।

इसलिये अखण्डरूप से नियमपूर्वक श्रीहरि का स्मरण, चिन्तन, भजन करते हुए ही भोजनादि आवश्यक कर्म करना चाहिये। श्वास के आवागमन के समान भजन का ताँता, भजन का तार एक क्षणभर भी नहीं टूटना चाहिये।

श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं-

जीभ जुगल नामहिं जपै, दृगन विलोकै रूप।
उदर भरै अलिवृत्ति सौं, छाँड़ि स्वान मृगधूप॥१६॥

जीभ से नित्य-निरन्तर श्रीयुगलकिशोर का मधुर नाम जपता रहे और नेत्रों से सरस-प्रेमभरी भावनाद्वारा उनके अनुपम रूप को देखता रहे तथा भूख लगे तो अलिवृत्ति से-भ्रमर-भौंरा जैसे प्रत्येक पुष्प की सुगन्धि को ग्रहण करता है, ऐसे ही घर-घर से भिक्षा लेकर उदरपूर्ति कर ले, यही उत्तम रहनी है और इसीमें जीवन की सार्थकता है।

मनुष्य-जन्म की कृतकृत्यता-सफलता श्रीहरि के साक्षात्कार में, सेवा-प्राप्ति में ही है। नित्य-निरन्तर भजन के द्वारा ऐसी कृपा प्राप्त कर लेना चाहिये।

जाकौं दरसन इत मिलै ताकौं दरसन उत्त।
जाकौं दरसन इत नहीं ताकौं मिलै न उत्त॥
ताकौं मिलै न उत्त फिरै भटकत सब ठौरनि।
मन कौ मैल न जाइ खात घर घर के कौरनि॥

भगवत रसिकनि संग मुकुर लौं माँजै ताकौं।
तब निज वदन दिखाय स्याम स्यामा कौ जाकौं॥२१॥

जिसको इत–यहाँ पर–जीवित–अवस्था में श्रीहरि का दर्शन मिल गया, उसीको उत्त–परलोक–दिव्य धाम में दर्शन प्राप्त होता है। जिसको यहाँ नहीं मिलता, उसको वहाँ भी नहीं मिलता। भले, वह सब ठौर–जगह–जगह भटकता रहे, अनेकों का संग करता रहे, चाहे घर-घर के कौल–ग्रास खाता रहे, अनेकों का उपदेश सुनता रहे, परन्तु मन का मैल--माया–मोह वासना मिटनेवाली नहीं। श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं कि सच्चे प्रेमी रसिकजनों के संग से दर्पण के समान इस मनरूप मुकुर–दर्पण को माँज ले, साफ–शुद्ध कर ले, तब फिर उसको सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेमनिधि श्रीश्यामा-श्याम का प्रेमरसमय सौन्दर्य–लावण्य से भरा हुआ निज वदन–श्रीमुख दिखायी देगा। अथवा ऐसे उज्ज्वल मनरूप दर्पण में अपने निज सहचरीस्वरूप सहित श्रीश्यामा-श्याम के मुखारविन्द का दर्शन होगा।

यह सब अनन्य भजनपूर्वक रसिकजनों के सत्संग से ही होगा। इसलिये श्रीस्वामी जी महाराज जीवनपर्यन्त भजन करते रहने को कह रहे हैं।

मूल- द्यौस चारि के हला भला में तू कहा लेयगौ लादि।

अर्थ–चार दिन के हलाभला–कमजोर, क्षणिक जीवन, अथवा हबड़-हबड़ में तू क्या लादकर ले जायगा? अर्थात् भगवद्भजनयोग्य अमूल्य समय को व्यर्थकर, क्लेश सहकर वस्तुएँ इकट्ठी करीं–कोई झूठ बोलकर, कोई धोखा देकर, ऐसे हायतोबा सों जो सांसारिक वस्तुएँ संग्रह करीं, क्या उनको तू लादकर संग ले जायगा? अर्थात् ये सब यहीं धरी रह जायँगी और तू चल बसेगा। जिससे सांसारिक वस्तुओं की लिप्सा–इच्छा मत कर।

भावार्थ—शास्त्रों में कहा भी है—

प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः।
हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः।।

भा. ११-७-२७

ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य आयु, यश अथवा सौन्दर्य-सम्पत्ति आदि की अभिलाषा लेकर धर्म, अर्थ, काम अथवा तत्त्व-जिज्ञासा में प्रवृत्त होते हैं, अकारण कहीं किसीकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती।

किन्तु भक्तों की समस्त चेष्टाएँ संसार के धर्मों से विपरीत श्रीहरि को प्रसन्न करने के लिये उनकी भक्ति से युक्त होती हैं।

स इत्थं भक्तियोगेन तपोयुक्तेन पार्थिवः।
स्वधर्मेण हरिं प्रीणन् सङ्गान् सर्वाञ्छनैर्जहौ।।

भा. ९-४-२६

राजा अम्बरीष इस प्रकार तपस्या से युक्त भक्तियोग और प्रजापालनरूप स्वधर्म के द्वारा भगवान् को प्रसन्न करने लगे और धीरे-धीरे उन्होंने सब प्रकार की आसक्तियों का त्याग कर दिया।

गृहेषु दारेषु सुतेषु बन्धुषु द्विपोत्तमस्यन्दनवाजिपत्तिषु।
अक्षय्यरत्नाभरणायुधादिष्वनन्तकोशेष्वकरोदसन्मतिम्।।२७।।

घर, स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, बड़े-बड़े हाथी, रथ, घोड़े एवं पैदलों की चतुरङ्गिणी सेना, अक्षय रत्न, आभूषण और आयुध आदि समस्त वस्तुओं तथा कभी समाप्त न होनेवाले कोशों के सम्बन्ध में उनका ऐसा दृढ़ निश्चय था कि वे सब-के-सब असत्य हैं।

अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम्।
अव्ययां च श्रियं लब्ध्वा विभवं चातुलं भुवि।।१५।।
मेनेऽतिदुर्लभं पुंसां सर्वं तत् स्वप्नसंस्तुतम्।
विद्वान् विभवनिर्वाणं तमो विशति यत् पुमान्।। भा. ९-४-१६

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित्! अम्बरीष बड़े भाग्यवान् थे। पृथ्वी के सातों द्वीप, अचल सम्पत्ति और अतुलनीय ऐश्वर्य उनको प्राप्त था। यद्यपि ये सब साधारण मनुष्यों के लिये अत्यन्त दुर्लभ वस्तुएँ हैं, फिर भी वे इन्हें स्वप्नतुल्य समझते थे। क्योंकि वे जानते थे कि जिस धन-वैभव के लोभ में पड़कर मनुष्य घोर नरक में जाता है, वह केवल चार दिन की चाँदनी है। उसका दीपक तो बुझा-बुझाया है।

वासुदेव भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु।
प्राप्तो भावं परं विश्वं येनेदं लोष्टवत् स्मृतम्॥१७॥

भगवान् श्रीकृष्ण में और उनके प्रेमी-साधुओं में उनका परम प्रेम था। उस प्रेम के प्राप्त हो जाने पर तो यह सारा विश्व और इसकी समस्त सम्पत्तियाँ मिट्टी के ढेले के समान जान पड़ती हैं।

यह संसार परिवर्तनशील है। यहाँ की कोई भी वस्तु नित्य, स्थिर नहीं रहती। जितने भोग है, वे सब क्षणिक हैं।

जातस्य नियतो मृत्युः पतनं च तथोन्नतेः।
विप्रयोगावसानस्तु संयोगः सञ्चयः क्षयः॥

ब्रह्मपुराण. २-१२-९०

जो जन्मा है, सो मरेगा ही, उन्नत का—ऊँचे उठे हुए का पतन निश्चय होगा ही, संचित का—संग्रह किये हुए का क्षय—नाश अवश्य है और संयोग का वियोग होगा ही।

जगत् के विषयी प्राणी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों को सच्चे मानकर उनकी प्राप्ति के लिये जो उपाय करते हैं, उसमें उनका उद्देश्य तो यह रहता है कि सुख की प्राप्ति हो, परन्तु दुःख ही मिलता है। क्योंकि जगत् के सब पदार्थ स्वरूप से ही नाशवान् हैं, दुःखरूप हैं। यह शरीर भी **हलाभला** अर्थात् शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है। इतने अल्प समय में तू क्या लादकर ले जायगा?

अर्थात् संसार के कौन-कौन से काम पूरे कर लेगा? इस संसार के कामों को कौन ने पूरा किया है? एक कामना की पूर्ति चार कामनाओं को और सामने ले आती है। श्रीहरि ने उद्धव जी को उपदेश किया है।

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम्॥

भा. ११-७-६

अब तुम अपने आत्मीय स्वजन और बन्धु-बान्धवों का स्नेह छोड़ दो और अनन्य प्रेम से मुझमें अपना मन लगाकर समदृष्टि से पृथ्वी में स्वच्छन्द विचरण करो।

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्॥७॥

इस जगत् में जो कुछ मन से सोचा जाता है, वाणी से कहा जाता है, नेत्रों से देखा जाता है और श्रवण आदि इन्द्रियों से अनुभव किया जाता है, वह सब नाशवान् है। सपने की तरह मन का विलास है। इसलिये मायामात्र है, मिथ्या है, ऐसा समझ लो।

पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः सगुणदोषभाक्।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा॥८॥

जिस पुरुष का मन अशान्त है, असंयत है, उसीको पागल की तरह अनेकों वस्तुएँ मालूम पड़ती हैं। वास्तव में यह चित्त का भ्रम ही है। नानात्व का भ्रम हो जाने पर ही 'यह गुण है' और 'यह दोष' इस प्रकार की कल्पना करनी पड़ती है। जिसकी बुद्धि में गुण और दोष का भेद बैठ गया है, दृढ़मूल हो गया है, उसीके लिये कर्म (विहित कर्म) अकर्म (विहित कर्म का लोप) और विकर्मरूप (निषिद्ध कर्म) भेद का प्रतिपादन हुआ है।

तस्मात् युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत्।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे॥९॥

इसलिये उद्धव! तुम पहले अपनी समस्त इन्द्रियों को अपने वश में कर लो, उनकी बागडोर अपने हाथ में ले लो और केवल उनको ही नहीं, चित्त की समस्त वृत्तियों को रोक लो और फिर ऐसा अनुभव करो कि यह सारा जगत् अपने आत्मा में ही फैला हुआ है और आत्मा मुझ सर्वात्मा इन्द्रियातीत ब्रह्म से एक है, अभिन्न है।

मूल- माया मद गुन मद जोवन मद भूल्यौ नगर विवादि।

अर्थ—धन, गुण और यौवन आदि के मद—अभिमान में पड़कर प्राणी—मनुष्य भगवान् को भूल गया और नगर—संसार के विवाद में भूल रहा है, फँस रहा है।

इस पंक्ति में पाठान्तर है—**धन मद जोवन मद राज मद भूल्यौ नगर विवादि।** धन, यौवन, राज्यादि विभूतियों के मिथ्या मद—अभिमान में पड़कर प्राणी—मनुष्य भगवान् को भूल गया और नगर—संसार के विवाद में भूल रहा है, फँस रहा है। अथवा विवाद—बहस, झगड़ा, प्रपंच के नगर में पड़ा हुआ भूल रहा है, फँस रहा है। अर्थात् पूर्वोक्त जो मद हैं, परमेश्वर सों बहिर्मुख करानेवाले अनर्थों के—दोषों के मूल हैं। इसलिये इनका मद—अभिमान मन में न लाना चाहिये।

भावार्थ—श्रीस्वामी सरसदेव जी महाराज कहते हैं—

काहू धन मद मान मद काहू जोवन मद
काहू राज मद होत झूठी बात कौ।
काहू गुन गान मद काहू जोग ध्यान मद
दान स्नान मद काहू रूप गात कौ।।
काहू जाति जीति मद काहू वेद रीति मद
कुटुम समीत मद द्यौस पाँच सात कौ।
सदा मन मोहन मोहनी जू के मद मात्यौ
सरस सुसार (सुखरासि) पायौ बाँकी कुंज घात कौ।।२५।।

किसीको धन–सम्पत्ति का मद है, वे धनमद में मदान्ध हो रहे हैं, किसीको मान–सम्मान, प्रतिष्ठा का मद है, किसीको यौवन का–जवानी का मद है और किसीको राज्य–वैभव का मद है, ये सब मद झूठी बात के समान हैं। अर्थात् ये सब नश्वर, क्षणभंगुर, असत्य और दुःख-दोष से भरे हुए हैं।

किसीको विविध गुणों का मद–अभिमान है, किसीको गान-कला का मद है, किसीको योग का, ध्यान का मद है, वह इस मद में चूर रहता है, किसीको दान-पुण्य और तीर्थ-स्नान का मद है तथा किसीको सुपुष्ट शरीर और रूप का–सौन्दर्य का मद है। किसीको उत्तम जाति एवं सब प्रकार जीतने का मद है, किसीको वेद-रीति के अनुसार चलने का मद है और किसीको उत्तम एवं बड़े परिवार का और एकता–मित्रता का मद है। ये सब मद क्षणिक, नष्ट होनेवाले पाँच-सात दिन के हैं। इसलिये इनमें न उलझना ही मंगलकारी है।

श्रीस्वामी सरसदेव जी महाराज कहते हैं कि सच्चा मद तो वह है, जो परम पवित्र हो और कभी न घटता हो, सदा एकरस रहता हो, बल्कि नित्यप्रति बढ़ता जाय। ऐसा मद तो एकमात्र श्रीवृन्दावनेश्वर नित्य, एकरस विलासी प्रियालाल-श्रीश्यामाश्याम का है। श्रीआचार्यचरण कहते हैं कि नित्य निकुंजविहारी श्रीमनमोहन और मोहिनी जी के उज्ज्वल प्रेमरस के मद में–नशे में–गर्व में जो मद्मत्त है, वही सदा–सच्चा रहनेवाला मद है। आपश्री कहते हैं कि यह मद तो सरस–रस से भरा हुआ है, सुख की राशि है, आनन्द का पुंज है। अथवा यह मद सब सारों का सार है। इसी मद से तो हमने श्रीवृन्दावन निभृत निकुंज की बाँकी–विचित्र, रहस्यमयी, गुप्त, गूढ़ घात–रहस्य रस के दाँव को, मर्म को प्राप्त कर लिया। ऐसा मद तो परम पावन, प्रशंसनीय और नित्य वान्छनीय है।

श्रीमद्भागवत में भी कहा है—

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभ स्वल्पोऽपि तान् हन्तिश्वित्रोरूपमिवेप्सितम्॥

भा.११-२३-१६

जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वाङ्गसुन्दर स्वरूप को बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वियों के शुद्ध यश और गुणियों के प्रशंसनीय गुणों पर पानी फेर देता है।

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥१७॥

धन कमाने में, कमा लेने पर उसको बढ़ाने, रखने एवं खर्च करने में तथा उसके नाश और उपभोग में जहाँ देखो वहीं निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रम का ही सामना करना पड़ता है।

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥१८॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥१९॥

चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेद बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जूआ और शराब ये पन्द्रह अनर्थ—दोष मनुष्यों में धन के कारण ही माने गये हैं। इसलिये कल्याणकामी पुरुष को चाहिये कि स्वार्थ एवं परमार्थ के विरोधी अर्थनामधारी अनर्थ को दूर से ही छोड़ दे।

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥२०॥

भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी जो स्नेह बन्धन से बँधकर बिलकुल एक हुए रहते हैं, वे सब-के-सब कौड़ी के कारण इतने फट जाते हैं कि तुरन्त एक-दूसरे के शत्रु बन जाते हैं।

अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्॥२१॥

ये लोग थोड़े-से धन के लिये भी क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाते हैं। बात-की-बात में सौहार्द-सम्बन्ध छोड़ देते हैं, लाग-डाँट रखने लगते हैं और एकाएक प्राण लेने-देने पर उतारू हो जाते हैं। यहाँतक कि एक-दूसरे का सर्वनाश कर डालते हैं।

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम्।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥२२॥

देवताओं के भी प्रार्थनीय मनुष्य-जन्म को और उसमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मण-शरीर प्राप्त करके जो उसका अनादर करते हैं, अपने सच्चे स्वार्थ-परमार्थ का नाश करते हैं, वे अशुभ गति को प्राप्त होते हैं।

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि॥२३॥

यह मनुष्यशरीर मोक्ष और स्वर्ग का द्वार है, इसको पाकर भी ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य है जो अनर्थों के धाम धन के चक्कर में फँसा रहे।

देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन् बन्धूंश्च भागिनः।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतन्त्यधः॥२४॥

जो मनुष्य देवता, ऋषि, पितर, प्राणी, जाति-भाई, कुटुम्बी और धन के दूसरे भागीदारों को उनका भाग देकर सन्तुष्ट नहीं रखता और न स्वयं ही उसका उपभोग करता है, वह यक्ष के समान धन की रखवाली करनेवाला कृपण तो अवश्य ही अधोगति को प्राप्त होता है।

व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम्।
कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किं नु साधये॥२५॥

मैं अपने कर्तव्य से च्युत हो गया हूँ। मैंने प्रमाद में अपनी आयु, धन और बल-पौरुष खो दिये। विवेकी लोग जिन साधनों से मोक्षतक प्राप्त कर लेते हैं, उन्हीं को मैंने धन इकट्ठा करने की व्यर्थ चेष्टा में खो दिया। अब बुढ़ापे में मैं कौन-सा साधन करूँगा।

कस्मात् संक्लिश्यते विद्वान् व्यर्थयार्थेहयासकृत्।
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः।।२६।।

मुझे मालूम नहीं होता कि बड़े-बड़े विद्वान् भी धन की व्यर्थ तृष्णा से निरन्तर क्यों दुःखी रहते हैं? हो-न-हो, अवश्य ही यह संसार किसीकी माया से अत्यन्त मोहित हो रहा है।

किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः।।२७।।

यह मनुष्य-शरीर काल के विकराल गाल में पड़ा हुआ है। इसको धन से, धन देनेवाले देवताओं और लोगों से, भोग-वासनाओं और उनको पूर्ण करनेवालों से तथा पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु में डालनेवाले सकाम कर्मों से लाभ ही क्या है?

अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वाऽऽयुर्भयवेपथुः।
मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीहं उपशाम्यति।।

भा.११-२०-१६

प्रिय उद्धव! ये दिन और रात क्षण-क्षण में शरीर की आयु को क्षीण कर रहे हैं। यह जानकर जो भय से काँप उठता है, वह व्यक्ति इसमें आसक्ति छोड़कर परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और फिर इसके जीवन-मरण से निरपेक्ष होकर अपने आत्मा में ही शान्त हो जाता है।

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा।।१७।।

यह मनुष्यशरीर समस्त शुभ फलों की प्राप्ति का मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार-सागर से पार जाने के लिये यह एक सुदृढ़ नौका है। शरण-ग्रहणमात्र से ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवार का सञ्चालन करने लगते हैं और स्मरणमात्र से ही मैं अनुकूल वायु के रूप में इसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होने पर भी जो इस शरीर के द्वारा संसार-सागर से पार नहीं जाता, वह तो अपने हाथों अपने आत्मा का हनन-अध:पतन कर रहा है।

कामान्कामयते काम्यैर्यदर्थमिह पूरुषः।
स वै देहस्तु पारक्यो भङ्गुरो यात्युपैति च॥

भा. ७-७-४३

श्रीप्रह्लाद जी असुर बालक-मित्रों से कहते हैं-

मनुष्य इस लोक में सकाम कर्मों के द्वारा जिस शरीर के लिये भोग प्राप्त करना चाहता है, वह शरीर ही पराया-स्यार-कुत्तों का भोजन और नाशवान् है। कभी वह मिल जाता है तो कभी बिछुड़ जाता है।

किमु व्यवहितापत्यदारागारधनादयः।
राज्यं कोशगजामात्यभृत्याप्ता ममतास्पदाः॥४४॥

जब शरीर की यह दशा है, तब इससे अलग रहनेवाले पुत्र, स्त्री, महल, धन, सम्पत्ति, राज्य, खजाने, हाथी-घोड़े, मन्त्री, नौकर चाकर, गुरुजन और दूसरे अपने कहलानेवालों की तो बात ही क्या है।

किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः।
अनर्थैरर्थसंकाशैर्नित्यानन्दमहोदधेः॥४५॥

ये तुच्छ विषय शरीर के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। ये जान तो पड़ते हैं पुरुषार्थ के समान, परन्तु हैं वास्तव में अनर्थरूप ही।

आत्मा स्वयं ही अनन्त आनन्द का महान् समुद्र है। उसके लिये इन वस्तुओं की क्या आवश्यकता है?

तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः।
भजतानीहयाऽऽत्मानमनीहं हरिमीश्वरम्।।४८।।

इसलिये निष्कामभाव से निष्क्रिय आत्मस्वरूप भगवान् श्रीहरि का भजन करना चाहिये। अर्थ, धर्म और काम सब उन्हींके आश्रित हैं, बिना उनकी इच्छा के नहीं मिल सकते।

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम्।।

भा. १-८-२६

ऊँचे कुल में जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और सम्पत्ति के कारण जिसका घमंड बढ़ रहा है, वह मनुष्य तो आपका नाम भी नहीं ले सकता, क्योंकि आप तो उन लोगों को दर्शन देते हैं, जो अकिंचन हैं, अहंता-ममताशून्य दीन हैं।

जीव जब अज्ञानवश अपने स्वरूप को भूलकर हृदय से सूक्ष्म, स्थूल आदि शरीर में अहं बुद्धि कर लेता है, जो कि सर्वथा भ्रम ही है, तभी उसको सम्पूर्ण अनर्थों की जड़ शरीरसम्बन्धी धन, वैभव आदि नाना प्रकार के मद आ घेरते हैं। उस समय उसका सत्त्वप्रधान मन घोर रजोगुण की ओर झुक जाता है, उससे व्याप्त हो जाता है। बस, जहाँ मन में रजोगुण की प्रधानता हुई कि वहाँ उसके नाना प्रकार संकल्प-विकल्प होने लगते हैं। अब वह विषयों का चिन्तन करने में ही लगा रहता है और अपनी दुर्बुद्धि के कारण काम के कठिन फन्दों में फँस जाता है, जिससे फिर छुटकारा होना अति कठिन है। वह अज्ञानी कामवश अनेकों प्रकार के कर्म करने लगता है और इन्द्रियों के वश होकर यह जानता हुआ भी कि इन कर्मों का अन्तिम फल दुःख ही है, तो भी उन्हींको करता है। उस समय उसका कोई वश नहीं चलता। क्योंकि वह रजोगुण के तीव्र

वेग से अत्यन्त मोहित रहता है और व्यर्थ के विवाद में फँसता रहता है। जैसे कि कहा भी है–

न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः।
श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्री द्यूतमासवः॥

भा. १०-१०-८

जो लोग अपने प्रिय विषयों का सेवन करते हैं, उनकी बुद्धि को सबसे बढ़कर नष्ट करनेवाला है श्रीमद्–धन-सम्पत्ति का नशा। हिंसा आदि रजोगुणी कर्म और कुलीनता आदि का अभिमान भी उससे बढ़कर बुद्धिभ्रंशक (नाशक) नहीं है, क्योंकि श्रीमद् के साथ-साथ तो स्त्री, जूआ और मदिरा भी रहती है।

श्रीगुरुदेव जी कहते हैं–

माया मद मोहे अभिमान।
थोरे ही सुख सहत दुसह दुख जो गुरु कह्यौ सु कियौ न कान॥

त्रिगुणमयी माया के मद में ये अभिमानी लोग मोहित हो रहे हैं, विवश हो रहे हैं। संसार का सुख क्षणिक, भ्रमरूप और अल्प है। वह भी भ्रमरूप प्रतीतिमात्र है। उसीके लिये दुःसह–जिसे सहन करना अति कठिन है, ऐसे भंयकर दुःखों को सहन करते हैं, भोगते हैं। रजोगुण के कारण उनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, उसीसे श्रीगुरु का कहा हुआ नहीं करते हैं, उनकी मर्यादा नहीं मानते हैं, उनकी बात कान से सुनते भी नहीं हैं।

श्रीभागवत चलत दै बायें अपनी उक्ति आचरत आन।
कुंजर सौच असौच सदा श्रम समझत नाहिंन अधम अग्यान॥

इनकी विमूढ़ता तो देखो कि ये श्रीभागवत की कथा को कहते हैं, ज्ञान की चर्चा का विस्तार करते हैं, किन्तु स्वयं श्रीभागवत को बायें देकर–पीठ करके अपनी उक्ति-युक्ति मिलाकर श्रीभागवत

के सिद्धान्तों के अलावा अन्य ही आचरण करते हैं। जैसे हाथी को बढ़िया तेल-साबुन लगाकर नदी में नहलाओ, परन्तु वह बाहर आया की सूँड़ में धूल भरकर अपने ऊपर डाल लेता है। उसको नहलाना व्यर्थ गया, श्रममात्र ही हुआ। इसी प्रकार ये अधम नीच, अज्ञानी समझते नहीं हैं। ये ज्ञान-चर्चा का विस्तार करके भी विपरीत कर्मों का आचरण कर नरक ले जाने की पूँजी ही इकट्ठी करते हैं। ज्ञान-चर्चा करना उनके लिये सदा श्रममात्र रह जाती है। वे सदा अशौच—अपवित्र ही रहते हैं।

संग किये समिलित लोगन सौं घटत प्रेम यह प्रगट प्रवान।
कहा कहौं साधक बपुरा की सिद्ध बिगूचे भरत समान।।

केवल इनके लिये ही यह बात नहीं है, जो जन प्रेम-भक्तिद्वारा अपने इष्ट की आराधना में लगे हुए हैं, उनको भी यह आवश्यक है कि सच्चे अनन्य प्रेमीजनों का ही संग करें। यदि समिलित—मिश्रित, व्यभिचारी, जो अपने इष्ट की अनन्यभाव से भक्ति नहीं करते हैं और कर्म, धर्म, अन्य देव आदि का सेवन करते हैं, तो ऐसे जनों के लिये यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि उन्होंने जो इष्ट के प्रेम की पूँजी प्राप्त की है, वह घट जाती है।

श्रीगुरुदेव जी कहते हैं कि भगवान् श्रीऋषभ के पुत्र श्रीभरत जी के समान सिद्ध भी इष्ट के अलावा अन्य संग करने से मारे गये, उनकी सोचनीय दशा हो गई। यह प्रकट बात है कि एक मृग के बच्चे में आसक्ति होने से भरत जी को मृग की योनि प्राप्त करनी पड़ी। उनके तीन जन्म हो गये। फिर जो साधक अपने इष्ट-प्रेम-प्राप्ति के साधन में लगा है, कमजोर है, पूर्ण नहीं हुआ, वह यदि अन्य संग करे, तो उसकी दशा क्या होगी, हम क्या कहें? अर्थात् उसका पतन तो निश्चित ही है। श्रीआचार्यचरण आगे

भगवत्-प्राप्ति करानेवाली उज्ज्वल रहनी को स्पष्ट समझाते हुए कहते हैं–

एकै मन एकै परमेस्वर एकै ताकि रहै दिन मान।
तौपै काज सरै काहे न श्री बिहारीदास यौं वरनि बखान॥२१॥

अनन्य भक्ति-भजन के मार्ग में ऐसी दृढ़ता होनी चाहिये कि मन भी एक ही हो, अर्थात् बिखरा हुआ नहीं हो, अपने इष्ट का ही चिन्तन-सेवन करनेवाला हो और परमेश्वर उपास्य-इष्ट भी एक ही हों, जिससे मन इधर-उधर न बँटे तथा दिन मान-सदा-निरन्तर, आदरसहित एक ही ताक रहे-उनकी प्राप्ति की, उनके सेवन की एक ही आशा, एक ही लक्ष्य रहे। यदि ये तीनों बातें सदा-सर्वदा आदरसहित एक ही रहीं, तो गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज स्पष्टरूप से वर्णन करते हुए कहते हैं कि तो फिर इष्ट-प्राप्ति, इष्ट-सेवा-प्राप्तिरूप कार्य क्यों नहीं सरेगा? अर्थात् अवश्य प्राप्त होगा, बनेगा।

इसलिये माया, गुण, जोवन आदि के मद और विवाद आदि को त्यागकर शीघ्र ही प्राण-प्रियतम श्रीहरि में तीव्रगति से लग जाना चाहिये। इसीमें परम कल्याण और परम सुख की प्राप्ति है।

अब आगे के चरण में और भी कड़ी चेतावनी देते हुए कहते हैं कि यदि समय होते हुए नहीं चेते तो फिर अन्त में कोई फिराद-प्रार्थना नहीं लगेगी, फिर तो पश्चाताप ही हाथ लगेगा।

मूल—कहिं श्रीहरिदास लोभ चरपट भयौ
काहे की लगै फिरादि॥१७॥

अर्थ—रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि भगवद्भजन भी करता है और फिराद-फरियाद-प्रार्थना, पुकार भी करता है, परन्तु लोभ है-नाम लोभासक्त है, तो उस लोभ

ने चरपट—नाम नाश कर दिया, इससे फिराद क्यों लगे? अर्थात् प्रार्थना स्वीकार नहीं होती।

अथवा श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि यदि लोभ—नाम लोभादि—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरादि ये चरपट—नाम नाश हो गये, तो फिराद क्यों लगे, किसलिये लगे? अर्थात् प्रार्थना करने की जरूरत ही नहीं पड़ती। फिर तो श्रीहरि स्वय् ही कृपा करते हैं। इसलिये लोभादिक का सर्वथा परित्याग करना चाहिये।

भावार्थ—श्रीगीता जी में श्रीहरि आज्ञा करते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

गीता. १६-२१

काम, क्रोध, लोभ ये तीन प्रकार के नरक के दरवाजे जीवात्मा का पतन करनेवाले हैं, इसलिये इन तीनों का त्याग कर देना चाहिये।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।२२।।

हे कुन्तीनन्दन! इन नरक के तीनों दरवाजों से रहित हुआ जो मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता है, वह उससे परम गति को प्राप्त हो जाता है।

तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम्।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः॥

भा. ११-२५-३३

यह मनुष्य शरीर बहुत ही दुर्लभ है। इस शरीर में तत्त्वज्ञान और उसमें निष्ठारूप विज्ञान की प्राप्ति सम्भव है; इसलिये इसे पाकर बुद्धिमान् पुरुषों को गुणों की आसक्ति हटाकर मेरा भजन करना चाहिए।

भाव यह है कि सांसारिक प्रलोभन में फँसा हुआ विषय-लोलुप जीव श्रीहरि चरणारविन्दों से विमुख होता हुआ अपने हाथों से अपने

पैरों में कुल्हाड़ी मार रहा है। अन्त में पश्चाताप के अतिरिक्ति और कुछ भी हाथ नहीं लगता।

अथवा एक दिन तेरी ये लोभनीय वस्तुएँ नष्ट हो जायँगी, फिर तेरी कोई फिराद नहीं लगेगी।

श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं–

चलनी में गैया दुहै दोष दई कौं दैहिं।
हरि गुरु कह्यौ न मानहीं कियौ आपनौ लैहिं॥
कियौ आपनौ लैहिं नहीं यह ईश्वर इच्छा।
देस काल प्रारब्ध देव कोऊ करहिं न रक्षा॥
मूरख मरकट मूठ कीर हठ तजै न नलनी।
कहि भगवत कह करै भाग भौंड़े कौ चलनी॥१७॥

जैसे कोई व्यक्ति चलनी में गाय को दुहता है–दूध निकालता है और दई–विधाता को दोष देता है कि विधाता ने हमारा भाग्य ही ऐसा बनाया कि हमारी कोई भी वस्तु टिकती नहीं है, दूध भी पात्र से बह जाता है। ऐसा कहना उसकी मूर्खता है। वह स्वयं छेद से भरे हुए पात्र में दूध निकाल रहा है। इसी प्रकार जो श्रीहरि–गुरु का कहा हुआ नहीं मानता, उनके कहे अनुसार प्रभु की शरण लेकर भक्ति नहीं करता और मनमाना करता है, अपनी इच्छा के अनुसार कर्मों के सेवन तथा विषयसेवन में लगा रहता है, उसे सुख–शान्ति कैसे मिल सकती है?

श्रीहरि–गुरु की आज्ञा के बिना जो जैसा करता है, वह वैसा अपनी करनी का फल प्राप्त करता है। ऐसा प्राप्त होने पर वह कहने लगे कि ईश्वर की ऐसी इच्छा ही थी, जो हमें यह विपरीत कष्टमयी अवस्था प्राप्त हुई, सो यह उसका भ्रम है। यह ईश्वर–इच्छा नहीं है। प्रभु तो परम करुणामय और वात्सल्य–स्नेह के सिन्धु हैं, वे ऐसा क्यों करेंगे? यह तो उसका अपना किया हुआ कर्मफल है।

देश—माने उत्तम देश-जगह, काल—उत्तम समय, प्रारब्ध—भाग्य और देव आदि कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकते। क्योंकि सभी ईश्वर की आज्ञा में बँधे हुए हैं। इसलिये श्रीहरि के श्रीचरणों से विमुख जीव को कहीं भी सुख-शान्ति नहीं मिल सकती।

जीव स्वयं अपने अज्ञानजन्य मोह-ममता-अहंकार से बँधा हुआ है, उसे किसीने नहीं बाँध रखा, यह उसका मिथ्या भ्रम है। जैसे बन्दर पकड़नेवाले सँकड़े (छोटे) मुँहवाले घड़े में गुड़ आदि वस्तु रख देते हैं, बन्दर उसमें से वस्तु को निकालने के लिये हाथ डालकर मुट्ठी बाँधता है। मुट्ठी बँधने से घड़े के सँकड़े मुख में से हाथ नहीं निकल पाता। बन्दर समझता है कि घड़े ने मुझे पकड़ लिया, वह किर्र-किर्र करते हुए चिल्लाता है और हाथ निकालने की कोशिश करता है, परन्तु निकाल नहीं पाता। इतने में पकड़नेवाले उसे पकड़ लेते हैं।

दूसरा दृष्टान्त—तोता पकड़नेवाले डाली पर रस्सी में बँधी हुई एक नलनी—पोले बाँस की नली को बीच में बाँध देते हैं और उस नली के छोर में मिर्ची बाँध देते हैं। तोता मिर्ची का प्रेमी है। वह मिर्ची खाने के लिये नलनी पर बैठता है और छोर पर जाने के लिये छोर को चोंच से पकड़कर आगे बढ़ने की कोशिश करता है कि नलनी लटक जाती है तथा उसके छोर को चोंच में पकड़े हुए वह लटका हुआ फड़फड़ाता है एवं उड़ने की कोशिश करता है, किन्तु कैसे उड़ सकता है? उसने तो स्वयं नलनी को चोंच से पकड़ रखा है। तोता समझता है कि मुझे नलनी ने पकड़ रखा है, यह उसका मिथ्या भ्रम है। पकड़नेवाले उसे पकड़ लेते हैं। बन्दर और तोता दोनों ही अपने भ्रम से हठपूर्वक बँधे हुए हैं। बन्दर अपनी मुट्ठी नहीं खोलता है और तोता अपनी चोंच को नहीं खोलता।

इसी प्रकार अज्ञानी जीव अपने अज्ञानजन्य भ्रम से ही श्रीहरि सों विमुख होकर स्वयं माया-मोह में बँधा हुआ है। उसे किसीने नहीं बाँध रखा। श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं कि इसमें भगवत्–श्रीविहारी जी क्या करें! उस भोंड़े–कुरूप, मूर्ख का भाग ही चलनी के समान है, जिसमें कुछ भी टिकता ही नहीं।

श्रीस्वामी नागरीदेव जी कहते हैं–

यह जोवन जल वरषि ज्यौं नदी उमड़ि करारे ढाहिं।
जल सूकै जोवन घटै त्यौं गये आव पछिताहिं।।
गये आव पछिताहिं काहि पूछे बिन स्यामहिं।
मिथ्या सब दिन खोय जोय दारा धन धामहिं।।
दुर्लभ तन तू सोधि मन भजि बड़ औसर जानि यहै।
नित्य कित चूकत तहाँ तू सुनि सठ नागरीदास कहै।।

जैसे वर्षा ऋतु में जल की तीव्र वर्षा से नदी उमड़कर किनारे के करारों को–ढाहों को ढाह–गिरा देती है और चारों ओर फैल जाती है, बहुत आतंक–भय उत्पन्न कर देती है, किन्तु वर्षा ऋतु के बीतते ही नदी सूख जाती है। इसी प्रकार यह यौवन–जवानी भी वर्षा की नदी के समान है। यौवन के घटते ही और आयु के क्षीण होते ही दुःख, चिन्ताएँ उमड़ पड़ती हैं। फिर तो पछताना ही हाथ रहता है। अब सच्चे साथी प्रियतम श्यामसुन्दर–श्रीविहारी जी के बिना और किससे पूछे? कौन सहायता करे? सभी तो असत्य, भ्रममय, स्वप्न के समान नश्वर हैं। इस प्रकार इन असत्य, क्षणिक वस्तुओं–स्त्री, धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र और घर-बार को देखने, सेवन करने में अपने अमूल्य सब दिन खो दिये।

श्रीस्वामी नागरीदेव जी कहते हैं कि यह मनुष्यशरीर बहुत दुर्लभ है। यह चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद प्रभु की

अकारण कृपा से मिला है। यह देव-दुर्लभ मनुष्यशरीर तुझे सुलभ हुआ है। इसे व्यर्थ मत गमा। अपने मन को जो इन्द्रियों के विषयवन में भटक रहा है, उसे शोध-उसे हटाकर शुद्ध करके अपने इष्ट का प्रेमपूर्वक भजन कर, सेवन कर। यह बड़ा सुन्दर अवसर मिला है। इससे एकक्षण भी व्यर्थ मत जाने दे। किन्तु तू शठ-कपटी-मूर्ख है। समझते-बूझते हुए भी क्यों नित्य चूकता है। इसलिये इस बात को समझकर, सावधान होकर अपने प्राणप्यारे श्रीहरि का प्रेमपूर्वक भजन कर।

ऐसे ही अशान्त मनवाले को सद्ग्रन्थों में आत्मघाती-आत्म हत्यारा कहा है।

एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः।
सीदन्त्यकृतकृत्वा वै कालध्वस्तमनोरथः।।

भा. ११-५-१७

अज्ञान को ही ज्ञान माननेवाले इन आत्मघातियों को कभी शान्ति नहीं मिलती। इनके कर्मों की परम्परा कभी शान्त नहीं होती। काल-भगवान् सदा-सर्वदा इनके मनोरथों पर पानी फेरते रहते हैं। इनके हृदय की जलन, विषाद कभी मिटते नहीं।

हित्वात्यायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः।।१८।।

राजन्! जो लोग अर्न्तयामी भगवान् श्रीकृष्ण से विमुख हैं, वे अत्यन्त परिश्रम करके गृह, पुत्र, मित्र और धन सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं, परन्तु उन्हें अन्त में सबकुछ छोड़ देना पड़ता है और न चाहने पर भी विवश होकर घोर नरक में जाना पड़ता है। भगवान् का भजन न करनेवाले विषयी पुरुषों की यही गति होती है। उस समय उनकी कोई फरियाद-पुकार, प्रार्थना नहीं लगती है।

और भी कहते हैं-

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादिद्रव्येषु मायारचितेषु मूढ़ः।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः॥

भा. ११-८-८

जो मूढ़ कामिनी-कञ्चन, गहने-कपड़े आदि नाशवान् मायिक पदार्थों में फँसा हुआ है और जिसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति उनके उपभोग के लिये ही लालायित है, वह अपनी विवेकबुद्धि खोकर पतिंगे के समान नष्ट हो जाता है।

ऐसे ही लोभग्रस्त जीवों को कालदेव एकाएकी दबोच लेते हैं। फिर उस समय उनकी एक भी नहीं चलती है।

प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः॥

भा. ४-२४-६६

भगवन्! यह मोहग्रस्त जीव प्रमादवश हर समय इसी चिन्ता में रहता है कि अमुक कार्य करना है। इसका लोभ बढ़ गया है और इसे विषयों की ही लालसा बनी रहती है। किन्तु आप सदा ही सजग रहते हैं, भूख से जीभ लपलपाता हुआ सर्प जैसे चूहे को चट कर जाता है, उसी प्रकार आप अपने कालस्वरूप से उसे सहसा लील जाते हैं।

श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं-

लोभ है सर्व पाप कौ मूल।
जैसे फल पीछे कौं लागै पहिले लागै फूल॥

सब पापों की जड़ लोभ है। जैसे पहले फूल लगता है, फिर पीछे फल लगता है। इसी प्रकार पहले लोभ के आते ही पापकर्म प्रारम्भ हो जाते हैं।

अपने सुत के काज कैकई दियौ राम वनवास।
भर्ता मर्यौ भरत दुख पायौ सह्यौ जगत उपहास॥

रानी कैकई ने लोभ करके अपने पुत्र भरत को राज दिया और भगवान् श्रीराम को वनवास दिया, तो परिणाम क्या हुआ—पति श्रीदशरथ महाराज मर गये, श्रीभरत जी बहुत दुःख पाये और रानी कैकई को संसार का उपहास—निन्दा सहन करनी पड़ी।

वासुदेव तजि अर्क उपासे सत्राजित मनि लीनी।
बन्धु सहित भयौ निधन आपनौ निन्दा सबही कीनी॥

धन के लोभ में सत्राजित यादव ने भगवान् श्रीकृष्ण के रहते हुए उन्हें छोड़कर सूर्यदेव की उपासना की और उनसे स्यमन्तक मणि प्राप्त कर ली। परिणाम क्या हुआ कि भाई प्रसेन के सहित वह मारा गया और सबने ही उसकी निन्दा की, पूरी द्वारिकापुरी में उसकी बदनामी हुई।

भगवत रसिक संग जो चाहै प्रथमै लोभै त्यागै।
देह गेह सुत सम्पति दारा तब हरि सौं अनुरागै॥५॥

श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं कि जो तुम श्रीविहारी जी के प्रेम की प्राप्ति चाहते हो, उनके प्रेम-रस भरे रसिकजनों का संग चाहते हो, क्योंकि रसिकजनों के संग बिना श्रीहरि की, उनके प्रेम की प्राप्ति अति दुर्लभ है, तो सबसे पहले रजोगुण से उत्पन्न लोभ का त्याग करो। शरीर, घर-बार, स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति आदि सब से लोभ को छोड़ो, किसीकी इच्छा न करो। ये सब असत्य, भ्रमस्वरूप मायिक और क्षणिक, नाशवान् तथा दुःख-दोष से परिपूर्ण हैं। इनकी आसक्ति ही श्रीहरि के सन्मुख होने नहीं देती। इसलिये सबसे पहले सर्व अनर्थरूप इन सबकी स्पृहा—लालसा का त्याग करो, तभी निर्मल हृदय से श्रीहरि से अनुराग कर सकते हो, तभी उनका अनुराग उत्पन्न होगा।

सर्व अनर्थ कौ करै जु त्याग। तब हरि सौं बाढ़ै अनुराग।

श्रीस्वामी रसिकदेव जी

सब अनर्थ–दोषों का त्याग करोगे, तभी श्रीहरि से अनुराग बढ़ेगा, तभी प्रेम-रस से पूर्ण सब सुख की प्राप्ति होगी।

इस प्रकार श्रीस्वामी जी महाराज मन लगाकर नित्य–निरन्तर भजन करने का आदेश दे रहे हैं। मन लगाकर भजन करने से ही प्रेम-रस की प्राप्ति होती है। क्योंकि–

देह के नाते जीव सब मानें। प्रान के नाते हरि उनमानें।।

–श्रीस्वामी रसिकदेव जी

सभी जीवमात्र शरीर के नाते को मानते हैं, शरीर से प्रेम करते हैं एवं श्रीहरि प्राण के नाते (मन के नाते) को मानते हैं, मन से प्रेम करते हैं।

तन की कछु गिलानि न करैं मानैं सब मन की।

–गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी

श्रीहरि तन की क्रियाओं की ओर ध्यान नहीं देते, वे मन के सब भावों को मानते हैं।

इसलिये निर्मल, सुदृढ़ भावपूर्वक मन लगाकर भजन करते हुए प्राणजीवन-सर्वस-श्रीहरि को रिझाना–प्रसन्न करना चाहिये। इस प्रकार भजन–सेवन करने से वे (श्रीहरि) भी अपना सर्वस्व दे देते हैं। यह बात पूर्णरूप से मन देने से ही होती है। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं–

इत मन उतहि सवाइ मन, ऊँचौ नीचौ होइ।
जो मन सौं मन तौलिये, तौ मन पूरौ होइ।।९६।।

इत–एक ओर पलड़े (पल्ले) में एक मन तौल है और उत–दूसरी ओर पलड़े (पल्ले) में सवाया मन है; तो ऊँचा-नीचा

होता ही है, तौल ठीक बैठता नहीं है। तौल तो तभी पूरा होता है, जब मन सौं मन—दोनों ओर के पलड़े में बराबर मन-मन रखकर तौलते हैं, तभी पूरा मन होता है। करुणामय, परम प्रेमसिन्धु श्रीहरि तो इससे (जीव से) पूर्ण प्रेम करते हैं, बल्कि उनका प्रेम तो दिन-दिन सवाया बढ़ता ही जाता है। वे इसके गुण—दोषों की ओर ध्यान न देकर इसके हित की—सुख की ही आतुरतापूर्वक सोचते रहते हैं। वे प्रेम के स्वरूप हैं, प्रेम के निधि हैं। किन्तु यह जीव अपने क्षुद्र इन्द्रिय-सुख के लोभवश अपना मन दे नहीं पाता है, फिर प्रेम की प्राप्ति कैसे हो? मन बराबर कैसे मिले?

मन दीनें मन पाइये, मनसा कौ भ्रम खोइ।
जो मनसा मन ही मिलै, तौ मुकुन्द मन होइ॥९७॥

तौल में भी दोनों ओर पलड़े में मन-मन देने—मनभर देने से मन प्राप्त होता है। मन देंगे तो मन मिलेगा ही। फिर मनसा—मन की वृत्तिविशेष का भ्रम खो जाता है, मिट जाता है कि मन मिलेगा या नहीं। तब तो अवश्य ही मिलेगा। इसी प्रकार जब भक्त अपने इष्ट—श्रीहरि को पूरा मन दे देता है—तन, मन, वचन, प्राण, सर्वात्मा से—पूरे मन से प्रेम करता है, तो वे परम करुणानिधि, परम पूर्ण प्रेमस्वरूप श्रीहरि भी भक्त को अपना पूर्ण मन दे देते हैं—तन, मन, वचन, प्राण, सर्वात्मा से—पूरे मन से प्रेम करते हैं।

ऐसे पूर्ण मन से प्रेम करने में दोनों ओर का भ्रम खो जाता है—नष्ट हो जाता है। श्रीहरि का भ्रम तो इसलिये नहीं रहता कि प्रभु पूर्ण मन चाहते हैं, पूरे मन से प्रेम को चाहते हैं, जब भक्त ने पूरा मन लगाकर प्रेम किया, तो श्रीहरि अत्यन्त प्रसन्न होते हैं कि यह मेरा सच्चा भक्त है, प्रेमी है, ऐसे मानकर उससे सच्चा प्रेम करने लगते हैं, अपने सुख-रस का अनुभव कराने लगते हैं। तथा श्रीहरि

के कृपा–प्रसाद का अनुभवकर भक्त निशंक, निर्भय होकर प्रेमोन्मत्त हो जाता है।

आगे श्रीगुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज गूढ़–रहस्य की बात बताते हैं कि माया–प्रपंच–भ्रम (संसार-भ्रम) मन की मनसा–वृत्ति का ही खेल है। मन की वृत्ति की कल्पना से–चिन्तन से ही न होते हुए भी माया–प्रपंच भ्रम भासने–दीखने लगता है। जहाँ मन की वृत्ति को रोककर मन में मिलाया कि वह मन ही मुकुन्द हो जाता है। क्योंकि मन मनमोहन श्रीहरि का निज दास है, नित्य प्रेमी है, उनका निज स्वरूप है। उसका विकृत स्वरूप, उसकी कुन्द-अवस्था (जड़–विकृत-अवस्था) तो मनोवृत्ति के अन्य–संसार-प्रपंच के चिन्तन से हुई। जब वह मनोवृत्ति अन्य–माया–प्रपंच का चिन्तन छोड़कर मन में मिल जाती है, तब मन अपने काल्पनिक, भ्रमरूप, कुन्द–मायारूप जड़स्वरूप से मुक्त होकर अपने अति उज्ज्वल स्वतःसिद्ध निज-आत्मस्वरूप, परम प्रेमरसमय सहचरीस्वरूप को प्राप्तकर श्रीयुगलवर-श्रीहरि की सेवा में तत्पर, तन्मय, तल्लीन हो जाता है।

अथवा **मुक्तिं ददातीति मुकुन्द**–मायिकस्वरूप–मायामोहासक्तिमय स्वरूप से मुक्तकर–छुड़ाकर अपने भगवत्सेवामय भगवद्दासत्व को प्राप्त करा दें, वह मुकुन्द। मन उनमें लगते ही अपने परम प्रेम रस सेवामय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, वह मुकुन्द हो जाता है, प्रेम रस सेवा स्वरूपमय बन जाता है।

अथवा–**मुखे कुन्दवत् हास्येति मुकुन्द**–जिनके श्रीमुख से कुन्दकली के समान उज्ज्वल दन्तपंक्ति से युक्त मधुर हास्य रससुधा वर्षित हो रही है, बिखर रही है, ऐसे मुकुन्द–लीलारूप श्रीविहारी जी। अन्य चिन्तन से मुक्त मनसा–वृत्ति मन में मिलते ही मन

परमशोभाधाम, रसमाधुर्य विलासी के श्रीमुखचन्द्र के हास्य–परिहास्य सुधारस में निमग्न हो जाता है, तन्मय,तल्लीन हो जाता है।

मन खोजत मुकुन्दा मिल्यौ, भक्ति मुक्ति कौ दानि।
श्रीबिहारीदास जैसौ चहै, तैसौ लै पहिचानि॥९८॥

आगे कहते हैं कि मन को खोजते ही भक्ति और मुक्ति को देनेवाले श्रीमुकुन्द–श्रीविहारी जी मिल गये। मन जहाँ-जहाँ–अन्य चिन्तन–माया–प्रपंच एवं विषयचिन्तन में जाये, वहाँ-वहाँ से उसे पकड़कर अपने निजस्वरूप–इष्टस्वरूप में लगाये, यही खोजना है। ऐसे खोजते ही मायिक–भ्रामिक, मिथ्या-स्वरूप से मुक्ति दिलाकर–छुटाकर अपने चिन्मय स्वरूप में स्थित करना, यह मुक्ति, इसको देनेवाले और अपनी सरस प्रेम माधुर्यमयी सेवा–सुखरूपा भक्ति, उसको देनेवाले परम रसमाधुर्यमय शोभा–लावण्यधाम श्रीविहारी जी, वे मुकुन्द मिल गये।

भगवान् श्रीकृष्ण गीताजी में कहते हैं–

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ गीता-६-२६

यह अस्थिर और चंचल मन जहाँ-जहाँ विचरण करता है, वहाँ-वहाँ से हटाकर इसको एक परमात्मा में ही भलीभाँति लगाये।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥२७॥

जिसके सब कल्मष (पाप) नष्ट हो गये हैं, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है तथा जिसका मन सर्वथा शान्त (निर्मल) हो गया है, ऐसे इस ब्रह्मरूप (भगवद्रूप) बने हुए योगी (भक्त) को निश्चित ही उत्तम (सात्त्विक, रसमय) सुख प्राप्त होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥२८॥

इस प्रकार अपने-आपको सदा परमात्मा में (इष्ट में) लगाता हुआ पापरहित योगी (प्रेमी) सुखपूर्वक ब्रह्मप्राप्तिरूप (इष्ट प्राप्तिरूप) अत्यन्त सुख का अनुभव कर लेता है।

अब आगे गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज साधक को सम्बोधन देते हुए कहते हैं कि हे श्रीबिहारीदास! अब तुम उन श्रीमुकुन्द (श्रीहरि) के जिस रूप को, जिस भाव से चाहते हो, उसी रूप से, भाव से पहचानकर–सब प्रकार जानकर ग्रहण कर लो, उनकी भावना-उपासना करो। जिस रूप को, जिस भाव से कहने में–रूप और भाव के भेद-प्रभेद दिखाये कि शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य, मधुर, स्वकीया, परकीया, कुंज, निकुंज, निभृत निकुंज आदि जिस रस-भाव भेद से उपासना करना चाहते हो, उसी रस-भाव से पहचानकर ग्रहण कर लो, उसी रस-भाव से भावना-उपासना करो।

श्रीबिहारीदास मन माहिं सुख, जग तौलै दस बीस।
वोछौ उनतालीस लौं, पूरौ मन चालीस॥९९॥

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि हे श्रीबिहारीदास! मन में ही सुख है–पूरे चालीस सेर के मन सौं तौलने में ही पूरे मन का सुख है। इसी प्रकार पूरा मन देने में ही चिन्मय, नित्यसुख की प्राप्ति है। किन्तु संसार पूरे मन से तौलता नहीं है, वह दस या बीस सेर से तौलता है। इसलिये पूरे मन का सुख कैसे प्राप्त हो?

आगे कहते हैं–दस-बीस की कौन बात, उनतालीस सेर से तौलने पर भी ओछा (घट, कम) ही रहता है। पूरा मन तो तभी होता है, जब पूरे चालीस सेर से तौले।

इसी प्रकार तन, मन, वचन, प्राण, सर्वात्मा से भावपूर्वक भजन-सेवन करने में ही पूर्ण, नित्य, चिन्मय, प्रेमसुख की प्राप्ति है। तनिक भी मन इधर-उधर गया कि प्राप्ति में अन्तर पड़ जाता है। इसलिये पूरे मन से, सच्चे मन से भावपूर्वक इष्ट की रुचि-सुख को लिये हुए भजन-सेवन करते हुए परम प्रेमरस सुख को प्राप्त करना चाहिये। इसी में जीवन की सफलता है।

इसीलिये श्रीस्वामी जी महाराज सदा-सर्वदा नित्य-निरन्तर निष्कामतापूर्वक आदर-प्रेमभावसहित मन लगाकर भजन करने का आदेश-उपदेश दे रहे हैं।

: इति सप्तदश (१७) पद का भावार्थ :-



अथ अष्टादश पद—अवतरण

अब रस-उपासना की पराकाष्ठा—चरम सीमा, अन्तिम सीमा का निरूपण करते हैं।

पद- प्रेम समुद्र रूप रस गहरे कैसे लागै घाट।
बेकारयौ दै जान कहावत जानपन्यौ की कहाँ परी बाट॥
काहू कौ सर सूधौ न परै मारत गाल गली गली हाट।
कहिं श्रीहरिदास जानि ठाकुर बिहारी तकत ओट पाट॥१८॥

अर्थ—प्रेम महासमुद्र है। जिसमें रूप-रस जल की अति गहराई है—नाम गम्भीरता, अथाह है। अर्थात् रूप-रस के कहर—भीषण भँवर में कोई पड़ जाय तो उसमें से निकल नहीं सकते हैं। तब कैसे लागै घाट—नाम पार कैसे हो सकते हैं? अर्थात् पार नहीं पहुँच सकते। अर्थात् पहुँचने की शक्ति-सामर्थ ही नहीं है। बीच में ही डूब जाते हैं। जो भी डूबे, फिर वह उछल नहीं सके। परन्तु पार पहुँचे बिना रत्नाकर (समुद्र) में से रत्न कौन प्राप्त कर सकता है? अर्थात् जो महासमर्थ तैराक है, वही डुबकी लगाकर रत्न ला सकता है।

इसी प्रकार यह रूप-रस जल से परिपूर्ण अति गम्भीर प्रेम-समुद्र नित्य किशोर दम्पति श्रीश्यामा-श्याम—श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि के नित्य विहार रस-रूप अद्भुत रत्नों से अनन्त, अखण्ड, असीम और परिपूर्ण है। रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज और उनके अनुगत रसिक-अनन्यजन ही इस अद्भुत सरस रत्नाकर में निर्भय-नि:शंकतापूर्वक अवगाहन करते हैं और दम्पति-सम्पत्तिरूप (नित्यविहाररूप) अद्भुत रत्नों को निकालकर लाते हैं तथा उनका अनुभवास्वादनकर, परखकर उनसे दम्पति श्रीप्रियालाल को अलंकृत कर लाड़ लड़ाते हैं। इनके अतिरिक्त और तो समुद्र के निकट पहुँचते ही गोता लगा बैठते हैं, डूब जाते हैं।

बेकारयौ दै–नाम विकारों के उदयमात्र से, अर्थात् नेत्रों में अश्रुजल, शरीर में पुलक, रोमहर्ष, कम्प, गद्‌गद और चित्त में आर्द्रता–माने द्रविततता आदि ये प्रेम के चिह्न दिखाकर अपने को प्रेम-तत्त्व का जानकार कहाते हैं। अर्थात् ऐसे चिह्न देखकर सामान्यजन यह कहते हैं कि ये प्रेम के ज्ञानी महात्मा हैं। परन्तु प्रेमी रसिक विज्ञजन उनके प्रेम के विकारों को प्रेम नहीं कहते हैं।

जिनके प्रेम के आभासमात्र विकार हुए, साँचे, शुद्ध प्रेम की प्राप्ति नहीं हुई, उनको जानपन्यौ की कहाँ परी बाट? अर्थात् उनको तो जानकार कहना ही कहाँ सम्भव है? अर्थात् उनको जानकार ही नहीं कह सकते हैं। क्योंकि बाट–नाम उनका मार्ग–साधन भी ठीक नहीं है। प्रेमी-रसिक जानकारजनों का प्रेममार्ग कैसा होता है, यह भी उन्हें ज्ञात–मालूम नहीं है। तो उन्हें ज्ञाता-जानकार कैसे कह सकते हैं? जिसका साधन सिद्ध होता है, उसीको ज्ञाता कह सकते हैं।

जब सच्चे प्रेम के विकार ही नहीं हैं और मार्ग–साधनपथ भी ठीक नहीं है, तभी तो किसीका सर–माने जहाज सूधा नहीं पड़ता है, अर्थात् ठिकाने पर नहीं पहुँचता है। अथवा तभी तो किसीका सर–माने तीर सूधे लक्ष्य पर नहीं पड़ता है। केवल अपने को प्रेमी-रसिक-ज्ञानी जानकार जताने–समझाने के लिये गली-गली और हाट–नाम बाजार में, अर्थात् अपने-अपने मार्ग में, अपने-अपने स्थान में गाल बजाते फिरते हैं–माने वितण्डावाद–निरर्थक तर्क, बहस करते हुए अपने पक्ष की स्थापना करते फिरते हैं, प्रेम की चर्चा या प्रदर्शन करते डोलते हैं। इसीलिये उनका साधन-ठीक कहाँ है?

रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि सब वस्तुओं के सामान्यत: और विशेषत: जाननेवाले ठाकुर (प्रभु, ईश्वर) श्रीविहारी जी हैं। वे पाट–नाम आच्छादक वस्त्रादिक

की ओट–माने आड़ देकर तकत–माने सबको देख रहे हैं। अर्थात् मायारूप चिक जीव और ईश्वर के बीच पड़ी है। जैसे चिक के भीतर बैठा हुआ मनुष्य बाहर के सब व्यक्तियों को देखता है, किन्तु बाहर के उसको नहीं देख सकते। ऐसे ही मायारूप चिक के भीतर स्थित ईश्वर सबको देखते हैं और उनको कोई नहीं देख सकते।

अथवा ठाकुर श्रीकुंजविहारी सब बातें भली प्रकार से जानते हैं, क्योंकि वे हृदय के परदे के भीतर बैठे हुए देख रहे हैं।

अथवा प्रेम-रस का स्वरूप जानना चाहते हो तो अपने भावरूप परदे को हटाकर ठाकुर श्रीविहारी जी से भाव जोड़ो और उनको देखो, उनके प्रेम-रस के स्वरूप को जानो, पहचानो। वे सबके शासक–ईश्वर होते हुए भी अपनी प्राणप्रिया की रुचि को लिये हुए सदा-सर्वदा एकरस अपने नित्य केलि-विहार रस में मग्न-तत्पर रहते हैं, उनका सेवन करते हैं।

मूल- प्रेम समुद्र रूप रस गहरे कैसे लागै घाट।

अर्थ–प्रेम महासमुद्र है। जिसमें रूप-रस जल की अति गहराई है–माने गम्भीरता है, अथाह है। अर्थात् रूप-रस के कहर–माने भीषण भँवर में जो कोई पड़ जाय तो उसमें से निकल नहीं सकते हैं। तब कैसे लागै घाट–माने पार कैसे हो सकते हैं? अर्थात् पार नहीं पहुँच सकते। अर्थात् पार पहुँचने की शक्ति-सामर्थ्य ही नहीं है। बीच में ही डूब जाते हैं। जो भी डूबे, फिर वे उछल नहीं सके। परन्तु पार पहुँचे बिना रत्नाकर (समुद्र) में से रत्न कौन प्राप्त कर सकता है? अर्थात् जो महासमर्थ तैराक है, वही डुबकी लगाकर रत्न ला सकता है।

इसी प्रकार यह प्रेम-रस से परिपूर्ण अति गम्भीर प्रेम-समुद्र नित्य किशोर दम्पति–श्यामा-श्याम–श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि के नित्य विहाररूप अद्भुत रत्नों से अनन्त, अखण्ड, असीम और

परिपूर्ण है। रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज और उनके अनुगत रसिक-अनन्यजन ही इस अद्भुत सरस रत्नाकर में निर्भय-नि:शंकतापूर्वक अवगाहन करते हैं और दम्पति-सम्पत्तिरूप (नित्य विहाररूप) अद्भुत रत्नों को निकालकर लाते हैं तथा उनका अनुभवास्वादनकर, परखकर उनसे दम्पति श्रीप्रियालाल को अलंकृतकर लाड़ लड़ाते हैं। इनके अतिरिक्त और तो निकट पहुँचते ही गोता लगा बैठते हैं, डूब जाते हैं।

भावार्थ—श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी श्रीस्वामी जी महाराज की इसी सरस प्रेम रसमयी सामर्थ्य का, महिमा का वर्णन करते हैं—

अरि पान करैं दृग वारुनि रूप छके अति घूमत नेह भरे।
भरिके उमँगे अनुराग सने मन प्रेम सरोवर माँझ परे।।
परखे बहु रत्न अमोल घने तहँ दम्पति सम्पति लै उबरे।
बलि बाँके बिहारी बिहारिनि की उर श्रीहरिदास के आनि अरे।।५।।

श्रीस्वामी जी महाराज के प्रेम-रस में निपुण नेत्र युगलवर श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि के मधुर रूप रस की वारुणि-मदिरा का अड़कर पान करते हैं। अड़कर पान करने में नेत्रों में प्रेम-रस रसिकता की महान् सामर्थ्य है, यह भाव प्रदर्शित होता है।

उस रूप रस-वारुणि का पान करने से नेत्र अति छक गये—उससे भरपूर हो गये और नशे में अति घूम रहे हैं, झूम रहे हैं। फिर रूप रस-वारुणि के पान करने से नेह—स्नेह उत्पन्न हुआ, उस स्नेह से भर गये। स्नेह का लक्षण है—प्रेम जब पराकाष्ठा को प्राप्त करके अर्थात् गाढ़ता के कारण परमोत्कर्षता को प्राप्त करके चित्त रूपी दीप को उद्दीप्त करता है—प्रकाशित करता है, चित्त को द्रवीभूत करता है, तब उसे स्नेह कहते हैं। स्नेह के उदय होने पर दर्शन-स्पर्श करते रहने पर भी तृप्ति का न होना, बल्कि दुगुनी-चौगुनी

लालसा बढ़ती जाना, ये स्नेह के लक्षण हैं। फिर स्नेह से भरकर उमगे–उमड़े–अति आतुरतापूर्वक उत्साहित हुए और अनुराग में सन गये, लिप्त हो गये, ओत-प्रोत हो गये। अनुराग का लक्षण है–राग चरमोत्कर्ष-अवस्था में पहुँचकर स्वयं नव-नव वैचित्री धारण करके सदा अनुभूत प्रिया-प्रियातम को नव-नव भावरूप में अनुभव कराये, उसे अनुराग कहते हैं। अर्थात् रूप, गुण, माधुर्यादि का सदा-निरन्तर आस्वादन करते रहने पर भी राग की गाढ़-अवस्था अनुराग में वे सब सदा नव-नव और सरस होकर अनुभव में आते हैं।

फिर वे नेत्र मन के प्रेमसरोवर–समुद्र में पड़ गये। प्रेम का लक्षण है–चित्त का सब प्रकार से द्रवीभूत होना और इष्ट में और उनके गुण–विषयों में अतिशय ममता से युक्त होना। यह सब भावों की प्रगाढ़ता से होता है। पूर्ण प्रेम में प्रेम के सभी अंग–भाव–रति, प्रेम, स्नेह, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव आदि भाव सब एक साथ पूर्णरूप से प्रकट होते हैं। प्रेम में सब भाव, सब क्रियाएँ-चेष्टाएँ नवल–नई-नई और सरस–रस से पूर्ण होती हैं। प्रेम सब रस-भावों का उमड़ता, लहराता हुआ असीम, अनन्त महासागर है।

वे नेत्र प्रेम के असीम, अनन्त, अथाह महासमुद्र में पड़ गये, गोता लगा लिये। किन्तु उन नेत्रों की रस की अवगाहन-पटुता, कुशलता पर बलिहारी है कि वहाँ उन्होंने अमूल्य–जिनका कोई मूल्य नहीं, अनिर्वचनीय, अति उज्ज्वल, चिन्मय बहुत–असंख्य प्रेम-रस विहार-कला, रस-विलास-कलारूप रत्न परखे–शोधे, खोजे। वहाँ तो सब अच्छे-से-अच्छे ही रत्न हैं। किन्तु फिर भी परीक्षा करके अच्छे बहुत-से रत्न खोजे, वे भी घने–समूह, पुंज, राशि-राशि खोजे। उन दम्पति की सम्पत्ति–विहार-केलि-कलामय रत्नों को लेकर उन रत्नों से दम्पति-रसविलासी युगलकिशोर को अलंकृत

करने, विलसित करने, विलास से परिपूरित करने उबरे—समुद्र में से प्रकट हुए, निकले। इन रस-रत्नों के महापारखी—जौहरी, परम महामधुर रसरसिक, रसविलासी श्रीबाँकेविहारी-बाँकीविहारिणि की रसरत्न की परख पर, रसरसिकता पर बलि—बलिहारी जाऊँ, कि उन रस-विलासरत्नों की प्राप्ति के लिये अधीन होकर, विवश होकर महारसविलास-सुखदात्री श्रीललितास्वरूप रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के दिव्य रसमय-रसधाम हृदय में आकर अरे—अड़ गये, स्थायीरूप से स्थित हो गये, रसविलास विलसते हुए नित्य-निरन्तर अचल निवास करने लगे।

प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। वह वाणी का विषय नहीं है, अर्थात् वाणी से उसका वर्णन नहीं कर सकते। जो वाणी से वर्णन में आता है, वह प्रेम का बाह्य स्वरूप है। प्रेम का अंतरंग स्वरूप तो स्वसंवेद्य है। प्रेमद्वारा ही प्रेम को जाना जाता है। प्रेमद्वारा ही प्रेम का आस्वादन किया जाता है।

वह मूकास्वादनवत् है। वह गूँगे के गुड़ के खाने—आस्वादन करने के समान परम गम्भीर है। जैसे गूँगा गुड़ के स्वाद को वर्णन नहीं कर सकता, वैसे ही प्रेम के आस्वाद को वर्णन नहीं कर सकते। वह केवल अनुभवगम्य है। जो वाणी से वर्णन में आता है, वह प्रेम का बाह्यरूप है। अन्तरंगरूप तो रसिकजनसंवेद्य है। प्रेम नवल है—माने नित्य नया—रूप, रस, अंग, सभी चेष्टाएँ, सभी क्रियाएँ नित्य नयी हैं तथा प्रेम सरस है—माने नित्य रस से परिपूर्ण है-रूप रस, अंग, सभी चेष्टाएँ,सभी क्रियाएँ नित्य रस भरी हुईं, रस से परिपूर्ण हैं।

प्रेम में संयोग और वियोग, मिलन और बिछुड़ना दोनों एक साथ हैं। प्रेम पुष्प है और काम सौरभ है। प्रेम संयोग—मिलनरूप है तथा काम वियोग—विरहरूप है। प्रेम का स्वरूप नित्य दर्शन, नित्य

संगरूप है तो काम का स्वरूप नित्य मिलन, नित्य केलि कलारूप है। जहाँ काम-प्रेम एक संग रहते हैं, वहाँ कभी वियोग होता नहीं तथा निरवधि, एकरस, नित्य विहार रस बढ़ता ही रहता है। प्रेम-समुद्र में काम की तरङ्गें हैं, रूप-रस की गहराई है और निज रस रूप विशद्-उज्ज्वल विहाररूप है। इसलिये उससे पार होना बहुत कठिन है।

निजमतकार महान्त श्रीस्वामी किशोरदास जी निजमत सिद्धान्त आदि ग्रन्थ में प्रेम का स्वरूप वर्णन करते हुए कहते हैं-

प्रेम लक्षना भाव सुभक्ती। तामधि मिली सुद्ध आसक्ती।।
इनकौ रूप कौन अस गावै। सेष महेस पार नहिं पावैं।।
जानत प्रेम प्रेम की रीती। करत प्रेम तें प्रेम प्रतीती।।

प्रेम-लक्षणा भाव से युक्त जो श्रेष्ठ भक्ति है तथा उसमें शुद्ध आसक्ति मिली हुई है, सो कौन ऐसा है, जो प्रेम के स्वरूप का वर्णन कर सके? श्रीशेष जी, श्रीमहादेव जी आदि भी इसका पार नहीं पा सकते। प्रेम ही प्रेम की रीति को जानता है। प्रेम ही प्रेम से प्रतीति--विश्वास, दृढ़ निष्ठा करता है। प्रेम ही प्रेम से प्रेम करता है और प्रेम ही प्रेम से प्रतीति-दृढ़ निष्ठा, विश्वास करता है।

जानत नित्य किसोर बिबि, प्रेम लक्षना रूप।
कै जानत सहचरि सुघर, रसिक मुकुट मनि भूप।।२६५।।

प्रेम के अद्भुत सरस स्वरूप को केवल नित्य किशोर दम्पति श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि ही जानते हैं, या दोनों के हृदय के प्रेम रस की स्वरूपा श्रीललिता सहचरी और श्रीललिता जी के स्वरूप रसिक अनन्य मुकुटमणि भूप श्रीस्वामी हरिदासजी महाराज ही जानते हैं।

तिनकी रीति विचार न जानै। प्रगट प्रकास कछू उनमानै।।
जहँ विचार तहँ प्रेम न आवै। प्रेम प्रेम प्रति प्रेमहि गावै।।

उनकी-प्रेम की रीति को विचार जान नहीं सकता। विचार प्रेम के प्रकट प्रकाश-माने बाह्यरूप का ही अनुमान लगा सकता है।

जहाँ विचार है—जानने की क्रिया है, वहाँ प्रेम नहीं आ सकता। क्योंकि विचार में जाननेवाला अलग रहता है और प्रेमी का अपने प्रेमास्पद से एकत्व, तादात्म्य होता है। इसलिए एकमात्र प्रेम ही प्रेम के स्वरूप को प्रेमप्रति यथार्थरूप में वर्णन करता है और सुनता है।

कहत प्रेम कौं प्रेम कहानी। प्रेम रीति प्रेमिन ही जानी।।
नेम न जानि प्रेम की रीती। नेम प्रेम मिलि परम फजीती।।

प्रेम ही प्रेम को प्रेम-कहानी कहता है—प्रेम ही प्रेम को प्रेम-कथा सुनाता है। प्रेम की रीति को प्रेमी ही जानता है। नेम (अन्य साधन, अन्य क्रियाएँ) प्रेम की रीति को नहीं जान सकता। जहाँ प्रेम में नेम मिल जाता है, तो वहाँ परम फजीती—दुर्दशा होती है।

प्रेम गारि प्रेमिन इमि चाहीं। कोटि मुक्ति सुख ता सम नाहीं।।
प्रेम गारि प्रेमिन सुधि आवै। जैसे रंक सुखित निधि पावै।।

प्रेमियों को प्रेम की गाली अति प्रिय लगती है। उसके समान त्रिभुवन के सुख की कौन चलावै, करोड़ों मुक्ति का सुख भी उसके आगे कुछ नहीं है। प्रेमियों को प्रेम—प्रीति भरी गाली की स्मृति होती रहती है। वे उससे अति सुखी होते हैं, जैसे दरिद्र को निधि—सम्पत्ति मिल गई हो।

सूर सती यह प्रेम न जानैं। मोह क्रोध बस निजु तन भानैं।।
चन्द्र चकोर केकि घन नेहा। पावस पिक मृग सुर तजि देहा।।

शूरवीर—योद्धा और सती स्त्री भी इस उज्ज्वल तत्सुखमय प्रेम को नहीं जान सकते। वे तो मोह और क्रोधवश (शूर क्रोधवश एवं सती मोहवश) अपने शरीर को नष्ट कर देते हैं। चकोर का चन्द्रमा से, केकी—मोर का बादल से, कोयल का पावस—वर्षा से स्नेह है तथा मृग—हिरण का स्वर से प्रेम है, वह स्वर के कारण अपने प्राण को छोड़ देता है।

ससि चकोर पिक केकि घन, मृग सुर दीप पतंग।
ये सब स्वारथ रत विदित, प्रेम न परसत अंग॥२६६॥

चकोर का चन्द्रमा से, कोयल का पावस से और मोर का बादल से प्रेम होता है। हिरण का स्वर से, पतिंगा–उड़नेवाले कीड़े का दीप–दीये से और मछली का जल से स्नेह होता है। ये उनके लिये अपने प्राण दे देते हैं। पपीहा स्वाति-जल के लिये तरसता रहता है। ये सब अपने स्वार्थ–सुखरत-तन्मय, संलग्न हैं, इनका यह विषय है, यह बात सर्वविदित है। इन्हें प्रेम का अंग भी स्पर्श नहीं करता।

निज सुख सुखित ते न जन प्रेमी। सो सकाम कामिनि मधि नेमी॥
निज तन ज्ञान गनत मो देहा। सो यह प्रेम न सुद्ध सनेहा॥

जो अपने सुख से सुखी हैं, जिन्हें अपनी इन्द्रियों की तृप्ति ही प्रिय है, वे जन प्रेमी नहीं हैं। वे तो सकामी हैं। वहाँ काम ही प्रेम का मुलम्मा (मोम का नकली रूप) मढ़कर अपने को प्रेमी जनाता है। वहाँ तो अधकारमय और दुःख-दोष से पूर्ण काम है। वे ऐसे कामियों के ही बीच अपने को प्रेम का नेमी कहलाते हैं। जिनको अपने तन का–शरीर का ज्ञान है कि यह मेरी देह है, ऐसा अनुभव करते हैं, वहाँ शुद्ध प्रेम–स्नेह नहीं है। वहाँ परम अज्ञानान्धकार युक्त दुःख-दोषपूरित काम है। काम सदा अपनी इन्द्रिय-सुख की तृप्ति चाहता है, अपने सुख में लगा रहता है। यह कामना, वासना ही संसृति–भव–चक्कर–आवागमन का मूल, बीज है।

तहँ वह शुद्ध प्रेम कौ देसा। तन सुख तिनके नाहिंन लेसा॥
मस्तक चरन नाहिं बिबि हाथा। प्रेम प्रेम बिनु संग न साथा॥

वहाँ वह शुद्ध प्रेम का देश है, जहाँ उनके लेशमात्र–अणुमात्र भी अपने शरीर का सुख नहीं है। इष्ट–प्रेमास्पद का सुख ही उनका प्राण, जीवन, आधार, सर्वस्व है। उनकी प्रत्येक चेष्टाएँ-क्रियाएँ

एकमात्र अपने प्रेमास्पद के लिये ही होती हैं। आगे कहते हैं कि प्रेम के न सिर है, न चरण हैं, न दोनों हाथ हैं और न कोई अंग हैं। प्रेम प्रेम के बिना किसीके संग–साथ नहीं रहता है और संग–साथ नहीं करता है। इसका आशय है कि प्रेम के सब अंग प्रेममय ही होते हैं। प्रेम का संग-साथ प्रेम से युक्त ही होता है।

प्रेमहि पिता प्रेम ही माता। प्रेम बाम सुत प्रेमहि भ्राता॥
प्रेमहि क्रिया प्रेम ही नेमा। प्रेमहि पट भूषन गुन क्षेमा॥

प्रेम के प्रेम ही पिता है, प्रेम ही माता है, प्रेम ही पत्नी-पुत्र हैं और प्रेम ही भाई है। प्रेम के प्रेम ही क्रिया, नेम-साधन, व्रत आदि भी प्रेम ही है, प्रेम ही वस्त्र-आभूषण हैं और कल्याणमय गुण भी प्रेम ही है।

प्रेमहि असन पान व्यौहारा। करत प्रेम मिलि प्रेम विचारा॥
प्रेमहि जप तप संजम जोगा। प्रेमहि हर्ष प्रेम ही सोगा॥

प्रेम का भोजन–जल-पान आदि व्यौहार भी प्रेम ही है। प्रेम प्रेम से ही मिलकर प्रेम के विचार करता है, और किसीकी वहाँ समाई नहीं है। जप, तप, संयम, योग आदि भी प्रेम ही हैं। प्रेम की सभी चेष्टाएँ, साधन, क्रियाएँ आदि प्रेम के लिये और प्रेम से पूर्ण एवं प्रेममयी होती हैं। प्रेम के लिये प्रेम ही हर्ष है, अर्थात् प्रेम का सुख, मिलन ही हर्ष है तथा प्रेम के लिये प्रेम का ही शोक है, अर्थात् प्रेम का विरह-दुःख ही प्रेम का शोक है।

अद्भुत एक प्रेम की रीती। मानत हारि प्रेम की जीती॥
अखिल वचन मधि अति करुवाई। प्रेम गनत ताकौं गरुवाई॥

प्रेम की यह एक सबसे न्यारी, अद्भुत रीति है कि प्रेम अपनी हार में ही जीत मानता है। प्रेमी के सभी वचनों में अति कड़ुवापन हो, तब भी प्रेम उसे अति गरुवा–अति आदर-सम्मानयुक्त मानता है।

प्रेमहि लगत बात यह मीठी। उक्ति जुक्ति चतुरनि की सीठी॥
सुघर चातुरी सबकौं भावै। प्रेम निरखि ता तन पछितावै॥

ऐसी बातें प्रेमी को अति मीठी, अति आदरयुक्त लगती हैं। चतुरजन अनेक उक्ति-युक्ति मिलाकर आदर-सम्मानपूर्वक व्यवहार की अनेक बातें करते हैं, प्रेमी को वे सब बातें सीठी—अति फीकी, सुखरहित लगती हैं। सुघड़ता—निपुणता, चतुराईयुक्त व्यवहार सबको प्यारा लगता है, किन्तु प्रेम (प्रेमी) उसकी ओर देखकर पछताता है, क्योंकि वह प्रेम-गंध से शून्य है।

प्रेमी गनत लाभ कौं हानी। बदत परस्पर हानि कहानी॥
सलिता चलनि सबनि की रीती। प्रेम मीनवत उलटि प्रतीती॥

प्रेमी अपने प्रेमी के लाभ को अपना लाभ मानता है और अपने लाभ को हानि मानता है। प्रेमी परस्पर अपनी हानि ही की कहानी कहते हैं, अर्थात् उनकी हानि ही परम लाभ है, क्योंकि इष्ट-सुख ही उनका निज सर्वस्व सुख है। नदी के प्रवाह में सब चलते हैं—सब बहते हैं, यही सबकी रीति—व्यवहार है, किन्तु मीन (मछली) उलटी प्रवाह की ओर चलती है। इसी प्रकार सारा संसार अपने सुख के प्रवाह में बह रहा है, किन्तु प्रेम (प्रेमी) की प्रतीति मीन के समान उलटी होती हैं। प्रेमी अपने सुख की ओर तनिक भी न देखकर अपने प्रेमास्पद का ही सुख चाहता है, वही उसका प्राण, जीवन, आधार सर्वस्व है।

बंक वचन प्रेमिन की बानी। नैना श्रवन श्रवन दृग मानी॥
निन्दा अस्तुति अस्तुति निन्दा। मिलन बिछुरन बिछुरि मिलिन्दा॥२६८॥

प्रेमियों की वाणी बंक—टेढ़े वचनों से युक्त होती है, किन्तु प्रेम से भरपूर होती है। प्रेम में नयन श्रवण और श्रवण नेत्र हो जाते हैं। प्रेमी नयनों को श्रवण और श्रवणों को नेत्र मानते हैं। प्रेमी के आगे यदि प्रेमास्पद निन्दा करे, तो वह निन्दा को स्तुति मानता है और यदि

स्तुति करे, तो स्तुति को निन्दा मानता है। प्रेम में मिलना ही बिछुड़ना है और बिछुड़ना ही मिलना है। प्रेमी प्रेमास्पद से मिलने पर रूप और प्रेम की बढ़वार होने से विरह की अधिकता से बिछुड़न का अनुभव करता है एवं विरह में—बिछुड़न में मिलन का अनुभव करता है।

प्रेम का ऐसा गूढ़ रहस्यमय अनिर्वचनीय स्वरूप है। इस विषय में गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं।

गूँगौ गुर मुँह मूँदे खाई। जानै सो जिहिं जीभ मिठाई।।
गूँगे की सैन गूँगौई जानै। गूँगौ गूँगे ही पहिचानै।।

गूँगा व्यक्ति गुड़ को मुँह मूँदे हुए खाता है। अर्थात् बिना बोले गुड़ का स्वाद लेता हुआ प्रसन्न, आनन्दित होता है। उसको गुड़ खाने में क्या स्वाद आ रहा है, इस बात को वही जान सकता है, जिसने जीभ से गुड़ के मिठास का स्वाद लिया है। गूँगे को गुड़ के खाने में कैसा स्वाद आ रहा है, इसे—गूँगे की सैन—संकेत, इशारे को गूँगा ही जानता है। गूँगा ही गूँगे को पहचान सकता है।

इसी प्रकार प्रेम-रस का रसिक मन वाणी से अगोचर, परे, प्रतिक्षण, नित्य-नूतनरूप में बढ़नेवाले अद्भुत, चिन्मय, सरस प्रेम-रस को प्राप्तकर तन्मय हो जाता है, रसमग्न हो जाता है, गूँगा हो जाता है।

जानि बूझि गूँगौ ह्वै रह्यौ। गूँगे कौ मर्म न काहू लह्यौ।।
इत गूँगौ उत बोलन हारौ। असमंजस कौ अर्थ विचारौ।।

प्रेम रस तत्त्व की गूढ़—रहस्यपूर्ण गम्भीरता और दुर्लभता का विचारकर वह रसिक-अनन्य प्रेमी जान-बूझकर गूँगा होकर आस्वादन में ही मग्न रहता है। उस सरस प्रेमीरूप गूँगे का मर्म—रहस्य, भेद किसीने नहीं लिया, कोई भी ले नहीं पाया। इधर प्रेम-रसास्वादन-रसरत गूँगा और उधर रसानुभवशून्य बोलनेवाला—कथा कहनेवाला, दोनों का मेल कैसे हो सकता है? वह तो रसास्वादन-प्रिय है और उसे

अनेक कथा कहना ही प्रिय है, दोनों ही असमंजस हैं—असंगत—बेमेल संग से जो दुर्दशा, फजीती होती है, वही अर्थ यहाँ विचारना चाहिये।

धर्म विरोधिन सौं जिनि बोलौ। धर्मी मिलै हियौ सब खोलौ॥

स्वाद भेद बिन सब जग वक्ता। सो क्यौं आवै गूँगे लगता॥

श्रीगुरुदेव जी कहते हैं कि जो प्रेमधर्मशून्य, प्रेमधर्म के विरोधी हैं, वे चाहे, कितना ही ज्ञानी, साधनसम्पन्न हों, उनसे मत बोलो। अपनी वाणी का श्रम करते हुए अपना समय व्यर्थ न खोओ। वे कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते। किन्तु जो धर्मी हैं—प्रेमधर्म का अनुसरण करनेवाले हैं, यदि वे मिल जायें तो अपना सब हृदय खोल दो। यह इष्ट की सबसे बड़ी सेवा है।

इस संसार में जितने वक्ता हैं—ज्ञान की, तत्त्व की बातें करनेवाले हैं, वे सब स्वादभेद—प्रेम-रस के स्वाद के अनुभव से रहित शुष्क हृदय हैं। वे सब प्रेम-रसास्वादहीन हैं। वे रसिक-स्वादीरूप गूँगे के निकट क्यों—कैसे आ सकते हैं? क्योंकि उनकी दृष्टि में ये ज्ञानशक्ति से रहित गूँगे हैं।

गूँगौ करि छाँड़्यौ संसार। गूँगौ गावै नित्य बिहार॥

श्रीबिहारीदास हरिदास हितानौं। विपुल विनोदनि देखि लुभानौं॥१५॥

इस प्रेम-रसमग्न प्रेमी-रसिक को प्रेमतत्त्व-ज्ञान से शून्य-रहित समझकर सब संसार ने छोड़ दिया, किन्तु वह प्रेम-रस में तल्लीन गूँगा देव, ऋषि, मुनि आदि को भी अति दुर्लभ महामधुरसारातिसार नित्यविहार के मधुर सुयश को गाता है, दुलराता है। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज ने हित किया—प्रेम-रस से परिपूर्ण कृपा की, जिससे विपुल विनोद—नित्यविहार, नित्य केलि रस को देखकर लुब्ध हो गया और नित्य-निरन्तर दुलराता-गाता हूँ।

यह प्रेम-रस अति दुर्लभ है, साधन साध्य नहीं। केवल श्रीस्वामी जी और श्रीविहारी जी की कृपा से किसी बिरले भाग्यवान् के हृदय में प्रकट होता है।

प्रकाशते क्वापि पात्रे।।५३।।

नारद भक्ति सूत्र

किसी बिरले योग्यपात्र में (प्रेमी भक्त में) ऐसा प्रेम प्रकट भी होता है।

बीजा जर नहिं प्रेम के उपजै सहज सुभाव।
चोरी जोरी दर्व सौं मिलै न दाव उपाव।।
मिलै न दाव उपाव रूप गुन जस प्रताप बल।
भक्ति ज्ञान वैराग्य सीप ज्यौं परै स्वाति जल।।
भगवत नित्य विहार नैन संकर कौ तीजा।
जाति वर्न कुल धर्म कर्म राखत नहिं बीजा।।४२।।

इस दिव्य, चिन्मय भगवत्प्रेम का न तो बीज है न जड़। यह सहज स्वभाव से-सहज नित्य सम्बन्धभाव से कृपाकर प्रकट होता है। कोई इसको छल-बल आदि किसीभी प्रकार से नहीं ले सकते। इसको कोई चुरा नहीं सकता, कोई बलपूर्वक छीन नहीं सकता, कोई धन का लोभ देकर ले नहीं सकता और यह न किसी दाँव-उपाय-साधन आदि से मिल सकता है। यह सुन्दर रूप से, अनेक आकर्षक गुणों से, प्रसिद्ध यश-कीर्ति से, प्रताप-ऐश्वर्य से और बल-साहस, दल-सेना से भी यह उज्ज्वल प्रेम नहीं मिल सकता। क्योंकि यह चिन्मय प्रेम मन-बुद्धि, वाणी से परे अति सूक्ष्म है।

हाँ, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य ये साधन हैं। सो भी बाह्य साधन हैं। हृदय को स्वच्छ-निर्मल करनेवाले एवं सीप के समान उज्ज्वल हैं। केवल सीप होने से मोती नहीं प्राप्त होता, उसमें स्वाति के जल की

बूँदें पड़नी चाहिये। केवल स्वाति-बूँद से ही मोती नहीं बनता, साथ ही सकुच-मीन का टक्कर लगना आवश्यक है। नहीं तो पानी का पानी ही रह जाता है। मोती तब बनता है, जब सकुच-मीन टक्कर मारती है।

इसी प्रकार जब भक्ति, ज्ञान, वैराग्य से सीप-समान हृदय अति उज्ज्वल हो जाता है, तब भी प्रेम प्राप्त नहीं होता है। जब रसिकजनों के संग से ही तीव्र उत्कण्ठा जागती है, तभी प्रेम का वर्षण होता है तथा प्रेम रसरूप में प्राप्त होता है।

श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं कि जैसे श्रीशंकर जी का ही तीसरा नेत्र है, और किसीका नहीं; वैसे ही महामधुरातिमधुर प्रेम का भी सार परम मधुर नित्यविहार रस भी अद्वितीय है। बिरले रसिक-अनन्यजन ही कृपाबल से इसे प्राप्त करते हैं। नित्यविहार रस परम उज्ज्वल से भी उज्ज्वल है। वहाँ उत्तम जाति, उत्तम वर्ण, उत्तम धर्म, कर्म आदि किसीभी गुण-साधनरूप बीज की समाई नहीं है।

प्रेम की व्याख्या करते हुए निजमतकार महान्त श्रीस्वामी किशोरदास जी निजमत सिद्धान्त अवसान खण्ड में कहते हैं।

कमलाकार सहज सुख धामा। सब परि श्रीवृन्दावन नामा।।
मध्य कोस तहँ नित्य बिहारा। चहुँदिसि प्रेम समुद्र अपारा।।

सब धामों का मुकुटमणि, सब से परे श्रेष्ठ, कमलाकार-कमल के आकार, सहज-नित्य प्रेम-माधुर्यमय रस-सुखमय धाम श्रीवृन्दावन नाम का परम धाम है। उसके मध्य कोश में सब सारों का सार, प्रेम रस माधुर्य का भी सार परम प्रेम रस माधुर्यस्वरूप युगलवर श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि का परमोज्ज्वल मधुररस नित्यविहार है। उसके चारों ओर अथाह, अपार प्रेम-समुद्र है।

रस माधुर्य स्वरूप अथाहा। श्रीहरिदास मीन की राहा।।
सो सब सिन्धु कर्निका रूपा। कोस चहूँदिसि बन्यौ अनूपा।।९०।।

उस सरस मधुर प्रेम-समुद्र में रस माधुर्य-स्वरूप की, अर्थात् रूप-रस की अथाहता—गम्भीरता है। उसको अवगाहन करने की, पार करने की किसीकी सामर्थ्य—शक्ति नहीं, सभी डूब जाते हैं। एकमात्र मीन (मछली) उसका सहजता से अवगाहन कर लेती है। इसी प्रकार रसिक-अनन्य चक्र चूड़ामणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराजस्वरूप मीन की वहाँ राह—मार्ग है। वे ही स्वच्छन्दरूप से अवगाहन करते हैं, पार कर लेते हैं। सदा-निरन्तर उस प्रेम-रस सिन्धु में अवगाहन करते-कराते रहना ही उनका स्वरूप और स्वभाव है। वह सब प्रेम-सिन्धु कमल की कर्णिका (कोश) स्वरूप-नित्यविहारस्वरूप ही है। वह कोश के चारों ओर अनूप स्वरूप से लहराता हुआ सुशोभित हो रहा है।

इसके पहले और कह रहे हैं-

प्रेम समुद्र महा रस पानी। नित्य बिहार रतन की खानी।।
अति रस रूप सहित गम्भीरा। वार न पार मध्य नहिं तीरा।।

यह प्रेम-समुद्र महामाधुर्य रस-जल से परिपूर्ण है। जिसमें अद्भुत, अनूप नित्यविहाररूप रत्न की खानि है। वह प्रेम-समुद्र अति महान् रूप-रससहित अति गम्भीर—गहरा है। जिसका न वार—पहला किनारा है, न पार—दूसरा किनारा है। न मध्य—बीच है और न किनारा है। वह अचिन्त्य, विचित्र, अनुपम प्रेम-समुद्र है।

सहचरि स्रोत रसिक मन मीना। नौका श्रीहरिदास नवीना।
केवट श्रीगुरु मन्त्र उचारा। स्वामी सरन गये ता पारा।।६८।।

अनिर्वचनीय, अचिन्त्य, अनुपम, महामाधुर्य-प्रेम रसस्वरूप सहचरी (प्रेमसहचरी-श्रीललिता) ही स्रोत है, जो निरन्तर उस अनिर्वचनीय, अचिन्त्य, अनुपम प्रेम-समुद्र को नित्य-निरन्तर, अविचिछन्न, एकरस भरता रहता है। रसिक—युगलविहारी का मन

ही मीन है, जो नित्य-निरन्तर अत्यातुर, मुग्ध, धैर्य, उल्लासपूर्वक, उसका सेवन, अवगाहन करता रहता है। अथवा रसिक–रसिक-अनन्य सहचरीजन का मन ही मीन है, जो नित्य-निरन्तर अत्यातुर, मुग्ध, धैर्य तथा उत्साहपूर्वक उसका सेवन, अवगाहन करता रहता है।

उस चारों ओर लहराते हुए असीम, अपार, अथाह प्रेमसमुद्र के पार नित्यविहार देश में पहुँचकर नित्यविहाररूप रसरत्न को प्राप्त करने के लिये नित्यविहार रसस्वरूप रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज सुदृढ़ नौका के समान हैं, या उनके चरणारविन्द नौका–जहाज के समान हैं। श्रीगुरु ही केवट हैं और उनका मन्त्र ही पतवार अथवा उसको खेने–चलानेवाला है। रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी जी महाराज की जो शरण होकर इस प्रकार प्रेमभक्ति-भाव से उनका सेवन करते हैं, वे उस प्रेम-समुद्र के पार पहुँचकर नित्यविहार–युगल की नित्यकेलिरूपी सेवा में तत्पर, तल्लीन हो जाते हैं। श्रीस्वामी जी महाराज की शरण लिये बिना इस नित्य मधुर-प्रेम-रस की प्राप्ति अति दुर्लभ क्या, सर्वथा असम्भव है।

रति (भाव, प्रेम) का मुख्य लक्षण है–चित्त अति द्रवित–स्निग्ध होकर सर्वात्मा से इष्ट की अनन्य, एक स्पृहा–तीव्र चाह से भूषित हो जाय। प्रेमी सर्वात्मा से, सर्व प्रकार से अनन्यभाव-प्रेमपूर्वक इष्ट–प्रेमास्पद के सुख में तत्पर-तल्लीन हो जाता है। कहा भी है-

तदेकस्पृहत्वमेव रतेर्लक्षणं मुख्यम्।

अपने इष्ट–प्रेमास्पद के सुख की एक–अनन्य कामना–इच्छा ही रति का मुख्य लक्षण है। वह प्रेम-भक्ति के मार्ग में सम्भव है।

भक्तिरसामृतसिन्धु में कहा है–

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन श्रीकृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमाः॥

लौकिक-पारलौकिक किसीभी कामना से शून्य और ज्ञान तथा कर्म आदि से रहित तथा अपने इष्ट—श्रीकृष्ण-श्रीविहारी के अनुकूल भाव से अर्थात् उनकी रुचि-सुख को लेकर अनुशीलन—तन, मन, सर्वात्मा से नित्य-निरन्तर उनका सेवन ही उत्तम भक्ति—प्रेम भक्ति का स्वरूप है।

यदि त्वन्यस्पृहां स्यात्तल्लक्षणान्तरस्य।

यदि अन्य कुछ भी कामना है, तो रति के लक्षण में अन्तर होगा, शुद्ध रति नहीं होगी।

सात्त्विकादेः सद्भावेऽपि रतिर्न मन्तव्या।

अष्ट सात्त्विक भाव—अश्रु, कम्प, पुलक आदि के रहने पर भी यदि इष्ट के अतिरिक्त अन्य स्पृहा—कामना है, तो शुद्ध रतिरूप में माननीय नहीं है, अर्थात् वह रति का स्वरूप नहीं है।

तदुक्तम्— व्यक्तं मसृणतैवान्तर्लक्ष्यते रतिलक्षणम्।
मुमुक्षुप्रभृतीनाञ्चेद्भवेदेषारतिर्नहि।।

भक्तिरसामृत सिन्धु।।४१।।

और भीर कहा है—अन्तर की—हृदय की सब प्रकार से द्रवितता, स्निग्धता रति का प्रकट लक्षण है। मुमुक्षु—मोक्ष की इच्छावाले एवं ज्ञानी आदि में अश्रु, कम्प आदि कुछ प्रेम के विकार दिखने पर भी यह रति नहीं होती है, इसे रति नहीं मानना चाहिये। क्योंकि रति का मुख्य लक्षण है—इष्ट के सुख की एकमात्र अनन्य इच्छा। इसका उनमें अभाव होता है। इसलिये वे शुद्ध रति—भावभक्ति के पात्र नहीं हैं।

अन्तर्मसृणता—माने आर्द्रता, द्रवितता।

इसी अभिप्राय से श्रीस्वामी जी महाराज कहते हैं—

मूल- बेकार्‌यौ दै जान कहावत जानपन्यौ की कहाँ परी बाट।

अर्थ—बेकार्‌यौ दै—नाम कि विकारों के उदयमात्र से, अर्थात् नेत्रों में अश्रुजल, शरीर में पुलक, रोमहर्ष, कम्प, गद्‌गद और चित्त

में आर्द्रता—माने द्रवितता आदि ये प्रेम के चिह्न दिखाकर अपने को प्रेम-तत्त्व का जानकर कहाते हैं। अर्थात् ऐसे चिह्न देखकर सामान्यजन यह कहते हैं कि ये प्रेम के ज्ञानी महात्मा हैं। परन्तु प्रेमी रसिक विज्ञजन उनको (उनके प्रेम चिह्नों को) प्रेम नहीं कहते हैं।

भावार्थ—शास्त्र में कहा भी है-

विमुक्ताखिलतर्षैर्या मुक्तैरपि विमृग्यते।
या कृष्णेनातिगोप्याशु भजद्भ्योपि न दीयते॥४२॥

जिस प्रेम-भक्ति को समस्त तृष्णाओं, कामनाओं से मुक्त (त्यागी) मुक्तजन भी खोजते रहते हैं, किन्तु प्राप्त नहीं कर पाते। जिसको अत्यन्त प्यारी होने से श्रीहरि-श्रीकृष्ण ने भी अत्यन्त गुप्तकर (छिपाकर) रखा है और भजन करनेवाले भक्तों को भी शीघ्र—सहसा देते नहीं हैं। क्योंकि तत्सुख—इष्ट सुख की एक अनन्य चाह उनमें नहीं है, इसलिये वह भक्ति उनके लिये अति दुर्लभ है।

जिनके प्रेम के आभासमात्र विकार हुए, सच्चे शुद्ध प्रेम की प्राप्ति नहीं हुई, उनको **जानपन्यौ की कहाँ परी बाट?** अर्थात् उनको जानकार कहना कहाँ सम्भव है? अर्थात् उनको जानकार ही नहीं कह सकते हैं। क्योंकि उनकी बाट—नाम मार्ग—साधन भी ठीक नहीं है। प्रेमी-रसिक जानकारजनों का प्रेम-मार्ग कैसा होता है, यह भी उन्हें ज्ञात (मालूम) नहीं है। तो उन्हें ज्ञाता—जानकार कैसे कह सकते हैं? जिसका साधन सिद्ध होता है, उसीको ज्ञाता कह सकते हैं।

भक्तिरसामृत सिन्धु में कहा है—

सा भुक्तिमुक्तिकामत्वाच्छुद्धां भक्तिमकुर्वताम्।
हृदयेसम्भवत्येषां कथं भागवती रतिः॥४३॥

फिर जो लोग भुक्ति (भोग) एवं मुक्ति के कारण शुद्ध भक्ति का अनुष्ठान ही नहीं करते, उनके चित्त में उस भागवती रति (भाव-भक्ति) का आविर्भाव भला कैसे सम्भव हो सकता है?

किन्तु बालचमत्कारकारी तच्चिह्नवीक्षया।
अभिज्ञेन सुबोधोऽयं रत्याभासः प्रकीर्तितः॥४४॥

किन्तु जो बाल-बुद्धि हैं अर्थात् भक्ति-तत्त्व से अनभिज्ञ (अनजान) हैं, वे भक्ति-मार्ग के अतिरिक्त मार्गानुयायियों में चित्त की द्रवता—अश्रु, पुलकादि देखकर उन्हें रति के चिह्न समझकर चमत्कृत हो उठते हैं। परन्तु जो भक्ति-तत्त्वज्ञ हैं, वे जान जाते हैं कि ये लक्षण रति के नहीं हैं। वे उन्हें रत्याभास कहते हैं।

प्रतिबिम्बस्तथा छाया रत्याभासो द्विधा मतः॥४५॥

प्रतिबिम्ब और छाया नाम से रत्याभास दो प्रकार का है।

तत्र प्रतिबिम्ब—

आश्रमाभीष्टनिर्वाही रतिलक्षणलक्षितः।
भोगापवर्गसौख्यांशव्यञ्जकः प्रतिबिम्बकः॥४६॥

अपने प्रिय—इच्छित आश्रम के कार्यों का निर्वाह करनेवालों में शम-दमादि ज्ञान के साधनों का श्रम उठाये बिना (बिना परिश्रम के) उनके अभीष्ट—इच्छित सुख को प्रदान करनेवाले, रति के लक्षणों से पहचाने जानेवाले तथा भुक्ति (भोग) एवं मुक्ति (मोक्ष) सुखों के अभिव्यञ्जक—प्रकट करनेवाले को प्रतिबिम्ब-रत्याभास कहते हैं।

रति का प्रतिबिम्ब-आभास उनमें कैसे उदित होता है, उसका कारण अगली कारिका में कहते हैं—

दैवात्सद्भक्तसङ्गेन कीर्तनाद्यनुसारिणाम्।
प्रायः प्रसन्नमनसां भोगमोक्षादिरागिणाम्॥४७॥
केषाञ्चिद्धृदि भावेन्दोः प्रतिबिम्ब उदञ्चति।
तद्भक्तहृन्नभस्थस्य तत्संसर्गप्रभावतः॥४८॥इत्यादि।।

जो लोग भुक्ति-मुक्ति के अनुरागी हैं और अपने अभीष्ट प्राप्ति के लिये कीर्तनादि-भक्ति के अङ्गों का अनुसरण करते हैं, जो

दूसरों के दोष नहीं देखते एवं सरल चित्त होने से प्राय: प्रसन्न-चित्त रहते हैं, दैववश (सौभाग्यवश) यदि उन लोगों को किसी ऐसे सद्भक्त का, जिसमें भागवती रति का वास्तविक आविर्भाव हुआ हो। उनके संसर्ग के प्रभाव से—एक-आध संग प्राप्त हो जाये, तो उसके प्रभाव से उस सद्भक्त के चित्तरूप आकाश में उदित हुए भावरूपी चन्द्र का प्रतिबिम्ब उन लोगों के चित्त में प्रतिफलित हो जाता है।

भाव यह है कि यद्यपि रोमांच, अश्रु, कम्प, स्वरभंगादि चित्त-क्षोभक अष्ट विकार प्रेम के लक्षण हैं, परन्तु केवल इन बाह्य आचरणों को दिखाकर योगी-ज्ञानीजन दुर्लभ प्रेम-तत्त्व का जानकार कहाने की चेष्टा करना वास्तव में भ्रम है। क्योंकि यह कोई जानपने का मार्ग नहीं है। प्रेम-मार्ग तो उन्मत्तों का—प्रेममतवालों का मार्ग है। इसमें तो शरीर के सुख-दु:ख और लोक-वेद आदि सबको भूल जाते हैं। एक प्रियतम और उनका सुख ही तन-मन-प्राणों में बसा रहता है। वे उसीमें सदा मत्त-मगन तथा उसे और-और प्राप्त करने के लिये विह्वल-विकल रहते हैं।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज प्रेम-प्राप्ति का साधन बताते हुए कहते हैं—

जो साँचे सौं साँचौ मिलै। तौ कोऊ गनें न लेखौ चलै।।
भूल्यौ बार बार बौराइ। अब ही मिल्यौ ठीक सब आइ।।

दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जो कोई साँचे—सत्यस्वरूप से सच्चा होकर, उसके समान सच्चा होकर, उसके अनुकूल सच्चा होकर मिले, तो फिर कोई भी गिनता नहीं कि इसका क्या स्वरूप है, क्या स्वभाव है, आदि। तथा न लेखा—प्रमाण लिखा हुआ भी नहीं चलता, उसकी भी जरूरत नहीं होती। ऐसे ही श्रीहरि-गुरु परम सत्यस्वरूप—माने सच्चे हैं। उनकी प्रत्येक चेष्टाएँ—क्रियाएँ आदि

मध्य-अन्त सदा-सर्वदा एक-सी होती हैं। वे सत्यस्वरूप, परम कृपा-वात्सल्य के सागर हैं। उनसे जो कोई बाहर-भीतर से एक-सा होकर मिलता है—उनका भजन-सेवन करता है, तो उसको कोई भी रोक नहीं सकते, न उसके स्वभाव, कर्मों की गणना कर सकते और उसके लिये शास्त्र आदि का प्रमाण भी नहीं चलता। क्योंकि वह इन सबकी सीमा से ऊँचा उठ जाता है।

तू बार-बार इस असत्य, भ्रमस्वरूप माया-प्रपंच के विषय-जाल में सुख मानकर भूल जाता है, भ्रमित हो जाता है, बौरा जाता है कि यह सत्य, सुखस्वरूप है और अभी ही मिला है, इस प्रकार मोह-भ्रम में पड़कर अनेक जन्म गमा दिये। अब चेत—सावधान हो। अब, इस वर्तमान समय में तुझे—उत्तम मानव देह, उत्तम संग, ज्ञान-वैराग्य आदि भाव और सन्त-भक्त संग आदि सब ठीक—उचित आकर मिले हैं, इसे मत गमा।

निरनै करि कागद सब फारि। गाँठी बाँधौ साँच सँभारि॥
काम कर्म न धर्म सौं काम। निरभै भजि श्रीस्यामा स्याम॥

अब तू चेत! सावधान हो! सत्य-असत्य-साँच-झूठ का निर्णय कर। एक श्रीहरि—श्रीविहारी-विहारिणि ही परम सत्य हैं और इनके अतिरिक्त सब माया-प्रपंच मिथ्या, भ्रमरूप है, ऐसा निर्णयकर, निश्चयकर उनकी भक्ति को दृढ़ साँचे भाव सों ग्रहण कर, जिससे कर्मरूप कागज जो यमराज के पास है और जो संसारचक्र में भटकानेवाला है, उसे फाड़ दो तथा सत्यस्वरूप—श्रीविहारीजी की भक्ति को दृढ़ता से सम्भालकर गाँठ बाँध लो—ग्रहण कर लो। दान, पुण्य, व्रत, यज्ञादि काम्यकर्म और वर्णाश्रम का सेवनादि धर्म से कुछ भी सम्बन्ध मत रखो। ये सब आवागमन में भटकानेवाले कर्म-धर्म हैं, ये सब परम भयरूप हैं, इन सबको त्यागकर निर्भय

हो, श्रीवृन्दावनेश्वर वृन्दाविपिनविहारी, श्रीश्यामा-श्याम का भजन करो–अनन्य भाव से निरन्तर सेवन करो।

विधि निषेध सौं को पचि मरै। प्रेम भक्ति में अन्तर परै।
मन वच क्रम जो उपजै भाव। तौ लोक वेद सब बिसरि जाव।
स्वर्ग नर्क की आस न त्रास। जे रस रसिक बिहारिनिदास॥६॥

विधि–करने की आज्ञा और निषेध–न करने की आज्ञा, वेद–शास्त्र की इन आज्ञाओं के मानने में केवल श्रम ही है, केवल पच मरना–श्रम कर-करके मर मिटना है। क्योंकि इनसे लोक–परलोक एवं मोक्ष–कल्याण की वासनाएँ निर्मूल नहीं होती हैं। ये सब प्रेम-भक्ति में अन्तर पाड़नेवाली, विघ्न करनेवाली हैं। क्योंकि प्रेम-भक्ति में तो सर्वात्मा से एक इष्ट के सुख को-रुचि को लेकर उनका निरन्तर सेवन-चिन्तन, अनुशीलन करना ही मुख्य है। यदि मन, वाणी और क्रम–शरीर–सर्वात्मा से अपने इष्ट–श्रीहरि के नित्य सम्बन्ध का (मैं नित्य उनका दास हूँ-नित्य सहचरी हूँ) और नित्य संग रहकर सेवन करने का उज्ज्वल भाव उपज आये–उदित हो जाये तो लोक-धर्म, वेद-धर्म आदि सब की सहज स्वाभाविक ही भूल हो जायगी, उनकी विस्मृति हो जायगी। और इतना ही नहीं, जो इस महामधुर रस–नित्य निकुंज केलि रस के रसिक–रसास्वादननिष्ठ बिहारिणिदास–श्रीप्रिया के श्रीचरणानुगत रस के सहज चञ्चरीक–मधुकर हैं, वे तो न स्वर्ग की आशा करते हैं और न नरक का भय। वे तो शरीर-संसार से सर्वथा उदास होकर अपने प्राण-प्रियतम श्रीप्रियालाल के सुख में नित्य मग्न, नित्य तत्पर रहते हैं। क्योंकि प्रेम का स्वभाव ही है कि वह देह की विस्मृति करा देता है। प्रेम में देह का भी अनुसन्धान नहीं रहता है।

जाकी मनमोहन दृष्टि परे।
सो तौ भयौ सावन कौ अन्धो सूझत रंग हरे॥

जिस परम भाग्यशाली-जन की दृष्टि में मनमोहन–श्रीविहारी जी पड़ जाते हैं, जो उनका दर्शन कर लेता है, उसके तन, मन, प्राण प्रेम से भरपूर हो जाते हैं। फिर उसकी दशा कैसी होती है, जैसे श्रावण में–वर्षाऋतु में सर्वत्र हरियाली छायी रहती है। तो उस समय में अन्धे होनेवाले को सर्वत्र हरा रंग ही दिखता है, इसी प्रकार वह दर्शनप्राप्त प्रेमी तो श्रावण का अन्धा-सा हो जाता है।

जड़ चैतन्य कछु नहीं सूझै जित देखै तित स्याम खरे।
विहवल विकल सँभार न तन की घूमत नैना रूप भरे॥

उस परम भाग्यवान् प्रेमी को संसार में जड़-चैतन्य कुछ भी सूझता नहीं, दृष्टि में आता नहीं है। वह जिधर देखता है, उधर कोटि कामलावण्य-माधुर्यसिन्धुस्वरूप श्यामसुन्दर श्रीविहारी जी ही प्रेम रस की वर्षा करते हुए खड़े दिखते हैं। वह रूप-रसमाधुरी इतनी अद्भुत कौतूहलमयी–चमत्कारमयी होती है कि मानो देखते हुए भी न देखी हो, ऐसे प्रतिक्षण प्राण विह्वल–द्रवित, पिघले हुए, क्षुब्ध, और विकल–बेचैन, व्याकुल, आतुर, विवश रहते हैं तथा अपने शरीर की कुछ भी सम्हाल नहीं रहती है एवं उसके नेत्र रूप से भरकर, छककर, उन्मत्त होकर घूमते रहते हैं।

करनी अकरनी दोऊ सुधि भूली विधि निषेध सब रहे धरे।
श्रीनरहरीदास ते भये बावरे जे प्रेम प्रवाह परे॥१॥

देह का अभिमान न रहने से करनी–करनेयोग्य कर्तव्यकर्म और अकरनी–न करनेयोग्य कर्म इन दोनों की उसे सुधि ही नहीं रहती, भान ही नहीं रहता, तब फिर विधि-निषेध की ओर दृष्टि कैसी जाती? वे सब धरे रहे–पड़े रह जाते हैं। श्रीस्वामी नरहरिदेव जी कहते हैं कि जो इस उज्ज्वल प्रेम के प्रवाह में पड़ गये, वे सब

प्रेम-बावरे-मतवाले हो जाते हैं। उन्हें लोक-परलोक और शरीर की सुध ही रहती नहीं है।

लखी जिन लाल की मुसिक्यान।
तिनहिं बिसरी वेद विधि जप जोग संजम ध्यान॥
नेम व्रत आचार पूजा पाठ गीता ज्ञान।
रसिक भगवत दृग दई असि ऐंचि कै मुख म्यान॥४०॥

जिन परम कृपाप्राप्त जन ने लाल-श्रीनिकुंजविहारी की मृदु मधुर मुस्कान माधुरी को देख लिया, उन्हें वेद की विधि, जप, योग, संयम और ध्यानादि सबकी विस्मृति हो जाती हैं, वे सबको भूल जाते हैं तथा नियम, व्रत, आचार-सद्क्रिया, पूजा, पाठ और गीता के परमोज्ज्वल ज्ञान को भी भूल जाते हैं। उन्हें किसीकी भी सुध नहीं रहती है। श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं कि जैसे म्यान से असि-तलवार खिंचकर-मारकर फिर म्यान में दे-दे-बन्द कर दे, इसी प्रकार लाल-विहारी ने मुखरूप म्यान से मुस्कानरूप तलवार खिंचकर नेत्रों में मार दी और फिर मुखरूप म्यान में बन्द कर दी। उसकी कसक-पीड़ा सदा बनी रहती है। इसीलिये उनकी ऐसी उन्मत्तदशा हो गई।

आगे और भी कहते हैं-

काटै कूकर बावरौ जाकौ लागै भूत।
करै अमल तहँ आपनौ दाबि परायौ पूत॥
दाबि परायौ पूत प्रेम की यह गति जानौ।
जिय तें ईश्वर होय साखि ब्रज वधू बखानौ॥
भगवत रसिक अनन्य होय अद्‌भुत रस चाटै।
स्यामा स्याम बिहार नित्य तिहिं काल न काटै॥२६॥

जिसको बावला—पागल कुत्ता काट खाता है, उसमें कुत्ते का विष व्याप जाता है। वह कुत्ते के समान ही चेष्टा करते हुए भूस-भूस कर मरता है। जिसको भूत लग जाता है, उसमें भूत का आवेश आ जाता है। वह अपने को भूत ही मानता है, वही नाम बताता है, वही क्रिया करता है। पराये पुत्र को गोदी लेने पर वह सब सम्पत्ति को लेकर अपने ही अधीन—अधिकार में कर लेता है और अपना ही शासन चलाता है। इसी प्रकार प्रेम की भी ऐसी ही गति जानना चाहिये। प्रेम जिसे अपनाता है, उसे अपने से ओत-प्रोत, परिपूर्ण कर लेता है। प्रेम को प्राप्तकर जीव भी ईश्वर बन जाता है, ईश्वररूप—इष्टरूप हो जाता है। साक्षी—प्रमाण में व्रजवधु—व्रजगोपियों का वर्णन करते हैं। वे प्रेम से परिपूर्ण होकर श्रीकृष्णमयी बन गईं।

उपासक इस अद्भुत प्रेम को प्राप्तकर रसास्वादन-कुशल, परमचतुर रसिक-अनन्य होकर परम माधुर्य रसविलासी श्रीश्यामा-श्याम के नित्यविहार के अद्भुत रस के आस्वादन में उन्मुक्त, उन्मत्त होकर रत, तत्पर, तल्लीन हो जाता है।

बेकारयौ दै में एक और विशेष भाव है—

जितनी भी स्वकीया, परकीया, निकुंज आदि की रसमयी उपासनाएँ हैं, उनमें रस, भाव, प्रेम, रस-विलसन आदि की एकरसता, नित्य वर्धनशीलता और रसोच्छलनशीलता नहीं है। इसलिये वे (उपासक) रस-पथ के जानकार की कसौटी में नहीं टिकते और उनका मार्ग भी रसपथ के अनुरूप ठीक नहीं है।

मूल— काहू कौ सर सूधौ न परै मारत गाल गली गली हाट।

अर्थ—जब सच्चे प्रेम के विकार ही नहीं हैं और मार्ग-साधनपथ भी ठीक नहीं है, तभी तो किसीका सर—माने जहाज सूधा नहीं पड़ता है, अर्थात् ठिकाने पर नहीं पहुँचता है। अथवा तभी

तो किसीका सर–माने तीर सूधे लक्ष्य पर नहीं पड़ता है। केवल अपने को प्रेमी, रसिक, ज्ञानी–जानकार जताने–समझाने के लिये गली-गली और हाट–नाम बाजार में–अपने-अपने मार्ग में, अपने-अपने स्थान में गाल बजाते फिरते हैं–माने वितण्डावाद–निरर्थक तर्क, बहस करते हुए अपने पक्ष की स्थापना करते फिरते हैं, प्रेम की चर्चा या प्रदर्शन करते डोलते हैं। इसलिये उनका साधन ही ठीक कहाँ है?

गीता में कहा है–

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥१८-५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥५३॥

जो विशुद्ध सात्त्विकी बुद्धि से युक्त, वैराग्य के आश्रित, एकान्त का सेवन करनेवाला और नियमित भोजन करनेवाला साधक धैर्यपूर्वक इन्द्रियों का नियमन (निग्रह) करके, शरीर-वाणी-मन को वश में करके, शब्दादि विषयों का त्याग करके और राग-द्वेष को छोड़कर निरन्तर ध्यानयोग के परायण हो जाता है, वह अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह से (संग्रह करने, लेने से) रहित होकर एवं ममतारहित तथा शान्त होकर ब्रह्मप्राप्ति–श्रीहरि की प्राप्ति का पात्र हो जाता है।

वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः।
शुष्कवादविवादे न कञ्चित् पक्षं समाश्रयेत्॥

भा. ११-१८-३०

उस साधक को चाहिये कि वेदों के कर्मकाण्ड-भाग की व्याख्या में न लगे, पाखण्ड न करे। तर्क-वितर्क से बचे और जहाँ कोरा वाद-विवाद हो रहा हो, वहाँ कोई पक्ष न ले।

नोद्विजेत जनाद् धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
देहमुद्दिश्य पशुवद् वैरं कुर्यान्न केनचित्॥३१॥

वह इतना धैर्यवान् हो कि उसके मन में किसी भी प्राणी से उद्वेग (क्षोभ) न हो और वह स्वयं भी किसी प्राणी को उद्वेग न करे। उसकी कोई निन्दा करे, तो प्रसन्नता से सह ले, किसीका अपमान न करे। प्रिय उद्धव! संन्यासी इस शरीर के लिये किसीसे भी वैर न करे। ऐसा वैर तो पशु करते हैं।

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च॥३२॥

जैसे एक ही चन्द्रमा जल से भरे हुए विभिन्न पात्रों में अलग-अलग दिखायी देता है, वैसे ही एक ही परमात्मा समस्त प्राणियों में और अपने में भी स्थित है। सबकी आत्मा तो एक है ही, पञ्चभूतों से बने हुए शरीर भी सबके एक ही हैं, क्योंकि सब पाञ्चभौतिक ही तो हैं। ऐसी अवस्था में किसीसे भी वैर-विरोध करना अपना ही वैर-विरोध है।

लक्ष्य तक पहुँचने के लिये आचार्य—गुरु उपदेशित-आचरित भगवदीय अनन्य धर्म पथ पर अनुसरण करना अनिवार्य है।

सु धर्म सचौटी कसौटी कसै।
गाइ लै गाल बजाय समाइ क्यौं सोधि के सुद्ध रसै परसै।
सदाचार चलै गुरु ग्रन्थ मिलै मत ताइ तुलाइ कै चाइ घसै॥
श्रीबिहारी बिहारिनिदासि ह्वै चौकस
श्रीहरिदास के वास बसै विलसै।
धन्य धन्य अनन्य महा मरमी सु धर्म सचौटी कसौटी कसै॥७५॥

वे प्रेम रस भक्ति के सुदृढ़ अनन्य एवं महामर्मी–रस रहस्य के जानकार, चतुर परम धन्य-धन्य हैं, जो लोक-परलोक, सुख-दुःखादि की परवा न करके सु धर्म–निजधर्म परम श्रेष्ठ अनन्य भागवत धर्म, रसिक-अनन्य प्रेमधर्म की सच्चाई की कसौटी पर अपने तन-मन, प्राण, सर्वात्मा को कसते हैं, निर्भय, निश्चिन्त होकर उसका अनुसरण–सेवन करते हैं। ऐसे अनन्य निजधर्म के सेवन के बिना चाहे जितना गुण गा ले–प्रेम रस के कितने ही गुण गा ले, यह सब गाल बजाना–वितण्डावाद–निरर्थक तर्क, बहस करते हुए अपने पक्ष की स्थापना करता फिरे, किन्तु उनकी निज प्रेम-रस देश में समायी क्यों हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती है। जब नित्य रस और नैमित्य रस की अर्थात् नित्य निकुंज में नित्य-निरन्तर एकरस केलि-विहार हो रहा है, उस नित्य रस और अवतार लीला एवं स्वकीया, परकीया, निकुंज रस-लीला-विहार आदि जो नित्य रस के प्रेम के पोषक–साधन हैं, इस नैमित्य रस की संधि को शोधकर-निर्णयकर शुद्ध वस्तु का सेवन करेंगे, तभी शुद्ध रस, निज धर्म की प्राप्ति होगी। इसके बिना कैसे प्राप्ति हो सकती है?

इस निज रस धर्म का सेवन तभी सफल होगा, जब सदाचार पर चलोगे, अर्थात् रसिक-अनन्य महापुरुष-सत्पुरुष जैसे सदाचरण कर गये हैं, जिस रहनी से रह गये हैं, जैसी करनी कर गये हैं, उसी प्रकार सद्भावपूर्वक चलोगे तथा रसिक-अनन्य सद्गुरु के उपदेश के अनुसार तन-मन-प्राण, सर्वात्मा से भाव और आचरण को मिलाकर एवं भागवत, गीता आदि भक्ति ग्रन्थ तथा रसिक महानुभावों की वाणी-ग्रन्थ से अपने मत–विचार, भाव को मिलाकर चलोगे। इतना ही नहीं, फिर उनके अनुसार ताय–माने तपाकर अर्थात् साधन-आचरण द्वारा तपाकर, शुद्धकर, फिर ज्ञान-विचाररूप तराजू में उनके

समान—बराबर तौलकर अपनी चाय—चाह, रुचि को घिसोगे अर्थात् घिसकर उनकी रुचि में रुचि को मिलाओगे, तब तुम्हारा अहं-ममरूप जीवभाव नष्ट होकर नित्य निकुंजविहारी-विहारिणि की दासी होकर रस-सेवा का अधिकार प्राप्त होगा। फिर भी विघ्न आ सकते हैं।

इसलिये कहते हैं-

ह्वै चौकस श्रीहरिदास के वास वसै विलसै।

चौकस—माने सावधान होकर कि मन में अन्य रसों का, अन्य बातों का प्रवेश तो नहीं हो रहा है। अन्य वस्तु, वृत्ति, क्रिया आदि का असर तो नहीं हो रहा है। इस प्रकार सावधान होकर रसिक-अनन्य शिरोमणि, नित्यविहार रस-आधार श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के चरणकमलों को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करोगे, उनके अंग-संग रहोगे, उनमें सदा वास करोगे, तब वास को विलसोगे—उनके संग नित्य रूप को विलसोगे, सेवन करोगे, रसास्वादन करोगे।

यही नित्य रस-प्राप्ति की प्रक्रिया है, विधा है।

इस रस-सिद्धान्त के बिना, इस रीति के बिना गली-गली, हाट-बाजार में प्रेम-सम्बन्धी-चर्चा करते फिरते हैं, गाल मारते—बजाते फिरते हैं तथा धन, मान के लोभ से अथवा स्वभाव-दोष से बनावटी प्रेम के चिह्न प्रकट करके अपने को प्रेमी कहलाने की चेष्टा करते फिरते हैं, वे कोई भी लक्ष्य पर पहुँचने में समर्थ नहीं होते हैं। वास्तव में वे लक्ष्य से गिरे हुए हैं।

इन्द्रिन के सुख स्वारथ आरत बात बनाइ गढ़ै गढ़ि छोलैं।
परमारथ प्रीति न पूजा की रीति पुरान की पोथी पचीसक खोलैं॥
वृन्दावन धाम सकाम बसै सठ दै नग लेत विषै खरि तोलै।
श्रीबिहारी बिहारिनिदासि विस्वास न प्रेम बिना झखमारत डोलैं॥१०६॥

जिनको श्रीहरि का प्रेम ही चरम–परम पदार्थ है, वही प्राप्त करनेयोग्य है, इस प्रकार के लक्ष्य का सुदृढ़ ज्ञान नहीं होता, वे संसार के असत्य, भ्रमरूप विषयों में सुख मानकर भटकते रहते हैं। वे इन्द्रियों के विषरूप विषय-सुख के लिए, अपने स्वार्थ के लिये आर्त–बेचैन, व्याकुल होकर अनेक प्रकार की भक्ति-प्रेम-ज्ञान की बातें बनाते हैं। उनकी परमार्थ–परम धन-भगवत्-प्रेम, भक्ति में प्रीति–प्रेम नहीं है और श्रीहरि में भी प्रेम नहीं है। वे केवल लोग दिखाने–रिझाने के लिये अनेक रीति–ढंग से पूजा का आडम्बर–दिखावा, ठाट-बाट करते हैं। लोग दिखावे के लिये पुराणों की पच्चीसक–अनेक पोथियों को खोलते हैं-पड़ते हुए दिखाते हैं।

कभी परम सौभाग्य से श्रीवृन्दावन धाम का वास मिला भी तो वे शठ, मूर्ख, प्रेमभक्तिशून्य हो, लोक-परलोक की अनेक कामनाओं को लेकर बसते हैं। उनका दिव्य चिन्तामणिस्वरूप परम रसमय धाम में बसना ऐसा है कि जैसे कोई मूर्ख नग–हीरे, मणि, जवाहरात के बदले खली को तोलकर मोल ले। इसी प्रकार वे शठ धाम के पवित्र वास और अमूल्य जीवनरूप हीरे-मणि के बदले तोलकर विषयरूप खली मोल लेकर सेवन करते हैं। उन्हें परम प्रेम माधुर्य स्नेह एवं कृपा के सिन्धु श्रीविहारी-विहारिणि और श्रीस्वामी जी या उनके रसिक-सन्तजनों का विश्वास नहीं है। उनके प्रति श्रद्धा-विश्वास के बिना वे प्रेम से शून्य हैं। प्रेम के बिना झख मारते–झीखते-बेकार काम करते हुए, समय बरबाद करते हुए, दु:खी होते हुए, दु:खड़ा रोते हुए डोलते फिरते हैं।

चरचा कौं सब जग फिरै वस्तु न चरचै कोइ।
हारि जीति अटकै सबै तनु धन जोवन जोइ।।

तनु धन जोवन जोइ भये गुरु मानी डोलैं।
पर की सुनैं न बात आपनी गढ़ि गढ़ि छोलैं।।
भगवत रसिक अनन्य कियौ नहिं तिनसौं परचा।
लरैं वृषभ लौं दौरि पौरि पर तजैं न चरचा।।२२।।

सारा संसार चर्चा के लिये चर्चा–बात करने में आसक्त होकर घूमता फिरता है। परन्तु कोई भी नित्य, सत्य, प्रेममयी वस्तु की चर्चा नहीं करते। चर्चा में–विवाद में एक की हार या जीत होती है, उसीमें सब अटके हुए हैं–हार में दु:खी, खिन्न होते हैं और जीत में घमण्ड में फूले नहीं समाते हैं। उनका तन, धन, यौवन, स्त्री आदि विषयसुख ही लक्ष्य है। उसीमें आसक्त हो जीवन को व्यर्थ नष्ट करते हुए अपने को मानी–सम्माननीय, गुरुपथ-प्रदर्शक मानते हुए डोलते रहते हैं। दूसरे क्या कहते हैं, उनकी तो बात ही नहीं सुनते हैं, अपनी गढ़-गढ़–बना-बनाकर, नई-नई उक्ति-युक्ति बनाकर बातें बनाते फिरते हैं।

श्रीस्वामी भगवतरसिकदेव जी कहते हैं कि इन लोगों ने जो रसिक-अनन्य महापुरुष हैं, उनसों परचा–जान-पहचान नहीं की, उनका संग नहीं किया, इसलिये इनकी ऐसी विमुख, दयनीय दशा है। इसीलिये वृषभ-साँड के समान गर्व में भरकर, दौड़कर पौरी पर लड़ते-भिड़ते हैं और असत् चर्चा को छोड़ते नहीं हैं।

श्रीस्वामी नागरीदेव जी कहते हैं–

आप कहावत रसिक कृपन मति, कायर मत्सर लोभ लिबास।
ठग बग डिंभी कपट प्रेम बिनु, तिनहिं न मन विस्वास।।९।।

ये आप अपने को रसिक कहाते हैं, किन्तु उनकी मति कृपण–इन्द्रिय विषय-सुख में लालायित, आतुर है, कायर–सहनशीलता रहित हैं, ईर्ष्या से भरे हुए हैं और वे तन-मन से लोभ का

लिबास–बाना–भेस पहने हुए हैं। बगुले के समान मुद्रा लगानेवाले ठग हैं, दम्भी हैं, कपटी हैं और उनका हृदय प्रेम से शून्य है। जो ऐसे हैं, उनके मन में श्रद्धा–विश्वास नहीं है। विश्वास ही भाव–भक्ति का मूल है और भाव–भक्ति से ही प्रेम की प्राप्ति होती है।

भक्ति भाव विस्वास न उपजै, घर घर रसिक कहाई।
बिन अनन्य संसार सिन्धु में, फिरि फिरि गोता खाई॥१०॥

उनके मन में श्रद्धा–विश्वास और भक्ति–भाव तो उपजता नहीं, प्राप्त होता नहीं, अर्थात् भक्ति–भाव–विश्वास तो है नहीं और घर–घर में रसिक कहाते हैं–रस की चर्चा करते हैं, माननीय रसिक कहाते हैं। संसार में भले ही रसिक कहाते रहें, किन्तु बिना अनन्य–अनन्य भाव से भक्ति–भजन के संसार–सिन्धु में पुनः–पुनः–बार–बार गोता–डुबकी खाते रहेंगे, अर्थात् भटकते रहेंगे।

श्रीगुरु सन्धि सुभाव न पावत, गावत जग जस धूता।
बिना अनन्य बिहारै चाहत, क्यौं पावहुगे पूता॥११॥

वे श्रीगुरु–श्रीस्वामी जी महाराज के रसिक–अनन्य धर्म की सन्धि और स्वभाव को अर्थात् उनके अनन्य धर्म के रहस्य, मर्म को और उनके सरस नित्य केलि–रसमय स्वभाव को तो प्राप्त करते नहीं, जानते नहीं और धूर्त! संसार के यश को गाते फिरते हैं। श्रद्धा–भक्ति–भाव से ही अनन्य धर्म की संधि और स्वभाव के रहस्य को जान सकते हैं। पुत्रो! इसके बिना अनन्य भजन बनता नहीं और अनन्य भजन के बिना विहार को, जिसे चाहते हो, कैसे पाओगे? अर्थात् पाना बहुत कठिन है।

नादी नृत्य निपुन बहु बादी, स्वादी मिल्यौ न कोई।
श्रीनागरीदास अनन्य बिन, सब गये चतुर गथ खोई॥१२॥

कोई नादी—नादकला—संगीतकला में निपुण है, कोई नृत्यकला में निपुण है, कोई अनेक कलाओं में निपुण है और कोई बहु बादी—बहुत से शास्त्र-ज्ञान में, वाद-विवाद में निपुण है, वाणी-ग्रन्थ के ज्ञान में निपुण है; किन्तु कोई भी स्वादी—प्रेमरस का स्वादी—रसास्वादन करनेवाला अनुभवी नहीं मिला, जो निरन्तर श्रीयुगल के महामधुर रस में तल्लीन, तत्पर रहता हो।

इसका आशय यह नहीं कि रसास्वादी उपासक में गुण नहीं होते हैं। उनमें भी ये गुण होते हैं, हो सकते हैं, किन्तु वे सब इष्ट के सुख के लिये होते हैं, रसास्वादन के अनुकूल होते हैं।

श्रीस्वामी नागरीदेव जी कहते हैं कि मन, वाणी, शरीर, सर्वात्मा से अनन्य भजन—निरन्तर एकरस भजन के बिना जितने सब चतुर हैं, वे सब गथ—पूँजी—अपनी जीवनरूप पूँजी, सुकृतरूप पूँजी खोकर चले गये-आवागमन में भटक गये।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं—

बातैं कहत बिहार की, गरै पर्‌यौ जंजाल।
महल टहल तें जानियै, कहा बजायै गाल॥३७४॥

श्रीप्रियालाल के मधुर विहार रस की बातें—चर्चा विस्तार पूर्वक कहते हैं, रस-कथा कहने में अति निपुण हैं। किन्तु गले में माया-मोह, विषयासक्तिरूप जंजाल पड़ा है, उस माया—प्रपंच में जकड़े पड़े हैं, तो फिर गाल बजाने से—वितण्डावाद करने से क्या होगा? जब नित्य सखीस्वरूप से निकुंज महल की टहल—सेवा मिल जाय, तभी जानो कि हमारा मार्ग ठीक रहा, अब ठीक जगह में—परम पद में पहुँच गये, धन्य धन्य-कृतकृत्य हो गये।

मूल—कहिं श्रीहरिदास जानि ठाकुर बिहारी तकत ओट पाट॥१८॥

अर्थ—रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज कहते हैं कि सब वस्तुओं के सामान्यतः और विशेषतः जाननवाले ठाकुर (प्रभु, ईश्वर) श्रीविहारी जी हैं। वे पाट-नाम आच्छादक-वस्त्रादिक

की ओट—नाम आड़ देकर तकत—माने सबको देख रहे हैं। अर्थात् मायारूप चिक जीव और ईश्वर के बीच पड़ी है। जैसे चिक के भीतर बैठा हुआ मनुष्य बाहर के व्यक्तियों को देखता है, परन्तु बाहर के उसको नहीं देख सकते। ऐसे ही मायारूप चिक के भीतर स्थित ईश्वर सबको देखते हैं और उनको कोई नहीं देख सकते।

अथवा प्रेम-रस का स्वरूप जानना चाहते हो तो अपने भावरूप परदे को हटाकर ठाकुर श्रीविहारी जी से भाव जोड़ो और उनके प्रेम रस के स्वरूप को जानो, पहचानो। वे सबके शासक, ईश्वर होते हुए भी अपनी श्रीप्राणप्रिया की रुचि लिये हुए सदा-सर्वदा एकरस अपने नित्य केलि-विहार रस में मग्न, तत्पर रहते हैं, उनका सेवन करते हैं।

भावार्थ—शास्त्र में लिखा हैं—

कोद्धा वेद यत आवभूव त्वं हि त्वां वेत्थ योऽसि सोऽसि।
न ते विष्णो जायमानो जातो देवस्य महिम्नः परमं तमाप।।

कौन ऐसा है जो आपको जान सके? आप जो हो, जैसे हो, सो हो, आपही आपको जानते हैं।

हे हरि! आपको प्रकट करनेवाला न हुआ, न होगा। आप न कभी हुए, न होंगे। हे देव! आप तो अपनी महिमा में नित्य एकरस विराजते हैं। ऐसे परम श्रेष्ठ श्रीहरि हैं, उनको भजो, प्राप्त करो।

योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद।

हे अङ्ग! इस सर्व प्रकृति का जो अध्यक्ष—स्वामी, ईश्वर हैं, चलानेवाले हैं, वह परम व्योम—परम पद—परम धाम में विराजते हैं। यदि वे न जनावें तो उनको कोई नहीं जान सकता। वे ही अपने को जानते हैं।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न वेदिता नैव तस्य लिङ्गं
न तं विदाथ य इमा जजान।

जिसने इस प्रकृति को उत्पन्न किया, उसका कोई पति–स्वामी नहीं है। संसार में उसे कोई नहीं जानता है और उसका कोई लिङ्ग–लक्षण, चिह्न नहीं है, जिससे जान सके तथा उसे किसीने नहीं जाना। सब उनके उत्पन्न किये हुए हैं।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

जिसे बिना प्राप्त किये वाणी भी मन के साथ लौट आती है।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन।। इत्यादिश्रुतिषु।।

वह ब्रह्म–श्रीहरि आनन्दरूप हैं, परमानन्द स्वरूप हैं। उनको जानकर–प्राप्तकर विद्वान्–भक्त कहीं भी, किसीसे भी नहीं डरता है। इस प्रकार अनेक प्रकार से श्रुतियों–वेदों ने वर्णन किया है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।

गीता.७–२६

हे अर्जुन! जो प्राणी भूतकाल में हो चुके हैं तथा जो वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे, उन सब प्राणियों को तो मैं जानता हूँ। परन्तु मुझे भक्त के सिवाय कोई भी नहीं जानता।

यं नायं भगवान् ब्रह्मा जानाति परमं पदम्।
तं नताः स्म जगद्धाम सर्वं सर्वगाच्युतम्।।

श्रीहरि के जिस परम पद–परम धाम को भगवान् ब्रह्मा भी नहीं जानते हैं, उन सर्वस्वरूप, जगन्निवास, सर्वव्यापक, परम प्रभु अच्युत श्रीहरि को हम नमस्कार करते हैं।

यं न देवा न मुनयो न चाहं न शङ्करः।
जानाति परमेशस्य तद्विष्णोः परमं पदम्।।

जिन परमेश्वर श्रीहरि के परम तत्त्व, स्वरूप को न देवता, न मुनि, न मैं–ब्रह्मा और न शंकर ही जानते हैं, उन श्रीहरि का वह परम रहस्यमय परम पद–परम धाम है, उसे नमस्कार है।

प्रजापतिं च रुद्रं च सृजामि च हरामि च।
केपि मां नहि जानन्ति मम माया विमोहिताः॥ इत्यादि–वाराह संहिता

भगवान् श्रीहरि पृथ्वी देवी से कहते हैं कि मैं पुनः-पुनः सृष्टि के आरम्भ काल में ब्रह्मा और शंकर की सर्जना–रचना करता हूँ एवं प्रलयकाल उपस्थित होने पर उनका हरण कर लेता हूँ, किन्तु मेरी माया से मोहित होने से कोई भी मुझे जानता नहीं है। इत्यादि अनेक शास्त्र के वचन प्रमाणित हैं।

भाव यह है कि परम कृपामय रसिक–अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी जी महाराज ने भक्ति–मार्ग के बाधक काम–क्रोध, लोभ, मदादि दोषों से बचने के लिये बार–बार चेतावनी दी, भक्ति–तत्त्व का सरस सिद्धान्त प्रकाशित किया। अब इस प्रस्तुत पद में प्रेम–रस तत्त्व का वर्णन करते हुए प्रेम–रस के विरोधी–विघ्नस्वरूप अभिमान और दम्भ दोष की ओर संकेत कर रहे हैं।

इस मार्ग में विशेषरूप से दीनता और सरलता ही परम सहायक हैं एवं अभिमान तथा दम्भ प्रबल बाधक हैं। हृदय में तनिक भी रसानुभूति न होना और बाहर नाना प्रकार के बनावटी हाव–भाव का आडम्बर–ढोंग करना ही दम्भ है। श्रीस्वामी जी महाराज ऐसे दम्भी लोगों को लक्ष्य करके चेतावनी देते हुए कह रहे हैं कि अरे मूढ़जनो! अनुभवैकगम्य एवं श्रीहरिस्वरूप उज्ज्वल प्रेम जैसी अत्यन्त दुर्लभ वस्तु को वाणी और उससे सम्बन्ध रखनेवाली बनावटी चेष्टाओं के द्वारा दिखावट करके दिखा रहे हो? सबके

अन्तर–हृदय में निवास करनेवाले सर्वेश्वर, सर्वनियामक श्रीविहारी जी मायारूपी चिक की ओट से तुम्हारी प्रत्येक चेष्टाओं–क्रियाओं को देख रहे हैं, निरीक्षण कर रहे हैं। उन सर्वव्यापक प्रभु से अपने कपट को कैसे छिपा सकते हो?

श्रीमद्‌भागवत में श्रीअक्रूर जी के वचन हैं–

न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक्।
योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा।।

भा.१०–३८–१८

यद्यपि मैं कंस का दूत हूँ। उसीके भेजने से उनके पास जा रहा हूँ। कहीं वे मुझे अपना शत्रु तो न समझ बैठैगे? नहीं, नहीं, वे ऐसा कदापि नहीं समझ सकते। क्योंकि वे निर्विकार हैं, सम हैं, अच्युत हैं, सारे विश्व के साक्षी हैं, सर्वज्ञ हैं, वे चित्त के बाहर भी हैं और भीतर भी। वे क्षेत्रज्ञरूप से स्थित होकर अन्तःकरण की एक-एक चेष्टा को अपनी निर्मल ज्ञान–दृष्टि के द्वारा देखते रहते हैं।

स्याम सब ही के जिय की जानत हैं।
करत भक्ति व्यौपार लोभ लगि ताहि कहा कछु मानत हैं।।
अन्तरजामी सब के स्वामी सहज प्रीति पहिचानत हैं।
श्रीबिहारीदास निहकामनि कीरति श्रीमुख वरनि बखानत हैं।।३०७।।

श्यामसुन्दर–श्रीविहारी जी सबके जिय–हृदय की जानते हैं। उनकी पारदर्शी दृष्टि के आगे कुछ भी छिपा नहीं रहता। जो उनकी भक्ति लोभ के कारण करते हैं, वे तो भक्ति का व्यौपार करते हैं। उनका तो अपने सुख से सम्बन्ध है, उनसे कोई मतलब नहीं। वे (श्रीहरि) उसे कुछ भी नहीं मानते हैं; उससे रीझते नहीं हैं। क्योंकि वे अन्तर्यामी–हृदय में निवास करनेवाले हैं। बाहर–भीतर की सब बातों को जानते हैं, देखते हैं और ब्रह्मा, शंकर आदि सबके स्वामी हैं, नियामक हैं। वे

सहज–स्वाभाविक, निश्छल, निर्मल, निष्काम प्रीति को पहचानते हैं। वे उसीसे प्रेम करते हैं, वही उन्हें प्यारी है। गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि श्रीविहारी जी को निष्कामजनों–जो उनके सुख, सेवा के अतिरिक्त लोक, परलोक की वस्तु और मोक्ष आदि कुछ भी नहीं चाहते, ऐसे निर्मल निष्कामीजनों की कीर्ति–सुयश को वे अपने श्रीमुख से बार–बार वर्णन करते हुए सराहते हैं।

लोभ कौ डिम्भ कियैं न हियैं हरि हेत बिना भ्रम भूलि फसे।
गुरु इष्ट सौं प्रेम न नेम कछू धृग धृग महाकाल ब्याल डसे॥
नित्त नागरीदास विलास बिना रुचि मानौं विषै खरि खात भुसे।
माया प्रपंच कुसंग बँधे सठ कामिनि काम कुरोग ग्रसे॥२१॥

जो लोभ के कारण अनेक प्रकार का दम्भ–ढोंग–दिखावा करते हैं, उनके हृदय में श्रीहरि का उज्ज्वल हेत–प्रेम नहीं होता है। वे माया-मोह भ्रम में भूले हुए फँसे रहते हैं। वे इतने मोहान्ध रहते हैं कि अपना कल्याण कैसे हो, इसका विचारतक भी नहीं कर पाते हैं। इसी कारण वे न तो गुरु–इष्ट सों प्रेम कर पाते और न ही उस प्रेम के लिये कुछ नेम–साधन, प्रयत्न कर पाते हैं। श्रीआचार्यचरण कहते हैं कि ऐसे लोगों को बार-बार धिक्कार है। वे महाकालरूप ब्याल–सर्प के डसे हुए हैं, इसलिये ऐसे भ्रमित हो रहे हैं। श्रीस्वामी नागरीदेव जी कहते हैं कि नित्य श्रीनागरीदास–श्रीविहारी-विहारिणि और श्रीस्वामी जी महाराज के नित्य विलास–विहार रस-अमृत के बिना उनकी रुचि विषय-सेवन में है, मानो अमृत को छोड़कर विषयरूप खली को खाते हैं और भुसते हैं–बहुत-सी बातों की डींग मारते हैं। अथवा पशुवत् कण–साररहित भुस को खाते हैं। इसी विमुखता के कारण वे शठ मायाप्रपंच–मायाजाल के कुसंग में बँधे रहते हैं, अथवा माया-प्रपंच और दु:खमय कुसंग में बँधे रहते हैं और

कामिनी—स्त्री और कामरूप कुरोग—भयंकर दुःखदाई रोग से ग्रसे—युक्त—पीड़ित रहते हैं।

श्रीनारद जी ने भक्ति सूत्र में कहा हैं—

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्॥६४॥

अभिमान, दम्भ आदि दुर्गुणों का त्याग करना चाहिये।

श्रीस्वामी रसिकदेव जी कहते हैं-

साँचौ ह्वै थोरौ अनुसरै। दीन दयाल कृपा अति करैं।।

सच्चा—भीतर-बाहर एक-सा और एकनिष्ठ होकर थोड़ा भी अनुसरण करने—लगने से ही वे दीनदयाल द्रवित हो जाते हैं और अत्यन्त कृपा की वर्षा करते हैं।

श्रीस्वामी सरसदेव जी कहते हैं-

सहज बनी है बानि तहाँ न हित की हानि
यहै निजु जिय जानि साँच ही सुभाव है।
ऐंचि खैंचि बनै न तू औगुन गुन गनै रे
करि देखि जतन सौ बादि कौं खिजाव है॥
वेद पोथी न लिखंत सहज जहाँ ममंत
तहाँ न सुख कौ अन्त छिन छिन चाव है।
लोभ छोभ छाँड़ि दै तू सुखहि समझि लै
सरस परसिवे कौं और न उपाव है॥२६॥

श्रीहरि—प्रियालाल-श्रीस्वामी जी महाराज की सहज बान—आदत, टेव बनी हुई है—अपने जन पर कृपा करने की, स्नेह-प्रेम करने की, अपनाने की। वहाँ पर हित—प्रेम की हानि—कमी नहीं है। वे अकारण कृपा के, स्नेह, प्रेम के असीम, अपार, अगाध सागर हैं। यह तुम अपने जिय में खास—मुख्यरूप में जान लो और

यह भी जान लो कि उनका साँच–सच्चा ही स्वभाव है। उन्हें अन्य का आश्रयवाला अन्य की रुचिवाला सुहाता नहीं है। वे साँचे–सच्चे हैं, इसी प्रकार उन्हें सच्चा जन ही प्रिय है, जो उनके अलावा अन्य को न जानता हो। उसे वे अपने हृदय का हार बना लेते हैं।

ऐंच-खैंच से–जबरदस्ती, खैंचातानी करने से काम बनता नहीं, अर्थात् ज्ञान, रूप, गुण आदि के बल से अपने को प्रेमी कहाने से प्रेमी नहीं बन जाते, सच्चे नहीं बन जाते, भक्ति की रीति से ही सच्चे और प्रेमी बनते हैं। और तू तो औरों के अवगुण–दोष एवं गुणों को गिनता, बखान करता रहता है। सर्वत्र समभाव से इष्ट को देखे बिना निर्वाह कैसे होगा? इसके बिना सैकड़ों यत्न-उपाय करके देख लो, उलटे वे खीजेंगे। इसलिये सच्चा बनकर उनका सेवन–अनुसरण कर, जिससे तुझे अद्भुत, अनुपम परात्पर वस्तु (प्रेम-तत्त्व) प्राप्त होगी। वेद-शास्त्र एवं ग्रन्थादि में जिसका स्वरूप वर्णित नहीं है, केवल संकेत ही करते हैं। जहाँ सहज–स्वाभाविक, सदा से अत्यन्त ममता है, क्योंकि सब सारों का सार, सब तत्त्वों का तत्त्व इष्ट में अत्यन्त ममतापूर्ण एकता का होना ही है; वहाँ–परमधाम-नित्य निकुंज में सुख का अन्त–छोर, कमी नहीं है, उसमें भी प्रतिक्षण नित्य-नवीन एवं चमत्कारपूर्ण होने से क्षण-क्षण में चाव–रुचि, उत्साह, उत्कण्ठा बढ़ती ही जाती है।

श्रीस्वामी सरसदेव जी कहते हैं कि उस नित्य परम सुख को प्राप्त करने के लिये लोभ-क्षोभ–इष्ट के अतिरिक्त अन्य वस्तु का लोभ और प्रतिकूल की प्राप्ति से क्षोभ–व्याकुलता, बैचेनी को अथवा लोभ के क्षोभ को छोड़ दे तथा नित्य सुख–परम प्रेम-रस सुख को समझकर–जानकर तन-मन-प्राण सर्वात्मा से ग्रहण कर, सेवन कर, अनुसरण कर, एक यही उपाय है, और–दूसरा उपाय-साधन नहीं हैं।

भाव यह हैं कि श्रीस्वामी जी महाराज के निजरस-नित्य विहाररस के सम्बन्ध में निजमतकार महान्त श्रीकिशोरदास जी कहते हैं-

सर्वोपरि सरवस सबनि, सकल सार कौ सार।
सब तत्त्वनि कौ तत्त्व मनि, सो सुख नित्य बिहार॥

सबसे ऊपर-परम श्रेष्ठ, सबों का सर्वस्व, सर्वसार कौ सार, सभी तत्त्वों का भी तत्त्वमणि, वह सुख-दम्पति-प्रियालाल का सुख नित्य विहार है।

वह ब्रह्मानन्द स्वच्छन्द सुख का एवं महामधुर प्रेम-रस का भी सारातिसार सुख नित्य विहार रस अति दुर्लभ है। उस सुख के अधिकारी तो एकमात्र रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज ही हैं। यह प्रेम-समुद्र, जिसका वार-पार, मध्य-तीर कुछ भी नहीं है, जिसका वर्णन इस पद में किया हुआ है। उसीके बीच में उस महामधुर रसानन्द का भी सार-सर्वस्व निज नित्य विहार रसरूपी रत्न की खानि है। उस समुद्र के पार जाने के लिये और उस परम रससार वस्तु को प्राप्त करने के लिये तो एकमात्र श्रीस्वामी जी महाराज के श्रीचरणों का ही अनन्य आश्रय ग्रहण करना परमावश्यक है।

यद्यपि श्रीवृन्दावन के जितने भी उपासक-आचार्य हुए हैं, वे सभी माधुर्य रस के रसिक-उपासक हैं, परन्तु श्रीस्वामी जी महाराज की रसवस्तु सभी से विलक्षण है, सर्वोपरि है। श्रीस्वामी जी महाराज की कृपा के बिना उस रससार नित्यविहार की प्राप्ति किसीको भी नहीं हो सकती है।

अथवा **जानि ठाकुर विहारी** में विशेष भाव यह हैं कि परम उज्ज्वल मधुर प्रेम-रस के स्वरूप को जानना चाहते हो तो ठाकुर श्रीविहारी जी के प्रेमस्वरूप को जानो-पहचानो। नित्यविहार

रस में ही प्रेम का सहज (वास्तविक) शुद्धस्वरूप अत्यन्त उज्ज्वलरूप में प्रकाशमान विराजमान है। ठाकुर श्रीविहारी जी अपने सब ऐश्वर्य को, ठकुराई को भूलकर प्राणप्रिया की रुचि-सुख को, दृष्टि को लेकर सदा उनके सेवन में तत्पर रहते हुए भी प्रेम-रस की याचना करते रहते हैं। प्राण-प्रिया श्रीकुंजविहारिनि लाड़िली के संग अति अद्भुत महाप्रेम-रस समुद्र में रात्रि-दिन एकरस उन्मत्ततापूर्वक विहार करते हुए अनेक काल-युग बीत गये, पर हृदय में प्रेम-रस की उच्छलन-उमड़न इतनी तीव्र और विलक्षण है कि अभी ही मिले, ऐसा ही भान रहता है, इसलिये विरह-विकलता, मिलन की तीव्र आतुरता बढ़ती ही जाती है। वे सदा ही प्रिया के चरणों में पड़कर उनकी कृपा को मनाते हुए अपने को परम धन्य, परम निहाल मानते हैं, चरणों में पड़ने से प्राणों का पालन हो गया, ऐसा मानते–अनुभव करते हैं। इसी प्रकार की विचित्र प्रेम-रसमयी दशा श्रीकुंजविहारिणि–लाड़िली प्रिया जी की भी है। दोनों प्रेम-रस के प्रबल, समान शूरवीर हैं। एक-दूसरे को सुख देने के लिये दोनों की सदा–नित्य होड़-सी लगी ही रहती है, फिर भी रस प्राप्ति के लिए, रसास्वादन के लिए सदा विह्वल-विकल रहते हैं।

इन दोनों के हृदय के प्रेम-रस की मूर्तिस्वरूपा सखी का भी प्रेम-रस अति विलक्षण है। वह दोनों के उमड़ते हुए हृदय के, प्राणों के प्रेम-रस भावों को जानकर उसीके अनुकूल विचित्र लाड़ लड़ाती, सुख देती हुई युगलवर को रस निमग्न रखती है। वह उमड़ते हुए नित्यविहार रस-समुद्र की विहाररूप अति आवर्त–भँवर में पड़े हुए विह्वल-विकल दम्पति को धैर्य–साहस बँधाते हुए उस विचित्र, अनूप, तीव्र, तीक्ष्ण रस-आवर्त में तैराती–विहार कराती हुई रसोन्मत्त रखती है।

श्रीस्वामी जी महाराज का कहना है कि यह श्रीविहारी जी का विचित्र प्रेम-रसमय स्वरूप है। उनके स्वभाव को जानकर उनका सेवन करो, तब अति उज्ज्वल-प्रेमस्वरूप श्रीविहारी जी की प्राप्ति होगी और तभी परम प्रवीण रसिक ज्ञानी–जानकार कहाओगे। किन्तु तुम तो भावरूप पाट–परदे की ओट से ताकते–देखते हो और वे भी तुम्हारे भावों को देखते हुए उसीके अनुरूप प्रेम-रस सुख प्रदान करते हैं। जैसे एक ही सूर्य अपने निजस्वरूप में सहजतया अति विलक्षणरूप में अति प्रकाशमान होते हुए ही पात्रानुरूप भिन्न-भिन्नरूप में प्रतिभासित होता है। इसी प्रकार एक ही परम प्रेम-रस माधुर्यस्वरूप रस-रसिक श्रीनित्यकुंजविहारी का अति विलक्षण, अत्यद्भुत परम रस सुखस्वरूप, सुखदायी नित्यविहार रस रसिक-हृदयपात्रों में भिन्न-भिन्नरूप से प्रकाशमान होकर प्रेम-रस सुख का विस्तार करते हुए विलासरस का वर्द्धनकर विराजमान हो रहा है। किन्तु इनसे अति विलक्षण श्रीनित्यकुंजविहारी तो अपने सहज रसमय कौतूहलस्वरूप में परम सुखदायी नित्यविहार रस में परायण, तत्पर एवं उन्मत्तापूर्वक नित्य विराजमान हैं ही। यह सब श्रीललितास्वरूप रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के हृदय के परम प्रेम-रस का ही प्रभाव-प्रताप है। यह सब रस वैभव उन्हीं का है। वे ही इसके आधार हैं और इसकी उपलब्धि–प्राप्ति भी एकमात्र उन्हींके श्रीचरणों के अनन्य आश्रय से ही है। उनके श्रीचरणों का आश्रय लिये बिना इसकी प्राप्ति सबको ही अत्यन्त दुर्लभ है।

रसिक-अनन्य मुकुटमणि गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि वही श्रीनित्यकुंजविहारी सब रसिक-महानुभावों के भावानुसार भिन्न-भिन्न रसरूप में उन सबका पोषण करते हैं और उनके सेवा-सुख को ग्रहण करते हैं।

सुखद बिहार श्रीहरिदास कौ अधार है।
काहू सूझै चोर जार काहू सूझै बट पार
काहू आनन्द उदार दीठि कौ विकार है।।
काहू सूझै सुकुँवार काहू कर धरै भार
काहू द्वार परदार ताहू कौ विचार है।
काहू सूझै मारधार काहू सौं मानसाचार
काहू कै कंठ सिंगार जासौं जैसौ ढार है।।
श्रीबिहारिनिदासि सार भजि लै तजि जंजार
सुखद बिहार श्रीहरिदास कौ अधार है।।४५।।

परम माधुर्य रसमय सुखस्वरूप और सरस सुख को देनेवाले श्रीनित्यकुंजविहारी का सरस सुखदायी विहार ही रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज का आधार–अवलम्वन, आश्रय, जीवन-सर्वस्व है। अथवा रसिक-अनन्यजनों का आधार–जीवन-सर्वस्व है।अथवा श्रीस्वामी जी महाराज का यह सरस सुखदायी विहार ही सब रस का, सब सुख का आधार, मूल, अवलम्बन, आश्रय, जीवन-सर्वस्व है। यही सब रसरूप में है, यही सब की गति है और इसके बिना किसीका अस्तित्व ही नहीं है।

सरस नित्यविहारस्वरूप श्रीनित्यकुंजविहारी ही किसीको माखनचोररूप में–वात्सल्यरसरूप में दिखते हैं, वह उसी रूप में अनुभव करता है और किसीको जार–परपुरुष-उपपति–प्रेमीरूप में–शृंगाररसरूप में दिखते हैं। वे ही किसीको बटपार–मार्ग में दही लूटनेवाले दानविहारीरूप में–सख्यरसरूप में दिखते हैं। वे ही किसीको आनन्द-उदार–अत्यन्त दयालु-दाता–सबको उन्मुक्तरूप में दिव्य परमानन्द का दान देनेवाले महारासरस के रूप में दिखते हैं। श्रीगुरुदेव जी महाराज कहते हैं कि यह सब उनकी दृष्टि का ही

विकार–दोष है, जोकि शुद्ध स्वरूप में वे देख नहीं पाते, अपने भावानुसार ही उनका अनुभव करते हैं।

वे ही किसीको सुकुमाररूप में–अति कोमलरूप में–परम मधुररूप में दिखते हैं। वे ही किसीको परम ऐश्वर्य-माधुर्यरूप में वाम हाथ की कन्नी (छोटी) अँगुली के नख पर विशाल गिरिराज गोवर्धन के भार–बोझ को धारण किये हुए दिखते हैं। वे ही किसीको द्वार के परदार–पहरेदार-भगवान् वामन के रूप में दिखते हैं। ऐसे दिखना उसका भी विचार–भाव है, जो इस रूप में अनुभव करते हैं।

वे ही किसीको मारधाड़–प्रबल, सुभट, वीररूप में असुर सेना, शत्रुसेना का संहार करनेवाले के रूप में दिखते हैं। वे ही किसीको किसीसे मानसाचार–सभ्य, शिष्ट मनुष्य के-से धर्माचरण–शुभ व्यवहार करते हुए द्वारिका–हस्तीनापुर आदि में दिखते हैं। और वे ही किसीको कण्ठ के श्रृंगाररूप में वृन्दावन निकुंज-मन्दिर में प्रिया के कण्ठ में लिपटे हुए सुभग श्रृंगाररस के रूप में सुशोभित दिखते हैं। श्रीगुरुदेव जी महाराज कहते हैं कि जिसका जिस स्वरूप सों जैसा लगाव है, भाव की ढरन है, उसीरूप में वे उसको सुख देते हैं और वह वैसे ही उनका अनुभव करके प्रेमोन्मत्त रहता है। ऐसे रस के अनेक भेद हैं।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं कि यह सब उन श्रीनित्यकुंजविहारी की इच्छा शक्ति–वैष्णवी शक्ति-योगमाया का प्रपंच–जंजाल, फैलाव, पसार है, यह नैमित्य रस है, इसे छोड़ो और इन सबका सार नित्यरस–सुखदायी नित्यविहार रस को भजो–उसका सेवन करो। तभी निज प्रेम-रस को प्राप्तकर प्रेमी–रसिक-अनन्य कहाओगे।

नैमित्य रस से नित्य रस को नहीं प्राप्त कर सकते। नैमित्य रस साधन रस है और नित्य रस सहज सिद्ध रस है। नैमित्य रस से प्रेम रस पुष्ट होता है और अधिकारप्राप्ति की योग्यता प्राप्त होती है। किन्तु नित्य रस तभी प्राप्त होता है, जब उसके निज अंगों का अनुसरण हो तथा उसके निज मूल का आश्रय हो।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं–

साधन सिद्धान्त सब कहत कवि महन्त
भजन एकान्त रस हंस नीर छीर कौ।
निपट नित्य बिहार रस रीति कौ सिंगार
ऐसौ को उदार उपकारी पर पीर कौ॥

सभी रसिक कवि–महान्त–महानुभाव साधन के सिद्धान्त का अर्थात् नैमित्य रस का वर्णन करते हैं और वह साधन सिद्ध–अवस्था में छूट जाता है तथा श्रीस्वामी जी महाराज हंस के समान उस नैमित्य रसरूप नीर–जल से नित्य रसरूप दूध को अलगकर एकान्त रस–एक रस, अनन्य रस, जिसमें एकमात्र नित्य सदा–सर्वदा निज नित्यविहार–रस का ही विहरण है एवं जिसमें श्रृंगार भी विहार की रस रीति–पद्धति का ही है, उसीका भजन–सेवन करते हैं। पर पीर कौ–पराये–दूसरे दीनजनों की पीड़ा–दुःख-दर्द को हरनेवाले अथवा प्रेमी–रसिकजनों की प्रेम-पीड़ा को हरनेवाले श्रीस्वामी जी महाराज को छोड़ और कौन ऐसा उदार–दयालु जग में प्रकट हुआ जिससे यह सुख भी मिल सके?

असवारी असवार की, सार करै थनवार।
पुजारी पूजा करै, श्रीहरिदास के बिहार॥५६८॥

थनवार–सहीस जो घोड़ों की सार–सेवा-सँभाल करने तथा चाल और युद्ध आदि की कला में निपुण करने, घोड़े को सजाने-सँवारने

और सिखाने में लगा रहता है, किन्तु वह उस पर सवारी नहीं कर सकता, सवारी तो स्वामी या सिपाही आदि ही करते हैं। इसी प्रकार पुजारी—पूजा-सेवा करनेवाले तो ठाकुर (प्रभु) की सेवा-पूजा ही में लगे रहते हैं, किन्तु ठाकुर से प्रेममयी सेवा का सुख तो प्रेमी भक्त ही लेते हैं। ऐसे ही नैमित्य रस में ठाकुर-श्रीयुगलवर की सेवाद्वारा प्रेम वर्द्धित करने, परस्पर मिलाकर प्रेम-रस से तुष्ट करने, प्रेम-रसकला में निपुण करने आदि का काम तो सभी रसिक-उपासक करते हैं, किन्तु श्रीहरिदास के बिहार—इनसे अति विलक्षण, अति दूर नित्य, एकरस विहार-रस विलसाने और सदा-सर्वदा उसी रस में उन्मत्त, तल्लीन और तत्पर रखने का परम सुखमय सेवाकार्य तो श्रीस्वामी जी महाराज ही करते हैं।

मिलै न प्रकृति किसोर की, कीनै सिष्टाचार।
बहुत विलक्षन वैस रस, पावैं कहाँ बिहार।।१४७।।

नित्य रस में नित्य किशोर—श्रीनित्यकुंजविहारी की प्रकृति—स्वभाव, रुचि रस—नैमित्य रस में विराजित श्रीयुगल से अति विलक्षण हैं। उनके व्यवहार-विहार शिष्टाचार—शिष्ट-सभ्य प्रेमीजनों के समान हैं और इनके आचरण, इनकी रुचि, स्वभाव, वयस्, यौवन, रूप, रस—सुरति विहार रस उनसे अति दूर और बहुत ही विलक्षण तथा अनुपम हैं उनमें-इनमें आकाश और पाताल, सिन्धु एवं बिन्दु के समान अन्तर है। तब फिर दोनों की प्रकृति कैसे मिल सकती है? वे इस शुद्ध विहार रस को कहाँ से, कैसे प्राप्त कर सकते हैं?

बहुत लड़ाई लाड़िली, सुख दै दुःख निरवार।
श्रीबिहारिनिदासि अलक लड़ी, बड़ौ ममत्व विचार।।१४९।।

नैमित्य रस में अन्य रसिकजनों ने नित्य किशोर लाड़िली के विरह, मान, भ्रमादि वियोगदुःख को दूरकर उनको प्रियतम से मिलाकर, रस विलसाकर बहुत प्रकार से सुख दिया, लाड़ लड़ाया। किन्तु

श्रीबिहारिणिदासि–श्रीललितास्वरूप श्रीस्वामी जी महाराज के यहाँ तो अति ममत्व का ही विचार है और प्रेम का स्वरूप-स्वभाव भी अति ममतासहित एकत्व का होना ही है। उन्होंने तो अलकलड़ी–अति लाड़िली श्रीकुंजविहारिणि लाड़िली को प्रियतम श्रीकुंजविहारी से नित्य निरवधि नित्यविहार रस सुख के द्वारा मिलाकर, विलसाकर बहुत ही विलक्षण नित्य एकरस सुख दिया, लाड़ लड़ाया।

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी कहते हैं–

दूलह नित्य बिहार है, और औतार बरात।
ए विलसैं नित सार सुख, वे विलसैं ज्यौं जात॥३८३॥

नित्यविहार रस दूलह के समान है और अन्य अवतार तथा रस आदि बरात के समान हैं। बरात दूलह की शोभा को, यश को, वैभव को बढ़ाते हैं, उसी प्रकार ये सब अवतार एवं रस आदि नित्यविहाररूप दूलह की शोभा, यश, वैभव को बढ़ानेवाले हैं। किन्तु दूलह तो महल में नित्य सार सुख को विलसता है और जाति-बराती भोजन खाकर भाग जाते हैं। ऐसे ही ए–नित्यविहारी तो नव निकुंज-भवन में नित्य–सदा–सर्वदा एकरस परमसार सुख को विलसते हैं और वे अवतार एवं अन्य रस आदि जाति-बराती के समान विलसकर चले जाते हैं, बिछुड़ जाते हैं, विराम कर जाते हैं, अथवा रसान्तर को प्राप्त हो जाते हैं।

दूलह श्रीहरिदास हैं, सब ही रसिक बरात।
अंग संग निरखत केलि सुख, महा प्रेम रंग रात॥१७१॥

जितनी भी श्रीयुगल–दम्पति की उपासनाएँ हैं, वे सब ही रस की उपासना हैं। किन्तु उनमें बहुत भेद-प्रभेद है। नित्य रस का आस्वादन इनसे अति विलक्षण है। इसी बात को समझाते हुए श्रीआचार्यचरण कहते हैं कि रसिक–अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज दूलह के समान हैं और सब रसिक बरात के समान हैं।

ए तो दम्पति युगलकिशोर के अंग-संग रहकर नित्य-निरन्तर केलि-विहार रस-सुख को देखते—अनुभवास्वादन करते रहते हैं और महाप्रेम रंग में रँगे हुए मत्त रहते हैं। अथवा ए तो महा प्रेम रंग में रँगे हुए दम्पति के अंग-संग रहकर नित्य-निरन्तर केलि-विहार रस-सुख को देखते—आस्वादन करते रहते हैं और उन सब-रसिकजनों का सुख नित्य रस के समान एकरस नहीं है।

जैसे बिंजन लौन बिन, ज्यौं कामिनी बिन कंत।
दूलह बिना बरात ज्यौं, रसिक बिना यौं संत।।१७२।।

जिस प्रकार लवण के बिना अनेक व्यञ्जन—पदार्थ फीके—बेस्वाद होते हैं, जिस प्रकार कामिनी—स्त्री की कंत—पति के बिना सुख-शोभा नहीं होती है तथा दूलह के बिना बरात सूनी होती है, वैसे ही रसिक-अनन्य-नृपति के बिना सब रसिक-संत हैं।

गुरुदेव श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी महाराज कहते हैं-

रोम रोम पै सुरभि के, यौं भक्ति भर्‌यौ संसार।
बिन थन दूध न पाइयै, बिन श्रीहरिदास बिहार॥५२७॥

जैसे गाय के रोम-रोम में दूध व्याप्त है—भरा हुआ है, किन्तु थन के बिना दूध को प्राप्त नहीं कर सकते, इसी प्रकार सारा संसार श्रीहरि—नित्यविहारी के प्रेम-रस भक्ति से भरपूर है, फिर भी रसिक-अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के बिना युगलवर श्रीकुंजविहारी-कुंजविहारिणि के नित्यविहार रस को प्राप्त नहीं कर सकते।

जद्यपि विविध भिखारी अधिकारिन तें दूरि दुरायन॥१४८॥

यद्यपि इस रस के अनेक भिखारी हैं। वे गुण गाते हैं, याचना करते हैं। उनकी तो बात ही कहाँ; किन्तु जो इस प्रेम-रस के अधिकारी हैं, उनसे भी यह रस बहुत दूर छिपा हुआ है। वे भी उचित प्रेम के बिना इस रस को प्राप्त नहीं कर सकते।

लछमीपति ब्रजपति कौं दुर्लभ इनतें कौन बड़ौ अधिकारी॥२८॥

यदि अधिकारी की दृष्टि से देखें कि अधिकारी को प्राप्त होता है, तो श्रीलक्ष्मीपति–भगवान् श्रीनारायण और ब्रजपति–भगवान् श्रीकृष्ण, इनसे बड़ा अधिकारी और कौन होगा? वे भी इस रस को प्राप्त नहीं कर सकते।

जद्यपि राधा कृष्ण बसत ब्रज बिन बिहार बिललात।
बिन श्रीहरिदास बिहारै सेवत दरस परस नहीं तात।
ते क्यौं पावहिं महामाधुरी वन बसि संग न समात॥

यद्यपि व्रज में ही राधा–कृष्ण बसते–वास करते हैं, फिर भी वे नित्यविहार रस को प्राप्त नहीं कर सकते। वे भी विहार के बिना बिलबिलाते हैं–व्याकुल–विकल रहते हैं। फिर जो रसिक–अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के बिना विहार का सेवन करते हैं, नाम–गुण गाते हैं, स्मरण–चिन्तन करते हैं, वे भी उनका दरस–परस–दर्शन–स्पर्श प्राप्त नहीं कर सकते। फिर वे क्यों–किस प्रकार महामाधुरी रस का पान कर सकते हैं, जो वन–वृन्दावन में बसकर भी श्रीस्वामी जी महाराज के संग अथवा उनके जन–रसिक–अनन्यजनों के संग में समाते नहीं, संग करते नहीं, संग से प्रेम करते नहीं। यदि इनका संग करें, संग से प्रेम करें, तो इस महामाधुरी रस के पान करने के अधिकार को प्राप्त कर लेंगे।

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी कहते हैं-

श्रीस्वामी हरिदास बिनु, कहै सुनै जो कोइ।
लहै न नित्य बिहार कौं, कोटि जन्म जो होइ॥१७३॥

श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के बिना कोई विहार रस को कहता–सुनता हुआ करोड़ों जन्म क्यों न बिता दे, फिर भी वह नित्य विहार रस को प्राप्त नहीं कर सकता।

ना पाई ना पाइहै, श्रीस्वामी बिनु केलि।
विपिन बसौ वैराग जुत, ज्यौं लरकाई खेलि॥५६॥

श्रीस्वामी जी महाराज के श्रीचरणों का आश्रय लिये बिना दम्पति श्रीयुगलकिशोर के केलि-विहार रस को न आजतक किसीने प्राप्त किया और न आगे कोई प्राप्त करेगा। श्रीवृन्दावन का वास सबसे–सब धामों, सब साधनों से भी अति श्रेष्ठ है। उस वृन्दावन में वास करते हुए, तीव्र वैराग्यपूर्वक प्रेम–भक्ति का साधन-भजन करते रहने पर भी यह विहार रस नहीं मिलता। यह वैराग्यपूर्वक वास करना और साधन-भजन करना ऐसा है, जैसे बच्चों का घरोंदा बनाना आदि खेल। श्रीस्वामी जी महाराज की कृपा के बिना यह सब निष्फल हैं।

जैसे चन्दा रैन बिन, श्रीस्वामी बिन भाव।
चाहै नित्य बिहार कौं, तौ श्रीहरिदासै गाव॥५०॥

जैसे रात्रि के बिना चन्द्रमा की शोभा नहीं, ऐसे ही श्रीस्वामी जी महाराज के बिना केलि का सरस प्रेम-रस भाव प्राप्त नहीं हो सकता। उन्हींसे विहार रस की प्राप्ति होती है। यदि नित्य विहार-रस को प्राप्त करना चाहते हो तो रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी जी महाराज की अनन्य शरण होकर उनके केलि रसमय गुणों को उमँग-उमँगकर गावो, दुलरावो।

जुगल नाम निसि दिन रटै, सेवै नित्य बिहार।
श्रीहरिदास नाम अंकित नहीं, काटि मुहर टकसार॥२२८॥

युगल नाम–श्रीराधा–कृष्ण, श्रीकुंजविहारी–कुंजविहारिणि नाम का रात-दिन जप करते हैं, रटते रहते हैं और भावनापूर्वक नित्य विहार का सेवन-चिन्तन करते हैं, किन्तु उन साधक-प्रेमीजनों की

जीभ पर श्रीहरिदास नाम अंकित नहीं है—साथ में श्रीहरिदास नाम जप नहीं करते हैं, तो यह सही—टकसाल उपासना नहीं है। जैसे टकसाली—सही मुहर को भी शुद्ध वस्तु बिना काटकर फेंक दी जाती है, ऐसे ही श्रीस्वामी जी महाराज के बिना विहार में किसीकी समायी नहीं है।

श्रीहरिदास नाम सुमिरन करौ, सकल नाम कौ सार।
गौर स्याम फल देइँगे, अपने उर कौ हार॥१८९॥

सभी नामों का सार—तत्त्व श्रीहरिदास नाम है। उसका सदा-सर्वदा नित्य-निरन्तर प्रेमपूर्वक स्मरण-सेवन करो—करते रहो। उस नाम जप का फल गौर-श्याम देवेंगे और उसे अपने उर—हृदय का हार बना लेंगे; अथवा उसे अपने उर का हार—परम प्रिय नित्य विहार रस को देवेंगे।

इति श्री अष्टादश पद व्याख्या समाप्ता॥१८॥

सिद्धान्त के अठारह पदों की टीका समाप्त हुई॥

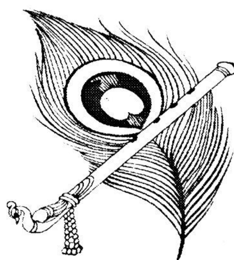
संसार के त्रितापदग्धजनों एवं निज प्रियजनों पर कृपा की वर्षा करते हुए परम दयालु, कृपासिन्धु रसिक-अनन्य नृपति, रसिकाचार्य चक्र चूड़ामणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज ने वेद-शास्त्र, पुराण के सार ज्ञान-वैराग्य-भक्तिमय सिद्धान्तों की सरस, मनोरम, मृदुल भाषा पद में व्याख्या की, रहस्य सिद्धान्त का विस्तार किया, वर्णन किया। उनका अति गूढ़-रहस्यमय अर्थ-भाव देखकर परम कृपास्नेह रससिन्धु, भक्तहृदय श्रीप्रिया-लाल, श्रीस्वामी जी महाराज, रसिक-अनन्य महानुभाव एवं श्रीगुरुदेव के कृपास्नेह-प्रसाद से श्रीस्वामी-रसिक चरणरज सेवक अलबेलीशरण द्वारा यथामति भाषागद्यरूप में यह प्रेम-भक्तिरस-साधिका-टीका पौष कृष्णा अष्टमी, बुधवार सं. २०७० वि. को सम्पन्न हुई।

शास्त्रों के सिद्धान्तों के मूल वचन और रसिक-अनन्य महानुभाव-आचार्यों के निज अनन्य धर्मयुक्त सिद्धान्तमय मूल वचनानुगत इस व्याख्या को करने का—लिखने का यह अल्प प्रयास किया है। भगवद्‌हृदय, भगवत्प्रियजन, रसिकजन इसको देखकर सहृदयता से ग्रहण करते हुए कृपादृष्टि की वर्षा करेंगे।

श्रीस्वामी जब तब कह्यौ, श्रीमुख श्रुति सिद्धान्त।
गूढ़ तत्त्व अति रस भर्‌यौ, भाव सु सरस महान॥१॥
उन कृपा करि प्रेर्‌यौ तबै, फुर्‌यौ तत्त्व रस भाव।
आपहि प्रेर्‌यौ प्रगट्यौ लिख्यौ, बन्यौ सरस बनाव॥२॥
अलबेलीशरण चरन रज, जाचत बार हि बार।
निज उर कृपा निहारिकें, पकरहु बाँह सम्हार॥३॥
सब विधि हीन अनाथ हौं, मन मति दीन मलीन।
सींचहु नेह भरे दृगनि, रसिक राज रस लीन॥४॥

श्रीललित निकुञ्ज
प्रेम गली,
श्री वृन्दावन

श्रीस्वामी-रसिक चरणरज किङ्कर
बाबा अलबेलीशरण
तिथि पौष कृष्णा अष्टमी बुधवार
सं. २०७० वि. तदनुसार
२५ दिसम्बर, सन् २०१३ ई.



श्रीललित प्रकाशन के महनीय ग्रन्थ-रत्न

१. रसोपासना तिलक

रसिक अनन्य मुकुटमणि श्रीस्वामी बिहारिणिदेव जी की गूढ़ साखियों की अद्‌भुत टीका जो श्रीस्वामी हरिदास जी के महामधुर रससार नित्यविहार, अनन्य भक्ति धर्म, रीति-नीति आदि का मर्म खोलने की कुंजी है। रस पिपासु-जिज्ञासु साधकों के लिये अवश्य संग्रहणीय है।

२. रसिकवर श्रीजमुनादास जी की वाणी (अष्टयाम समुच्चय)

नित्यविहार युगल की लाड़-चावमयी सेवा प्राप्ति के इच्छुकजनों के लिए चिन्तामणि सदृश परम सहयोगी अष्टयाम समय-प्रबन्ध।

३. श्रीकेलिमाल

नित्य पाठोपयोगी अन्य साहित्य सहित श्रीस्वामी हरिदास जी का चरित्र एवं सिद्धान्त।

४. श्रीकेलिमाल सौरभ

श्रीकेलिमाल की दो अद्‌भुत टीकाएँ-'आभास उल्था' श्रीस्वामी पीताम्बरदेव जी कृत और 'वस्तुदर्शिनी' श्रीस्वामी राधाशरणदेव जी कृत, टीकाकारों के परिचय सहित।

५. रसिक अनन्य साहित्य सौरभ

श्रीहरिदासी परम्परा के ज्ञात-अज्ञात रसिक अनन्य महानुभावों का परिचय, अब तक अप्रकाशित उनकी वाणी और पदों के संग्रह सहित।

६. सरस चमन

श्रीहरिदासी साहित्य का एक महामधुर और मननीय संकलन, जिसमें श्रीस्वामी सहचरीशरणदेव जी कृत श्रीविहारी जी का नख-शिख ध्यान और सरस मंजावली-श्रीस्वामी राधाप्रसाददेव जी कृत विशद व्रजभाषा गद्य टीका सहित, श्रीशीतलदास जी कृत गुलजार चमन, विहार चमन तथा आनन्द चमन और श्रीस्वामी ललितकिशोरीदेव जी का वचनिका सिद्धान्त तथा उसकी श्रीस्वामी सहचरीशरणदेव जी कृत पद्यमयी टीका संग्रहीत हैं।

७. समाज श्रृंखला

श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज और उनके परम्परा के आचार्योत्सव और होली, झूला आदि के अवसर पर समाज में गाये जानेवाले पद संकलित हैं।

८. महान्त श्रीकिशोरदास जू की बानी

यह वाणी ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, चेतावनी युक्त श्रीहरिदासी उपासना सिद्धान्त एवं निकुंज लीला-नित्यविहार रस का अद्भुत भण्डार है।

९. श्रीललित प्रकास

निजमत सिद्धान्त से अतिरिक्त विशेष श्रीस्वामी हरिदास जी और उनके रसिकाचार्यों का मधुर चरित्र संकलित है।

१०. निजमत सिद्धान्त

इस महाकाव्य ग्रन्थ में रसिक अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज और उनके रसिकाचार्यों का विस्तृत चरित्र और उपासना रहस्य सिद्धान्त तथा श्रीहंस भगवान् से लेकर सम्पूर्ण आचार्यों का चरित्र एवं ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम, धर्म, नीति तथा चेतावनी आदि सिद्धान्त संग्रहीत हैं।

११. श्रीस्वामी हरिदास महिमामृत (श्रीयुगल स्तोत्र सहित)

श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज की अद्भुत महिमा एवं उनके प्रति अनन्य निष्ठा सहित भक्ति का वर्णन तथा श्रीयुगलवर की महिमा, गुणावली एवं स्तुति संकलित हैं।

१२. श्रीअष्टाचार्यन की बानी

रसिक अनन्य शिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास जी और उनके आठों रसिक अनन्य आचार्यों का महामधुर रससार नित्य विहार रस एवं ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम-रस तथा धर्म, नीति-रीति, चेतावनी आदि सिद्धान्तों से परिपूर्ण सत् साहित्य संग्रहीत हैं।

१३. प्रेम-भक्तिरस-साधिका टीका

यह रसिक-अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज के अठारह पदों की ज्ञान, वैराग्य, भक्ति-प्रेमरस से परिपूर्ण सिद्धान्तों से युक्त संग्रहीत सरस व्याख्या है।



श्रीस्वामी हरिदास जी-जीव शिक्षा सिद्धान्त के अष्टादश पद

श्रीवृन्दावन की सर्वोच्च रसोपासना-महामधुर रससार के प्रथम प्रकाशक श्रीललितावतार श्रीस्वामी हरिदास जी महाराज हैं। वे नित्यविहार रस के अनन्य गायक एवं उपासक हैं। उनकी रसिकता इस कोटि की है कि उनके समकालिक तथा परवर्ती रसिक-सन्त महानुभावों ने उन्हें रसिक-अनन्य नृपति की उपाधि से आभूषित किया है-

अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास।
ऐसौ रसिक भयौ नहिं ह्वै है भूमंडल आकास।।

(रसिकवर श्रीव्यास जी)

भक्तमालकार श्री नाभा जी ने भी उनकी रसिक छाप बताई है।

श्रीस्वामी जी महाराज श्रीश्यामा-श्याम की केलि के लाड़-चावमय दुलार-सेवन और अवलोकन में सतत निमग्न रहते थे। उन्हें देह-सुध नहीं रहती थी। इस रसोन्मत्त दशा में निजजनों पर करुणा-स्नेहवश उनके श्रीमुख से जो वाणी प्रकट हुई, जिसे हम श्रीकेलिमाल और जीव शिक्षा सिद्धान्त के अष्टादस पद के नाम से जानते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक जीव शिक्षा सिद्धान्त के अष्टादस पद में भावों और गूढ़ रहस्यमय तथ्यों की इतनी प्रगाढ़ता है कि उसमें से रहस्य रस भाव अर्थ निकालना सभी के लिए सहज सम्भव नहीं है। इसकी भाषा गूढ़ समाधि भाषा है। इसका अर्थ लगाने पर बार-बार यही लगता है कि **अबही और अबही और अबही औरै।** उनके श्रीचरणों का आश्रय लेकर उन्हींकी कृपा से इसमें अवागाहन किया जा सकता है। अठारह पदों की इस प्रेम-भक्तिरस-साधिका टीका में परम आचार्य-महानुभावों एवं गुरुजनों के रस भावों का ही संकलन है।

॥ श्रीहरिदास ॥

वचनामृत सौरभ

1. संसार के भयंकर त्रिविध तापानल से दग्ध प्राणियों पर कृपा करने के लिये श्रीहरि स्वयं सन्त, गुरु, आचार्यरूप से प्रकट होकर भक्ति रस तत्त्व का उपदेश कर उनका कल्याण करते हैं।
2. प्रभु कृपा का मुख्य फल है-प्रेमी रसिक सद्गुरु-सन्त का दर्शन, उपदेश, संग प्राप्त होना और श्रद्धा-विश्वास सहित उनका अनुसरण करना।
3. ऐसे रसिक अनुरागी महानुभाव सन्त अपना लें, मन्त्र दीक्षा देकर अपना स्वरूप प्रदान करें, यह प्रभु की पूर्ण कृपा का स्वरूप है।
4. जिन परम भाग्यशाली पर ऐसी कृपा होती है, उसका हृदय सर्वथा चाह शून्य होकर अपने श्रीहरि की लाड़-चाव सेवा से पूर्ण हो जाता है।
5. जिनको ऐसा स्वरूप प्राप्त हुआ, उनकी बाहरी क्रिया-व्यवहार सब भगवत् धर्म-सिद्धान्तमय होते हैं- माने अपने गुरु-उपदिष्ट परम्परानुसार पाठ, पूजा, सेवा, स्वाध्याय-पठन, सत्संग, दर्शन और भजन-साधन आदि में अति उल्लासपूर्वक प्रेम होना।
6. इनमें भी अपने सेवामय निज स्वरूप को जानकर नाम जप और मानसी सेवा में तत्पर रहना सब साधन-सिद्धान्तों का सार है।
7. स्तोत्र, वाणी पाठ में अनन्त पुण्य फल एवं भक्ति, प्रेम, रस देने की सामर्थ्य है। इनका दृढ़ता से सदा सेवन करना चाहिए।
8. रसिक महानुभावों की वाणियाँ तो परात्पर परेश प्रभु श्रीनित्यविहारी-जुगल के महामधुर रससार नित्य विहार रस से परिपूर्ण हैं। उनका सेवन करने में ऐसा लगता है, मानो उसी दुर्लभ रस में ही अवगाहन हो रहा है।
9. इस प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्हीं दुर्लभ वस्तुओं का संग्रह है। सदा नित्य नियम से इनका सेवनकर अपने को कृतकृत्य करना चाहिये।

— श्रीस्वामी-रसिक-चरणरज किंकर

बाबा अलबेलीशरण